नीलांबर

चर्चा चैतन्य की

प्रथम खण्ड

1999

– 'युगल'

चर्चा : चैतन्य की

प्रथम खण्ड

चर्चा 1 से 11 तक

(जनवरी 1999 में श्री शान्तिभाई जवेरी के निवास स्थान नीलाम्बर,
मुम्बई में पूज्य बाबूजी जुगल किशोरजी 'युगल' से
मुमुक्षु भाईयों द्वारा किया गया शंका-समाधान)

चर्चाकार :

श्रद्धेय बाबू 'युगल' जी, कोटा

सम्पादक :

पण्डित अभयकुमार जैन

जैनदर्शनाचार्य, देवलाली

-: प्रकाशक :-

आचार्य कुन्दकुन्द फाउण्डेशन

कोटा

9414181512

प्रथम संस्करण : 2100 प्रतियाँ
[30 सितम्बर 2024, श्रद्धेय पूज्य बाबूजी 'युगल' जी कोटा के नवम पुण्य स्मरण पर प्रकाशित]

नीलाम्बर तत्त्वचर्चा की सभी 22 चर्चायें सब-टाईटल सहित Babu yugalji You tube चैनल पर एवं इनकी अक्षरश: PDF www. babuyugalji.com वेबसाईट पर उपलब्ध हैं।

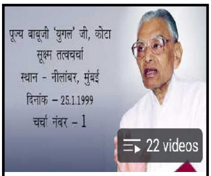

नीलाम्बर तत्त्वचर्चा-1999

मूल्य : स्वाध्याय

चैतन्य का स्मरण प्रतिक्षण ही करो रे !
भव के अनन्त दु:ख को पल में हरो रे !!
अक्षय अनन्त निज सौख्य निधान पाओ,
गाओ अरे ! नित इसी के गीत गाओ।।

– 'युगल'

प्राप्ति स्थान :

- आचार्य कुन्दकुन्द फाउण्डेशन
  85, चैतन्य विहार, आर्य समाज की गली,
  रामपुरा, कोटा (राज.) 324006
  मो. 94141-81512
- पूज्य श्री कानजी स्वामी स्मारक ट्रस्ट
  कहान नगर, लाम रोड, देवलाली, नासिक (महा.)
  मो. 90827-34709
- दिनेश शास्त्री
  60, जिनेशम अपार्टमेन्ट, पूनम विहार,
  जगतपुरा, जयपुर (राज.)
  मो. 99285-17346

मुद्रक : देशना कम्प्यूटर्स
82, पॉल्टी फार्म, आगरा रोड, जयपुर
मो. 9928517346

प्रकाशकीय

अध्यात्मभवन के सुदृढ़ स्तम्भ, दर्शन के दिवाकर 'केवल रवि' जैसी अनुपम काव्यकृति के प्रणेता, साहित्य सम्राट पूज्य बाबू युगलजी कोटा, इस युग के प्रखर चिन्तनशील महामना थे। जीवन पथ प्रदाता पूज्य गुरुदेव के गहन सिद्धान्त 'रत्नराशि' के समान उनके हृदय में सदा ही प्रतिष्ठित रहे हैं, जो उनकी ज्ञान चेतना को निरन्तर अनुप्राणित करते रहते थे, ऐसे स्वच्छ व पैने ज्ञान द्वारा उन्होंने जैन सिद्धान्तों के महासागर में गोते लगाकर उसकी गहराई में छिपे मणि-मुक्ताओं को - जैन जगत के समक्ष प्रवचन, चर्चा, परिचर्चा, काव्य व लेखांश के रूप में उद्‌घाटित कर, सचमुच एक अमूल्य धरोहर विश्व के जैन साहित्य कोष को प्रदान की।

काल की किसी मंगल घड़ी में विशेष अवसरों पर हुई उनकी समरसी, सुन्दर सटीक व संक्षिप्त चर्चायें मुमुक्षुमंच के लिए 'वज्र कवच' समान सिद्ध हुई हैं, वे आज भी उनके मानस में चिरस्थाई होकर मिथ्या-भ्रान्तियों पर सदैव प्रहार करती रहती हैं।

वर्तमान परिवेश में 'नीलांबर' चर्चा धरती से अम्बर तक अध्यात्म की ऊँची उड़ान के साथ देश व विदेश के हर कोने में चर्चित होकर चातक-चित्त पिपासुओं में अपना ध्रुव स्थान बना चुकी है, जिससे उनकी तत्त्वधारा त्वरा से गतिमान होती हुई, अपने लक्ष तक पहुँचने की आतुरता से प्रतीक्षा कर रही है।

सुखद चर्चांश में आगम व अध्यात्म के गंभीर विषयों में छिपे हुए रहस्य एवं आंतरिक भावों को पूज्य बाबूजी ने बड़ी संवेदनशीलता के साथ प्रस्फुटित किया है, अल्प शब्दों में बहु भावों को गुंफित कर लेना तो उनकी शैली का प्रधान गुण है ही, साथ ही समृद्ध शैली में भाषा का लालित्य व प्रवाह स्वतः ही छलक-छलक कर बाहर आ रहा है।

विभिन्न रसों के समावेश पूर्वक सुरम्य चर्चा में विभिन्न विषयों का समावेश बखूबी से हुआ है, श्रद्धा गुण की कार्य प्रणाली, ज्ञान का स्व-पर प्रकाशक स्वभाव, लब्ध-उपयोग, इन्द्रियज्ञान व अतीन्द्रिय ज्ञान का स्वरूप, दोष निवारक मंत्र, जैन श्रावक का व्यवहार पक्ष, आचार संहिता, अनुशासित, मर्यादित, संयमित व संतुलित जीवन शैली आदि-आदि। इस प्रकार चर्चा में न ही

अध्यात्म का अतिरेक और न ही व्यवहार का लोप! बल्कि एक मात्र शुद्धात्मा को केन्द्र में रखकर, बड़ी स्पष्टता, निशंकता, प्रमुदित हृदय एवं जागते विश्वास के साथ चर्चा मुखरित हुई है, सचमुच - अध्यात्म के उत्कर्ष को स्पर्श कर इन चर्चाओं ने 'नीलांबर' को सर्वार्थसिद्धि की प्रतिछाया का ही रूप दे दिया। अहो धन्य है! मुमुक्षुवृन्द और उनके मकरन्द-'युगल'।

महानगरी मुम्बई 'नीलांबर' में स्थित तत्त्वमयी सरल व्यक्तित्व श्री शांतिभाई जवेरी का निवास स्थान क्रांतिकारी पूज्य गुरुदेवश्री एवं पूज्य लालचन्दभाई जैसे निर्मल ज्ञान सम्पन्न महापुरुषों का विश्राम स्थल रहा है, उसी पवित्र प्रांगण में जनवरी 1999 में पूज्य बाबूजी की 22 दिवस तक मनोमुग्धकारी चर्चा की धारा चलती रही, 200-250 श्रोतागण इस शीतल धारा में डूबकर, नई-नई सुखद अनुभूति लेकर जाते थे, मैं स्वयं (पुत्री ब्र. नीलिमा) भी पूज्य बाबूजी के साथ ही थी, तब मैंने प्रत्यक्ष देखा, पूज्य बाबूजी के अंतरमुखी चिन्तन से निकली शुद्ध अन्तस्तत्त्व की मधुरिम वार्ता में पूज्य बाबूजी के प्रज्ञा-चक्षु व मुखमुद्रा की खिलावट, जिसने वहाँ के सारे वातायन में चैतन्य की महक भर डाली, वह दृश्य मेरे स्मृति पटल पर आज भी चल-चित्र बन घूमते रहते हैं, वे मंत्र-मुग्ध से श्रोता, हृदय में चर्चा का रसपरिपाक एवं अर्पणता। सच! एक आश्चर्य ही था।

श्रोता प्रमुख एवं प्रश्नकर्ता आदरणीय शांतिभाई के ज्येष्ठ पुत्र श्री पंकजभाई चर्चा के मधुर रस को तीव्र उत्कंठा व हर्षित मन से भर-भर पीते रहे एवं श्री महेन्द्रभाई सी.ए. बोरीवली ने चर्चाओं में प्रश्न एवं प्रश्न की पुनरावृत्ति द्वारा सदन में उमंग भरी ध्वनि का संचार कर डाला और हाँ! हमारे सौभाग्य से उन्होंने इन चर्चाओं की रिकार्डिंग कर उन्हें जीवंत रखा। इन चर्चाओं को अक्षरशः लिखने एवं वीडीओ में सब-टाईटल कर पी.डी.एफ. के साथ यू-ट्यूब पर उपलब्ध कराने का श्रमसाध्य कार्य मंजुषाजी जैन इन्दौर एवं उनकी पूरी टीम ने बहुत ही लगन, तत्परता एवं समर्पण के साथ सम्पन्न किया, अतः हम उनके अत्यन्त आभारी हैं।

हमारे मुमुक्षु बन्धुओं के अति अनुरोध से 'नीलांबर' में 'चर्चा : चैतन्य की' कृति को आदरणीय विद्वान अभयकुमारजी शास्त्री, देवलाली ने भाषा को

व्यवस्थित कर नया प्रारूप देकर, सुव्यवस्थित संपादन की छाया में पूज्य बाबूजी के अन्तस्तल के निकले भावों को ज्यों का त्यों सुरक्षित रखते हुए अपने पावन भावों द्वारा जैन श्रुत भंडार को समर्पित किया है, इसकी एक विशेषता यह कि चर्चा का संक्षिप्तीकरण, विषय अनुरूप टाइटल के साथ करते हुए, उसमें और अधिक रोचकता एवं आकर्षण पैदा कर दिया, जिससे पाठक उस बिन्दू को पुनः–पुनः सरलता से छू सकेंगे।

कविहृदय भाईसाहब अभयजी ने टोडरमल दिगम्बर जैन सिद्धान्त महा-विद्यालय जयपुर में अपने प्रारंभिक शिक्षा काल से ही पूज्य बाबूजी का पुत्रवत् स्नेह एवं सान्निध्य प्राप्त किया, तभी से वे उनके सूक्ष्म चिंतन व काव्य क्रीड़ा से अत्यधिक प्रभावित रहे, इतना मात्र ही नहीं, उनकी जीवन शैली व तत्त्वज्ञान का बड़े गर्व व गरिमा से अनुकरण भी किया है, इस चर्चा को सुनकर तो वे इतने मुग्ध हो गये कि उन्हें इसके प्रकाशन का एक प्रशस्त विकल्प खड़ा हो गया और स्वतः ही अपने निश्चित कालक्रम में इसका संपूर्ण कार्यभार स्वयं ही लेकर अथक श्रम व मनोयोग पूर्वक इस गुरुतर कार्य को अतिशीघ्रता से सम्पन्न किया। मैं समस्त मुमुक्षु संस्थानों एवं हमारे उज्ज्वल धवल परिवार की ओर से उनको कोटि–कोटि आभार व्यक्त करती हूँ।

सचमुच – लोकोत्तर इन चर्चाओं का ध्रुव स्तूप तो ध्रुव ही है, ध्रुव की धुरी पर ही चर्चाओं का चक्र चलता रहा – यह ध्रुवधाम की ध्रुव चर्चा स्वयं के लिए चर्चित होकर हमारी चर्या का हिस्सा बन जावें – मुझे विश्वास है कि ध्रुवत्व की चर्चा के ये 'अजेय सूत्र' हमारे अभिशापों की घड़ियों में वरदानों के सुन्दर फूल लेकर उदित होंगे।

चैतन्य की चर्चा के चितेरे पू. बाबू युगलजी के नवें स्मृति दिवस पर उनके स्मरणार्थ हमारा समग्र उज्ज्वल धवल परिवार, धवलमना पूज्य बाबूजी के चरणों में यह धवल धरा सा पुष्पहार असीम श्रद्धा के साथ समर्पित कर रहा है, मुक्तिपथ के पथिक इस प्रकृष्ट प्रसाधन को पाकर अपने जीवन को परिष्कृत करें। ऐसी उत्तम भावना के साथ –

– मोक्षाभिलाषी

दिनांक : 30.9.2024 **ब्र. नीलिमा जैन, कोटा**

अहो भाग्य

तीर्थंकरों अरु गणधरों के वचन मिथ्यातम हरें।
गुरु कहान उनके मर्म का रहस्योद्‍घाटन करें।।
'बाबू युगलजी' के वचन हैं तीक्ष्ण चिन्तनमय अहो।
मार्मिक चर्चा पठन कर भव्य आनन्द रस पियो।।

आध्यात्मिक सत्पुरुष पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी ने अपनी स्वानुभवरस झरती वाणी से श्रुत रत्नाकर के तल में छिपे अनेक रत्नों को प्रस्फुटित किया; जिसके निमित्त से अध्यात्म रसिक जगत में एक अपूर्व आध्यात्मिक क्रान्ति सर्जित हो गई है।

पूज्य गुरुदेवश्री की वाणी झेलकर उसे अपने श्रुतज्ञान में आत्मसात् करके अनेक विद्वद्‌जनों ने अपने पैने चिन्तन और रोचक शैली से जन सामान्य तक पहुँचाने में अमूल्य योगदान दिया है; जिसमें माननीय बाबू जुगल किशोरजी 'युगल' कोटा अग्रगण्य हैं।

तत्कालीन मुमुक्षु जगत बाबूजी की वज्र वाणी–विभूषित प्रवचन सुनने हेतु सदैव लालायित रहता था। किसी भी धार्मिक आयोजन में उनकी उपस्थिति ही आयोजन को सार्थक एवं सफल बनाने के लिए पर्याप्त थी।

उनके चिन्तन में स्वानुभूति पोषक विचारों की ही मुख्यता दृष्टिगोचर रहती है। बोझिल कार्यक्रमों और अनावश्यक क्रियाकाण्डों का तीव्र निषेध करते हुए वे सदैव प्रेरणा देते हैं "ज्ञान पर ज्यादा बोझा मत डालो"।

आत्मानुभूति हेतु निकटतम प्रयोजनभूत दृष्टि का विषय, ज्ञान–ज्ञेय सम्बन्ध, श्रद्धा और ज्ञान की प्रक्रिया, पर्याय मात्र का हेयत्व, आत्मार्थी की चिन्तनधारा आदि मार्मिक विषयों की गहरी छनावट ही बाबूजी की पहचान है। मुमुक्षु समाज भी उनके श्रीमुख से इन्हीं विषयों को बारम्बार सुनने लिए चातकवत् पिपासु रहता था।

किसी प्रसंगवश जनवरी 1999 में बाबूजी का मुम्बई में प्रवास हुआ

और वे स्व. शान्तिभाई जवेरी के पेडर रोड स्थित नीलाम्बर सोसायटी में स्थित निवास स्थान में लगभग एक माह तक ठहरे। बाबूजी की उपस्थिति हो और मुमुक्षु समाज उनके चिन्तन का लाभ न ले, यह असंभव जैसा था। अतः कुछ मुमुक्षुओं के आग्रह से शान्तिभाई के निवास पर ही तत्त्वचर्चा का कार्यक्रम सुनिश्चित किया गया।

स्व. शान्तिभाई तो अत्यन्त गहन अध्यात्म रसिक थे ही; उनके ज्येष्ठ पुत्र पंकजभाई एवं आत्मार्थी महेन्द्रभाई (सीए), बोरीवली भी बाबूजी के प्रिय विषयों के विशेष रसिक और चिन्तक मुमुक्षु हैं। इस चर्चा में उन्हीं के द्वारा मुख्यरूप से प्रश्न किये गये हैं। अपने परम सौभाग्य से यह चर्चा महेन्द्र भाई (सीए), बोरीवली द्वारा रिकार्ड भी कर ली गई, जो कुछ वर्षों पूर्व यू-ट्यूब पर भी उपलब्ध हो गई है।

मुझ जैसे अनेक जिज्ञासुओं ने वह चर्चा कई बार सुनी है। यह चर्चा सुनकर मुझे विचार आया कि यदि इसे लिपिबद्ध करके पुस्तकाकार प्रकाशित किया जाए तो अधिकतम लोग और भावी पीढ़ी भी इससे विशेष लाभान्वित होगी।

इस विचार को क्रियान्वित करने हेतु अनेक लोगों से अनुरोध किया कि ऑडियो सुनकर इस चर्चा को शब्दशः लिपिबद्ध करें ताकि उसे सम्पादित करके प्रकाशित किया जा सके। एतदर्थ कुछ लोगों ने प्रयास भी किया, परन्तु मंजूषा बेन इन्दौर एवं उनकी साथियों का प्रयास पूर्ण सफल हुआ और प्रिय चिन्मय (कोटा) के सौजन्य से ही पूरी 22 चर्चाओं की शब्दशः लिपिबद्ध दो पीडीएफ फाइलें मुझे प्राप्त हो गईं।

उक्त फाइलों की Document फाइल भी चिन्मय ने उपलब्ध कराई, जिन्हें सम्पादित करने का कार्य भी प्रारम्भ किया गया। पहले तो सभी चर्चाओं का संकलन प्रकाशित करने का विचार था परन्तु अधिक विलम्ब न हो और यथाशीघ्र यह अमूल्य निधि समाज में शीघ्र पहुँचे इस भावना से अभी मात्र 11 चर्चाओं का संकलन पूर्वार्द्ध के रूप में प्रकाशित

किया जा रहा है। इन चर्चाओं के सम्पादन में अपनाई गई रीति-नीति के सम्बन्ध में निम्न बिन्दु ध्यान देने योग्य हैं –

1. शब्दशः प्रति में 'तो' 'है' इत्यादि अनेक शब्द ( ) कोष्ठक में दिये गये हैं, जिन्हें कोष्ठक के बाहर वाक्य में ही शामिल किया गया है।

2. चर्चा की मूल प्रति में से कोई भी अंश नहीं हटाया गया है। अधिकांश प्रश्नों को भी यथावत् रखा गया है, लेकिन जो उद्गार प्रश्न रूप में नहीं हैं मात्र बहुमान भाव व्यक्त किया गया है, उन्हें हटाया गया है ताकि विषय के प्रवाह में बाधा न पड़े।

3. उन बहुमान भावों के बाद जो बाबूजी के उद्गार हैं उन्हें अलग पैराग्राफ देकर मूल लेख में शामिल किया गया है।

4. प्रकरण के अनुसार बीच-बीच में शीर्षक देकर पाठकों का ध्यान विशेषरूप से आकर्षित किया गया है।

5. वाक्यों को व्यवस्थित रूप देने के लिए कर्ता-कर्म-क्रिया एवं विराम चिन्हों के प्रयोग में यथासंभव पूरी सावधानी रखने का प्रयास किया है, फिर भी यदि प्रमादवश कहीं कोई चूक हो गई हो तो सुधी पाठकों से अनुरोध है कि वे उसे गौण करके भावों को मुख्य करते हुए विषयवस्तु का रसास्वादन करें और अशुद्धियों की ओर हमारा ध्यान आकर्षित अवश्य करें।

यदि आप यह संकलन ऑडियो सुनने के साथ पढ़ें तो मूल विषय-वस्तु में कोई अन्तर मालूम नहीं पड़ेगा लेकिन सम्पादन की विशेषता अवश्य भासित होगी।

यह सुखद संयोग है कि बाबूजी की 9वीं पुण्य तिथि के अवसर पर यह संकलन प्रकाशित हो रहा है। आशा है अध्यात्म रसिक समाज इस प्रयास का भरपूर लाभ लेगा।

8 सितम्बर 2024 **– अभयकुमार जैन, देवलाली**

(भाद्रपद शुक्ला पंचमी, संवत् 2081, दशलक्षण महापर्व)

तत्त्वचर्चा : क्रमांक 1

(25 जनवरी 1999)

इस चर्चा में आत्मा का अनादिकालीन दोष, दोष दूर करने के लिए आवश्यक चिंतन का स्वरूप, इन्द्रिय ज्ञान और अतीन्द्रिय ज्ञान तथा श्रद्धा और ज्ञान के स्वरूप आदि अनेक बिन्दुओं का मार्मिक रहस्योद्‌घाटन किया गया है।

मुमुक्षु :– कुछ प्रश्न हैं बाबूजी! अंतरंग अभिप्राय का दोष जो मिथ्यात्व है वो कैसे टले? मिथ्यादृष्टि के उपयोग की स्थिति क्या है? और साधक होने के बाद उपयोग की स्थिति क्या है? और इन्द्रियज्ञान और अतीन्द्रियज्ञान की क्या स्थिति है? ये चार प्रश्न हैं।

अभिप्राय का दोष

पूज्य बाबूजी :– अंतरंग अभिप्राय में जो अपना शुद्ध चैतन्य है वो मैं हूँ, वही मेरा है और उसको छोड़कर जितना कुछ विकल्प होता है और मानना होता है, जानना होता है, वो सारा का सारा दोष है। जो अन्य के साथ अहम् रूप और अन्य के साथ एकत्वरूप, अन्य को अपना जान लेना – ये नियम से होता है। जब तक अपने चैतन्य में अहम् और अपने चैतन्य में ही दर्शन और ज्ञान का एकत्व न हो तब तक श्रद्धा और ज्ञान की जितनी कुछ भी परिणति होती है, वो सब पर के साथ, परभावों के साथ अथवा चैतन्य से अनमेल जो भी भाव हैं, चाहे वो शुद्धभाव हों, उनके साथ अहम् रूप और एकत्वबुद्धि, ये अभिप्राय का दोष है। उस शुद्धचैतन्य-ज्ञायक के साथ एकत्व होना चाहिये, तो ऐसे ही दोष टलेगा।

दोष दूर करने हेतु विचार

ये जो पदार्थ हैं, उन पदार्थों के सम्बन्ध में पहले विचार करे कि ये जो निकटतम शरीर है, ये भी नहीं मेरे साथ रहता है, तो इससे सम्बन्धित

जो सारा लोकालोक हैं, उनमें से एक भी कभी मेरा नहीं हुआ! मैं सबके पास गया लेकिन किसी से मुझे सहारा नहीं मिला – ऐसा जानकर सारा जगत पराया है, उससे मुझे कुछ लेना नहीं है, मेरा कोई भी सम्बन्ध नहीं है। बस! ये निषेधरूप ज्ञान पहले पक्का हो; फिर जो विधिरूप–अस्तिरूप (positive) जो ज्ञान है, उसमें केवल एक अकेला चैतन्य ही बाकी रहता है, तो वो ज्ञान चैतन्य की ओर ढल जाता है, आ जाता है। इस तरह दोष टलता है।

चैतन्य का स्वरूप जानना चाहिए। एकत्वरूप जाने बिना, उसकी सत्ता के निश्चय के बिना अभिप्राय का दोष नहीं मिटता, पहली बात तो ये है कि उसकी सत्ता विश्व में एक और सबसे अलग–थलग न्यारी है और उसके साथ मैं, 'तो मैं कैसा हूँ' – फिर ये जाने और माने कि अनन्त वैभव सम्पन्न हूँ, तो यहाँ आकर बात पूरी होती है अर्थात् मुझमें कोई कमी नहीं है, कोई आदान–प्रदान की गुंजाइश नहीं है। कभी विनाश की गुंजाइश नहीं है, विनाश कभी होता नहीं है। जन्म नहीं होता है और मरण नहीं होता है। अभी अपने जो सारे गुण हैं, उन पर विचार करना और विचार करके ये निश्चय करे कि निश्चितरूप में मैं एक ऐसी चैतन्य सत्ता हूँ। इस विश्व में एक महान सत्ता बल्कि सर्वोत्कृष्ट सत्ता हूँ, क्योंकि मेरी जैसी सत्ता जगत में दूसरी नहीं है। इस प्रकार यदि ये हृदय से प्रीतिपूर्वक निश्चय करे तो ज्ञान और श्रद्धा उधर ढल जाते हैं और निर्विकल्प शुद्ध अनुभव हो जाता है। इस तरह दोष टलता है।

सारे दोष गिने नहीं जाते। सारे दोष गिनें तो अनन्तकाल बीत जाए। इसलिए सबसे बड़ा दोष ये है कि चैतन्य का जो अदर्शन है वो सबसे बड़ा अपराध है। उसको अशुद्ध मानना ये सबसे बड़ा अपराध है। उसको किसी में मिलाना, मिलाकर अनुभव करना – ये सबसे बड़ा अपराध है। उसको अन्य के साथ जोड़ना ये सबसे बड़ा अपराध है। इस तरह अपराध के अनेकरूप होते हैं। तो उसमें बस इतना सामान्य जानकर केवल चैतन्य

का स्वरूप निश्चित करे। ये जानने वाला, जो स्पष्ट मेरे अनुभव में आ रहा है, मेरे अनुभव में आ रहा है। अन्य का अनुभव तो कर ही लेता है लेकिन मेरे अनुभव में ये जो जानना अनुभव में आ रहा है, बस! यही है चैतन्य, यही है आत्मा, यही है ज्ञायक। ऐसा निश्चय किया तो ये सत्ता का निश्चय हो गया। सत्ता का निश्चय करके फिर जिनवाणी और सद्गुरु के अनुशीलनपूर्वक उसके गुणों का विचार करे! गुणों का विचार करेगा तो निश्चितरूप से अपनी सत्ता की महिमा आयेगी।

गरज होनी चाहिये

सबसे पहली बात तो यह है कि गरज होना चाहिये! गरजी बनकर अगर करता है तो होगा और केवल शुष्क विचार करता है तो कुछ नहीं होगा। उस विचार में सरसता हो, प्रसन्नता हो, उत्साह हो, कोई भय नहीं हो, चिंता नहीं हो। सर्व चिंताओं से मुक्त, सर्व भय से मुक्त होकर, इस तरह उस ज्ञायक के गुणों का और उसकी सत्ता का विचार करता हुआ अंत में अनुभव कर लेता है। निर्विकल्प संवेदन होता है तो ये अभिप्राय का दोष टल गया। अभिप्राय का दोष टलना ये सम्यग्दर्शन, उसके साथ स्वसंवेदन होना ये सम्यग्ज्ञान, उसके साथ चारित्र का जो अंश - स्वरूपाचरण चारित्र होता है, वो चारित्र; तीनों एक साथ पैदा होते हैं।

दोष की जो बात है इसको बहुत लम्बा नहीं करना क्योंकि दोष तो अनादिकाल से हो ही रहे हैं और ये अनन्त बार हुए हैं। अनन्त बार और बदल-बदलकर हुए। कभी शरीर में, कभी कर्म में, कभी राग और द्वेष हुए, कभी पाप और पुण्य और कभी जगत के पदार्थ, इस तरह से निरंतर बदल-बदलकर मिथ्या श्रद्धा हुई, वो ही अभिप्राय का दोष है। उसमें तो ऐसा जानकर कि ये सबके सब झूठे हैं, कल्पना-प्रसूत हैं, भ्रम हैं - ऐसा समझ कर और मेरा ज्ञायक विद्यमान तत्त्व है, विद्यमान सत्ता है और अनन्त वैभव सम्पन्न है, समृद्धिशाली है,उसमें कोई कमी नहीं है, जगत से कुछ लेना नहीं है, जगत को कुछ देना नहीं है। ज्ञान और आत्मा भी

इतने निरपेक्ष हैं। जो ज्ञान जान रहा है वो भी ये स्वीकार करता है। एक समय की ज्ञान की पर्याय भी वज्र की दीवारों जैसी है। उसमें भी उसकी कल्पनाओं तक का प्रवेश नहीं होता क्योंकि कल्पनाओं के जो विषय हैं, वो ज्ञान में कहाँ आते हैं? इसलिए कल्पनायें झूठी हैं।

यह तो निरन्तर चलने वाली प्रक्रिया है

साफ बात है कि चिंतन में सरसता होनी चाहिये। ये जो सोचता है तो ये समय-विशेष के लिए कार्यक्रम बनाकर सोचता है। कार्यक्रम का ये काम नहीं है। **ये टाइम-टेबल (समय-सारिणी) नहीं है। इसमें टाइम-टेबल (समय-सारिणी) नहीं होता है। ये तो बिना विराम (break) के चौबीस घंटे होने वाला काम है। कभी भी जब पुरुषार्थ तीव्र होगा तो अनुभूति हो जाएगी,** वरना ये चिंतन (ज्ञान) से जो ये बात स्थिर हुई है वो तो हमेशा बैठी रहती है। चाहे उपयोग बाहर हो, चाहे उपयोग भीतर चिंतन कर रहा हो। चिंतन नहीं करता है तो भी इसने इसको सर्वोत्कृष्ट सत्ता मान लिया है। मैं विश्व का सर्व महान तत्त्व हूँ क्योंकि मुझे किसी ने आज तक कुछ दिया नहीं, मैंने किसी से कुछ लिया नहीं और अपने अवलंबन से और मैं अपने सामर्थ्य के बल पर आज तक रहा हूँ, मेरी सत्ता रही है। उसको तोड़ने-फोड़ने का मैंने भी कभी प्रयत्न नहीं किया और अन्य ने भी प्रयत्न किए लेकिन उसको आँच नहीं आई - ऐसी मेरी सत्ता है; तो प्रसन्नता होगी ही। जैसे किसी ऋषि का वरदान किसी को मिल जाए कि तू परमाणु बम (atom-bomb) से नहीं मरेगा, तो इस युग को अनादि-अनन्त ऐसा वरदान है तो प्रसन्नता क्यों नहीं होगी?

जैसे लोक में होता है कि यदि कोई एक बार अपने सारे धन का ढेर इकट्ठा करे और उसको देखे तो वहाँ प्रसन्नता बुलानी पड़ती है या ज्योतिषी से पूछना पड़ता है कि अपने आप स्वतः आ जाती है? और वह उसको आत्मा मानता है; इस मिट्टी के ढेर को आत्मा मानता है। चैतन्य

के अतिरिक्त सब मिट्टी है! उसमें अनुपात (ratio) नहीं है कि चैतन्य सर्वाधिक है और दूसरे थोड़े कम हैं। ऐसे थोड़ा कम नहीं कोई; बिल्कुल कुछ नहीं है, थोड़ा भी कुछ नहीं है। सब कुछ सर्वस्व मैं ही हूँ - ऐसा जाने। यदि जानने की तैयारी हो तो ठीक! और यदि सबेरे उठकर एक थोड़ा स्वाध्याय कर लिया हो, थोड़ा चिंतन कर लिया कि ज्ञायक हूँ, ज्ञायक हूँ - ऐसा आगम का वाक्य रट लिया और वो आधा घण्टा, घण्टाभर पूरा कर लिया, उसके बाद और काम में लग गए। वो तो विराम (break) हो गया टाइम-टेबल (समय-सारिणी) हो गया। ये टाइम-टेबल (समय-सारिणी) का काम थोड़ी होता है। सबसे महान पदार्थ जब अपन ने स्वीकार किया तो उसके लिए टाइम-टेबल (समय-सारिणी) होता है क्या ? उसके लिए तो ये होता है कि वह सदा ही इसमें विहार करता है। इसमें सदा ही लीन रहूँ और अमृत के प्याले पीता रहूँ, ये होता है उसमें!

प्रीतिपूर्वक स्वीकार करने पर चैतन्य की महिमा सहज आती है

इसमें भी सबसे बड़ी विशेषता ये है कि एक बार प्रीतिपूर्वक ये बात स्वीकार कर ले, तो उसको चैतन्य की महिमा आ जाती है और वो महिमा निरन्तर पड़ी रहती है और बाहर का व्यवसाय भी चलता रहता है। करता तो ये है ही नहीं, ये तो ये समझ चुका है कि करता तो मैं नहीं हूँ लेकिन जो भी बाहर का व्यवहाररूप व्यवसाय है, वह भी चलता रहता है। तो भी स्वरूप की जो महिमा भीतर बैठी है, वो खिसकती नहीं है। इस तरह कभी चिंतन में भी लीन होता है, तो कभी बाहर के व्यवहार में भी चला जाता है; पर ये चिंतन में लीनता के समय ही होता है। चिंतन भी ऐसा हो कि एकदम अन्तर्लीन हो जाए और ज्ञायक ही ज्ञायक उसमें से स्वर निकले। तो अन्त में वो चिंतन भी विराम लेकर अनुभूति हो जाती है।

मुमुक्षु :- स्वरूप का चिंतन भी विराम ले लेता है?

पूज्य बाबूजी :- हाँ! चिंतन तो विराम लेगा ही सही क्योंकि चिंतन तो ज्ञान का विकल्प है। ज्ञान का विकल्प तो तरल है, चंचल है; और आत्मा की अनुभूति इस तरह से होती नहीं है। स्थिरता में अनुभूति होती है, चंचलता में नहीं होती, क्योंकि जो विचार है वो भी तो चंचल है; लेकिन प्रसन्नभाव रहता है, कोई भय नहीं रहता। चारों ओर भले ही भय के साधन हों, भयानक वस्तुएँ चाहे आसपास पड़ी हों लेकिन चित्त में भय नहीं रहेगा। एकदम निर्भय हो जाएगा, क्योंकि जो मरता ही नहीं है उसको भय क्या है? जिसको कभी चोट ही नहीं लगती है, जिसको कोई छूता ही नहीं है उसको क्या भय? इसप्रकार वह निर्भय होकर प्रसन्नभाव से विचार करता है, क्योंकि वो विचार का विषय नहीं है, वो तो अनुभूति का विषय है अर्थात् वह सेवन करने का, स्वाद लेने का विषय है; वह मात्र विचार की वस्तु नहीं, क्योंकि विचार में वस्तु नहीं आती, पर वस्तु का विचार अवश्य होता है।

विचार और वस्तु

मुमुक्षु :- विचार में वस्तु नहीं आती मगर वस्तु का विचार तो अवश्य होता है?

पूज्य बाबूजी :- वस्तु नहीं आती.....विचार अवश्य होता है। विचार के बिना वस्तु मिलती नहीं है और विचार से वस्तु मिलती नहीं है। विचार होगा ही होगा, आएगा ही आएगा और बीच में व्यवधान बनकर आएगा। ये भीतर से उसे व्यवधान मानता है, बाहर से अनुरागपूर्वक करता है। बाहर से उदास मन से, रोए रोए मन से नहीं करता। चिंतन भी प्रसन्नचित्त से करता है, क्योंकि चिंतन में वो स्वयं है न! चिंतन में यह विचार को थोड़ी देख रहा है। चिंतन में भी वो स्वयं है, विचार का भी लक्ष वो स्वयं ही है। इस तरह महिमा बढ़ते-बढ़ते अन्त में विचार थम जाता है और दूसरे समय में अनुभूति हो जाती है।

बर्फ बनने की प्रक्रिया होती है न, बर्फ बनने की। तो जैसे जब तक पानी है, तब तक उसमें तरंगें होती रहेंगी और उसके बाद उसका बर्फ बनने लगता है तो तरंगें कम होने लगती हैं और जब पूरा बर्फ बन जाता है तब तरंगें बिल्कुल नहीं रहती हैं। तो ऐसे ही विचारों की स्थिति होती है। पहले स्थूलता रहती है, उसके बाद सूक्ष्म होता जाता है और फिर अनुभूति में बदल जाता है, सीधा सघन रसास्वादन होता है, लेकिन वो जो रसास्वादन है उस पर भी उसका लक्ष नहीं है। वो तो पर कोटि में है, पराई कोटि में है, स्व की कोटि में नहीं है। स्व की कोटि में एक मात्र चिन्मात्र ही रहता है!

आनन्द की भी कामना नहीं है

उसको आनन्द हो तो भी वो उसे नहीं चाहता है, उधर झाँकता भी नहीं, लेकिन फिर भी वह आनन्द जानने में आ जाता है – ज्ञान की ताकत ऐसी है,क्योंकि उसका नया काम हुआ है न! तो उसका जो फल है वो अगर जानने में नहीं आवे तो फिर इसको कैसे बोध होगा कि कोई नई चीज हुई है, नया काम हुआ है? शादी हुई है, तो घर में कुछ तो दिखना चाहिए। इसलिए आनन्द का जन्म होता है, लेकिन फिर भी ये उधर लक्ष/उपयोग को घुमाता नहीं है। उपयोग उधर जाता नहीं है। उपयोग अन्दर रहता है, तब तक वो आनन्द रहता है। और उपयोग वहाँ से डिगा, तो वह आनन्द भी कपूर हो जाता है। पूर्ण शान्ति रहती है। जो शान्ति प्रगट हुई है, सुख प्रगट हुआ है, सुख गुण प्रगट हुआ है, उतना तो हमेशा रहता है। लेकिन वो जो आनन्द जिसको अपन सारे गुणों की पर्यायों का निचोड़ कहते हैं, जैसे एक पेय/पीनेवाला पदार्थ होता है, तो हम उस स्वाद में पदार्थों की गिनती नहीं करते हैं और उसको पीते समय मात्र आनन्द को भोगते हैं। उसके पहले विचार जरूर है कि इसमें क्या-क्या चीजें हैं? इस तरह वस्तु की महिमा करता हुआ, उसी में लीन हो जाता है।

विचार में भी सरसता आना चाहिए, शुष्कता नहीं

इस जीव को ज्ञान में सरसता आती ही नहीं है! जैसे कोई वस्तु खाते समय अथवा कोई वस्तु अपनी मनचाही मिली है, तो उसको देखकर जो सरसता ज्ञान में आती है वो सरसता आत्मा का विचार करते समय नहीं आती। शुष्क हो जाता है शुष्क। जैसे मेरे यहाँ कुछ नहीं हुआ है, दूसरे के घर में है, इस प्रकार शुष्क हो जाता है। विचार एकदम लबालब सरस होना चाहिए, उसका स्वयं का ही ज्ञान विचार करता है, परन्तु वह विचार शुष्क होता है!

मुमुक्षु :– मिथ्यादृष्टि का जो आत्मसन्मुख विचार है, क्या वह विचार भी प्रसन्नता से लबालब होता है?

पूज्य बाबूजी :– अत्यन्त प्रसन्न! भले ही उस समय उपद्रव हो लेकिन वो हिलता नहीं है उपद्रव में अर्थात उस विचार के समय भी नहीं हिलता है और जब अनुभूति होगी उस समय तो मानो वह सिद्ध ही हो गया है, उस समय उपद्रव हों, सातवें नरक में हो तो भी इसको प्रसन्नभाव होता है, क्योंकि जो उपयोग है वो प्रसन्नभाव में चल रहा है तो उन उपद्रवों का अनुभव कौन करेगा?

जब देह से ही अत्यन्त भिन्नत्व है – ऐसा निश्चय कर लिया और उपयोग को देह से सर्वथा मोड़ लिया तो जब स्वरूप का वेदन हो रहा है तो उपद्रवों का वेदन कैसे हो?

मुमुक्षु :– ये जो विचार उत्पन्न होते हैं तो उन विचारों में भी प्रसन्नता आती है?

पूज्य बाबूजी :– हाँ! प्रसन्नता आती है। ये तो करने वाला देखे कि वह कैसी प्रसन्नता है? कोई विलक्षण है या नहीं? अलग जाति की है या नहीं? प्रसन्नता का मतलब ये हँसने लगे, उसको प्रसन्नता नहीं कहते हैं, भीतर से प्रफुल्लित हो, उसको प्रसन्नता कहते हैं। ज्ञायक याद आते ही

अत्यन्त प्रिय वस्तु की तरह भीतर से चित्त प्रफुल्लित हो जाए – उसे प्रसन्नता कहते हैं।

मिथ्यादृष्टि और साधक के उपयोग का स्वरूप

मिथ्यादृष्टि का उपयोग भी यदि वास्तव में देखा जाए तो जिन कल्पनाओं में वो लीन है, केवल उन कल्पनाओं से वो मिथ्या है, क्योंकि कल्पना के जो विषय हैं वो उपयोग में नहीं आते। वो ज्ञान में नहीं आते, ज्ञान में प्रवेश नहीं करते। अगर यह इतना सा विचार कर ले तो भी उपयोग निर्मल हो जाए, क्योंकि वो कल्पनाओं को छोड़ देगा, क्योंकि उससे क्या लाभ है? मैं जितनी कल्पनाओं में उद्यम करता हूँ, वे सभी व्यर्थ जा रही हैं। और एक भी पदार्थ अन्दर भीतर नहीं आ रहा, उसकी स्थिति तो यही है कि परपदार्थों की अथवा परभावों की कल्पनाओं में निरन्तर लीन रहता है, यदि इधर धर्म के क्षेत्र में आवे तो नव तत्त्वों की कल्पनाओं में लीन हो जाता है, मोक्ष की कल्पना में लीन हो जाता है। संसार की कल्पना छोड़कर मोक्ष की कल्पना में लीन हो जाता है कि 'एक दिन अवश्य मोक्ष हो जाएगा', 'अब तो आत्मा का विचार आने लगा', 'अब तो आत्मा का विचार कर रहा हूँ, तो अवश्य मोक्ष हो जाएगा।' परन्तु अभी तो तुझे मोक्ष प्रिय है, मुक्त प्रिय नहीं है, मिथ्यादृष्टि के उपयोग की एक स्थिति तो ऐसी होती है।

दूसरी स्थिति – जिसको अनुभूति होने वाली है उसके पहले उपयोग की स्थिति जो चिंतनरूप होती है, वह मनवाले प्राणी को ही होती है अर्थात् मिथ्यादृष्टि के उपयोग की जो बात कही वह तो सैनी पंचेन्द्रिय को होती है और पहली स्थिति एकेन्द्रिय से लेकर असैनी पंचेन्द्रिय तक चलती है।

और जो अपन ने अनुभूति तक की बात की, वह केवल मनवाले प्राणी को होती है और पहली वाली स्थिति सबको होती है। एकेन्द्रिय के पास केवल शरीर है, तो उसका उपयोग बस शरीर में ही झूलता रहता

है और उसे कष्ट का अनुभव होता है; तेज गर्मी हो तो कष्ट का अनुभव होता है, तेज सर्दी हो तो कष्ट का अनुभव होता है। उसे यह सब होता है!

एक-एक पत्ते-पत्ते को, पत्ते में भी कई जीव हैं क्योंकि शरीर से सम्बन्ध है न! इसलिए उसे अनिष्ट-इष्ट सबका अनुभव होता है। यद्यपि मन नहीं है, पर ज्ञान तो है न। इतना सा ज्ञान भी है तो भी दु:ख का वेदन कितना करता है, मिथ्यादृष्टि के उपयोग की स्थिति निरन्तर चंचल, कल्पनाओं से भरी हुई रहती है।

साधक होने के बाद उपयोग और परिणति की स्थिति

साधक होने पर पहली स्थिति तो वो अन्तर्लीनता, आत्मानुभूति और स्वसंवेदन होता है और उसके बाद उपयोग बाहर चला जाता है...जैसे, सबसे पहले तो उपशम सम्यग्दर्शन होता है तो उसकी स्थिति केवल मध्यम अन्तर्मुहूर्त है, अन्तर्मुहूर्त समाप्त होते ही बाहर के पदार्थों की ओर उपयोग चला जाता है। बाहर के पदार्थों की ओर उपयोग जाने पर भी सम्यग्दर्शन अभी छूटा नहीं है अर्थात् औपशमिक से क्षयोपशम हो गया। इसलिये बाहर के पदार्थों की ओर उपयोग जाने पर भी उनमें एकत्व कभी नहीं होता और आत्मा की जो प्रतिष्ठा/गौरव-गरिमा है, उसमें कभी कमी नहीं आती, क्योंकि उसने तो उसको सदा के लिए हृदय में बिठा लिया है न! उसको ज्ञान में बैठ गया है न! अब तो अनुभूति हो गई तो सदा के लिए एक उपास्य देव की तरह सर्वोत्कृष्ट स्थान पर वो बैठ गया है। इसलिए उपयोग बाह्य पदार्थों में भी जाता है, क्योंकि कमजोरी है। परन्तु चित्त में यह रहता है कि 'मैं यहाँ से न हटूँ'।

उपयोग बाहर चला जाता है अर्थात् बाहर के पदार्थों को लक्ष कर लेता है, चला नहीं जाता है, रहता तो वह आत्मा में ही है लेकिन लक्ष बाहर के पदार्थों की ओर चला जाता है। बाहर के पदार्थ विषय बनने लगते हैं। वो भी पराये हैं, मैं नहीं हूँ; और भीतर जो बैठा है चिन्मात्र तत्त्व, वो मैं हूँ - ये बात कभी भी भूलता नहीं। ये तो उपयोग

की बात है। सम्यग्दर्शन में तो निरंतर चिन्मात्र, चिन्मात्र, चिन्मात्र है न! इस प्रकार सारा परिणमन होता है। अब इसका उपयोग अन्तर्मुख और बहिर्मुख – ये दो प्रकार का होता है। तो दोबारा अनुभूति हो जाए, तीसरी बार हो जाए चौथी बार हो जाए। इसका कोई नियम नहीं है।

इन्द्रियज्ञान और अतीन्द्रिय ज्ञान का स्वरूप

अब प्रश्न यह है कि इन्द्रियज्ञान और अतीन्द्रियज्ञान की क्या स्थिति है? पहली बात तो यह है कि इन्द्रियज्ञान असल में होता ही नहीं, निगोद से लगाकर और सिद्धों तक जितना भी ज्ञान है, वह सारा ही ज्ञान अतीन्द्रिय है, क्योंकि ज्ञान को इन्द्रिय होती ही नहीं है। इसलिए पहली बात तो यह है कि इन्द्रियज्ञान होता ही नहीं है। अब हम इन्द्रियज्ञान उन संयोगों की ओर से मानें, पाँच इन्द्रिय और मन का जो संयोग होता है; तो इधर तो ये संयोग होता है और उधर वो ज्ञान व्यापार करता है, परन्तु यह कमजोरी का लक्षण है। जैसे स्पर्शन है, रसना है – ये इन्द्रियाँ हैं न; तो इन इन्द्रियों के होने पर ज्ञान का व्यापार उसमें होता है। जैसे शरीर को लक्ष बनाकर स्पर्शन इन्द्रिय का हल्का, भारी, ठंडा, गरम, रूखा, चिकना, कड़ा, नरम – इन विषयों में 8 प्रकार का व्यापार हुआ करता है और जैसे-जैसे ज्ञान आगे बढ़ता है तो विषय बढ़ते जाते हैं और उनमें व्यापार भी होता है, क्योंकि वो इन्द्रियाँ हों तब ही वो ज्ञान होता है, लेकिन इन्द्रियों से नहीं होता; क्योंकि इन्द्रियाँ सर्वथा जड़ हैं, इसलिए उनसे बिल्कुल ज्ञान नहीं होता। लेकिन 'इन्द्रियज्ञान' नाम इसलिए दिया, क्योंकि इन्द्रियाँ जब होती हैं तो वो ज्ञान प्रवर्तमान हो सकता है। होता है ये नियम नहीं, हो सकता है। अभी अपने पास पाँच इन्द्रियाँ और मन है, लेकिन एक-एक की प्रवृत्ति होती है। तो ज्ञान इनके अधीन कहाँ रहा? अर्थात् सारा ही ज्ञान एकसाथ ही होना चाहिए, लेकिन ज्ञान इनके अधीन बिल्कुल नहीं हैं, क्योंकि इन्द्रियाँ उसमें निमित्त होती हैं इसलिए इन्द्रियज्ञान से वो बात अच्छी तरह से समझ में आ जाती है। अतः ज्ञान

इन्द्रियज्ञान नहीं होता, अतीन्द्रिय ही होता है। निगोदिया जीव एक इन्द्रिय है – यह अलग बात है, परन्तु ऐसा माने तो वह सब झूठ है, क्योंकि ऐसा होता नहीं है।

इन्द्रियज्ञान की स्थिति तो ये है कि वो सदा केवल अपने विषय में ही व्यवसाय किया करता है, उसको ज्ञायक का पता नहीं है।

सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि के इन्द्रियज्ञान का स्वरूप

आत्मानुभूति या सम्यग्दर्शन हो जाए, फिर भी इन्द्रियज्ञान तो प्रवर्तित होता है, लेकिन वो इन्द्रियज्ञान पराई कोटि में रहता है, परत्व की कोटि में रहता है, इसलिए वो सारा का सारा जो है, वह व्यवहार है। है सम्यक्, क्योंकि परत्व की कोटि में रख दिया है, इसलिए है तो सम्यक्! लेकिन वह व्यवहार स्वसंवेदनरूप नहीं हैं। जो स्वसंवेदन है, वही निश्चय सम्यग्ज्ञान है। यह सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि के इन्द्रियज्ञान की वास्तविक स्थिति है।

मिथ्यादृष्टि को तो सदा इन्द्रियज्ञान ही प्रवर्तित होता है। जैसे अभव्य है, चाहे कुछ भी हो, 11 अंग 9 पूर्व तक पढ़े तो भी वह सारा इन्द्रियज्ञान ही है। यद्यपि वह आत्मा का स्वरूप यथार्थ जानता है। जिनवाणी के अनुसार जैसा है वैसा जानता है। लेकिन सत्यरूप में जो स्नेह और प्रेम होना चाहिए उसको वह भीतर से नहीं आता, भीतर से पैदा नहीं होता, जैसे ये दूसरा ही हो ऐसा मानता है, इसलिए उसका सारा ज्ञान, शुष्क ज्ञान है, वो भी इन्द्रियज्ञान है। अतीन्द्रियज्ञान तो आत्मानुभूति में होता है। ज्ञानी की कोटि में दोनों आ जाते हैं – एक अतीन्द्रियज्ञान हो गया अनुभूति के समय और ज्ञानी जिस समय अनुभूति में नहीं होता और उसका उपयोग बाहर की ओर होता है, तो उस समय अन्य पदार्थ विषय बनते हैं; यह इन्द्रियज्ञान है, लेकिन ये सभी पर हैं – ऐसा वह एक बार निश्चय कर चुका है, इसलिए 'ये पर हैं' – ऐसा कहना नहीं पड़ता या विचार नहीं करना पड़ता, लेकिन पर को पर जानता हुआ प्रवर्तित होता

है और उस समय भी एक मात्र शुद्ध चैतन्य की महिमा पड़ी रहती है – ये अतीन्द्रिय ज्ञान का स्वरूप हुआ। इसप्रकार अज्ञानी को केवल एक इन्द्रिय ज्ञान ही होता है और ज्ञानी को दोनों होते हैं।

दृष्टि और ज्ञान में मुख्य-गौण व्यवस्था : पर्याय में ज्ञायकाकार रचना होती है

प्रश्न :– त्रिकाली ध्रुव भगवान आत्मा कूटस्थ है और वेदन पर्याय को होता है। तो एक है दृष्टि का विषय और एक है ज्ञान का विषय, उसमें मुख्य-गौण कैसे होता है?

पूज्य बाबूजी :– दृष्टि और ज्ञान का विषय (अनुभव के काल में) एक ही है। ऐसा नहीं है कि एक दृष्टि का विषय है और एक ज्ञान का विषय है। वह कूटस्थ भी है और निष्क्रिय भी है, लेकिन सम्पूर्ण भी है। यह सब कथन तो नास्तिरूप (negative) हैं कि सब कूटस्थ है, निष्क्रिय है। वह सम्पूर्ण है, समृद्धिशाली है, महान है, उससे बड़ा जगत में कोई नहीं है – ऐसा ज्ञानी जानता है, वेदन पर्याय में होता है, ये बात सही है।

पर्याय में जो वेदन होता है, तो ज्ञायक तो ज्ञायक की जगह रहता है – ध्रुव, ज्यों का त्यों अपने स्वरूप में रहता है और ठीक वैसा का वैसा ज्ञायकाकार पर्याय में होता है। पर्याय में रचना होती है न! जैसे अपन परपदार्थ के सम्बन्ध में कहते हैं – ऐसे। वैसा का वैसा जैसे पहले विचारकोटि में निश्चय किया था और निर्णय किया था कि निश्चितरूप में चैतन्य का स्वरूप यही है और ऐसा ही है, क्योंकि वो तो इतनी धमाल में से निकालना पड़ता है। कितनी धमाल में फँसा है वो! शरीर है, कर्म हैं और सारे संयोग हैं, परिवार है, भाव कर्म हैं, राग-द्वेष हैं, पाप-पुण्य हैं तो कितना कुछ है, अर्थात् एक ओर सारा लोकालोक और एक ओर वह आत्मा इनके बीच में फँसा है। तो उसको उनमें से निकालना ये ज्ञान का काम है। ज्ञान सबको उनके लक्षणों से देखता है

कि राग का जो लक्षण है वो तो पुद्गल द्रव्य का है पुद्गल द्रव्य जैसा है, क्योंकि राग आत्मा का है ही नहीं, वास्तव में नहीं है। ज्ञान का भी नहीं है और ज्ञान में आता भी नहीं है। सदा ज्ञान के बाहर ही रहता है, इसलिए वो आत्मा का हिस्सा नहीं है। आत्मा का हिस्सा नहीं है – ऐसा अजीव है, अचेतन है। हमेशा ही पुद्गल के साथ आता है और पुद्गल के साथ चला जाता है, इसलिए भी आत्मा का नहीं है; अतः वह सारा का सारा पौद्गलिक है।

इसप्रकार उनमें से उस आत्मसत्ता को ज्ञान लक्षण से पहचानकर 'ये मैं हूँ' – **ऐसा निश्चय करे तो अनुभूति होती है और जो कूटस्थ और निष्क्रिय है, वह पर्याय में ज्ञायकाकार दिखाई देता है, वो भी ठीक वैसा का वैसा ही तो दिखाई देगा न! जैसा ज्ञायक का स्वरूप है ध्रुव, निश्चल, अकम्प, निष्क्रिय, तो ठीक पर्याय में भी तो वैसा का वैसा ही आकार बनता है और पर्याय जो वेदन करती है उस वेदन का स्वरूप यह है कि 'मैं ही ज्ञायक हूँ'।** 'मैं ही निष्क्रिय, कूटस्थ, अचल, निष्कम्प, सम्पूर्ण ज्ञायक हूँ' – ऐसा पर्याय का स्वर होता है। 'मैं वेदन करती हूँ' – ऐसा नहीं होता। श्रद्धा भी वहीं लग गई और ये ज्ञान जो है वो वेदन में तल्लीन हो गया।

स्वयंवर होता है न, पहले स्वयंवर की प्रथा थी। जैसे सीता के स्वयंवर में अनेक राजकुमार आए और राम-लक्ष्मण भी आए। अपने यहाँ कथा है कि नहीं मुझे नहीं मालूम। लेकिन है ये कथा..जैनेतर कथा समझना; पर अपने को तो बड़े काम की है, तो उसमें सब आए; अब सीता तो सबको देखती है। वरमाला हाथ में है और सबको देखती है। लेकिन जो प्रतिज्ञा पूरी करेगा अर्थात् जो सबसे ज्यादा शूरवीर होगा, उसी के गले में जयमाला-वरमाला जाएगी। राम उस प्रतिज्ञा को पूरी कर देते हैं तो सीता उनके गले में वरमाला डाल देती है।

इसप्रकार पहले तो ज्ञान ने देखा और ये जो एक पर समर्पित होकर

वरमाला ज्ञायक के गले में गई, उसका नाम सम्यग्दर्शन है और ज्ञान सबको जानता है। अब इसको स्व-रूप में जाना। ज्यों ही वरमाला डाली यह सम्यग्दर्शन और साथ में सम्यग्ज्ञान। आचार्य कुन्दकुन्द ने तो ज्ञान को पहले लिया और मोक्षमार्ग में पहले सम्यग्दर्शन और दूसरा नंबर सम्यग्ज्ञान का है। तो वह वरमाला बस एक के गले में डली और बाकी सब उस समय अदृश्य हो गये - यह सम्यग्दर्शन है। उसके साथ ही जो आनन्द का वेदन है, वो ज्ञान है।

इस प्रकार अनुभव पर्याय में होता है उसका अर्थ यही है कि वह पर्यायरूप होकर भी पर्याय की अनुभूति में ध्रुव के रूप में आता है - आपके प्रश्न का यह पूरा उत्तर हुआ। अनुभव तो वास्तव में पर्याय ही है, लेकिन पर्याय होने पर भी ये जो पर्याय है, उसको सारी की सारी पर्याय से भी विरक्ति हो गई है। वह पर्याय स्वयं से भी विरक्त है, स्वयं जो अनुभव कर रही है, वह तो उस अनुभव से भी विरक्त है और एक मात्र उस ध्रुव में ही केन्द्रित है। इसलिए वो ध्रुव के रूप में अनुभव में आता है। यद्यपि है पर्याय; पर पर्याय होने पर भी ध्रुव के रूप में अनुभव में आता है। हमें तो जरूरत ही ये थी कि दृष्टि में से पर्याय तो सब बिल्कुल निकल चुकी, ध्रुव में एकरूप हुई और उसमें वो ध्रुव ही पसर गया।

अब इसमें मुख्य-गौण कैसे होता है? मुख्य-गौण कुछ नहीं होता। वो मुख्य ही है। ध्रुव का, शुद्धात्मा का अनुभव हुआ, बस वो मुख्य है और बाकी वे सारे के सारे गौण हैं। सम्यग्दर्शन के विषय में तो गौण भी नहीं होता। सम्यग्दर्शन के विषय में तो केवल एक मुख्य ही होता है। ज्ञान के विषय में मुख्य-गौण होता है। तो जो और पदार्थ भी हैं, हैं बस इतना; लेकिन मेरे नहीं हैं, मैं नहीं हूँ। और हैं, परन्तु वो मैं नहीं हूँ और मेरे नहीं हैं, क्योंकि वे सारे के सारे इससे अनमेल और बेमेल हैं। उससे एक का भी मिलान नहीं है, इसलिए पर्याय भी बाहर निकल गई कि मेरा

भी इससे मिलान नहीं होता। वो भी निकल गई और उसने ध्रुव को अपने में पसार दिया।

ज्ञान का स्वरूप

प्रश्न :- ज्ञान का स्वरूप कैसा है?

पूज्य बाबूजी :- ज्ञान का काम तो जानना है, ये तो जिनवाणी की प्रसिद्ध बात है, लेकिन जानने में ज्ञान हमेशा ही हेय-उपादेयपूर्वक जानता है, श्रद्धा और ज्ञान के विषय में यह हमेशा याद रखने की बात है। श्रद्धा का जो व्यवसाय होता है चाहे वह मिथ्यादर्शन हो, तो भी वह हमेशा उपायदेयरूप होता है अर्थात् वो हर पदार्थ को, हर भाव को, हर तत्त्व को, नव तत्त्वों में से हर तत्त्व को वह आत्मा ही मानती है। जो ज्ञान है, वो भी जानता आत्मा को ही है लेकिन उसमें ये भी है कि पर पदार्थ भी है। तो वो पर में ही दो भेद किया करता है। सच्चाई ये है कि जो मिथ्याज्ञान है वो तो सारा का सारा, पर में ही आसक्त है और ये श्रद्धा भी पर में आसक्त है। वो पर को आत्मा मानती है और ज्ञान भी पर को ही आत्मा मानता है। आत्मा मानता है अथवा उसके अनेकरूप हो सकते हैं, जैसे कि कारण मानता है, साधन मानता है, कुछ भी मानता है अर्थात् जो कुछ भी मानता है लेकिन मानता आत्मा ही है। उससे एकत्व करता है। लेकिन ज्ञान में 'मैं और मेरा' - ऐसा भेद हो जाता है और श्रद्धा में केवल एक भेद होता है 'मैं'; उसमें मेरा नहीं होता।

मुमुक्षु :- मैं और मेरे में क्या अन्तर है?

पूज्य बाबूजी :- मैं और मेरे में कुछ ज्यादा फरक नहीं है। पर अनुभूति में 'मेरा है' - ऐसा नहीं होता क्योंकि उसमें बीच में अन्तराल (space) है।

ज्ञान का हेय-उपादेय जानने का स्वरूप हमेशा में ख्याल रखना चाहिए। मिथ्याज्ञान भी हेय-उपादेयपूर्वक प्रवर्तित होता है। जो मिथ्याश्रद्धा है वो भी उपादेयतापूर्वक ही प्रवर्तित होती है। उसमें हेय कहा जाता है

लेकिन हेय नाम का कोई पहलू श्रद्धा में नहीं है, श्रद्धा में परिणति नहीं होती है, वह जब सम्यक् होती है तो केवल एक जो ध्रुव है, वही श्रद्धा और ज्ञान दोनों का विषय होता है और दोनों की ध्रुव में अहम् रूप प्रवृत्ति होती है।

श्रद्धा भी बोलती है 'मैं' और ज्ञान भी बोलता है 'मैं'; 'मेरा' नहीं बोलता। 'मेरे' में चिंतन हो जाता है अर्थात् विकल्प हो जाता है। जैसे कि 'मेरा' कर्ता–कर्म अधिकार में आता है और जो 'मैं' है, वो जीवाजीव अधिकार में आता है।

मैं कर्ता और ये मेरे कर्म, मैं क्रोधी और ये क्रोध मेरा कर्म। जब ज्ञान हो जाता है तो मैं ज्ञायक और ये ज्ञान मेरा कर्म, लेकिन ये भी विकल्प है। ऐसा जानता हुआ कि क्रोधादिक मेरे कर्म नहीं हैं, मेरा कर्म तो केवल ज्ञान है – यहाँ पूर्ण विराम नहीं है – ऐसा जानता हुआ जब तक निर्विकल्प न हो तब तक तब तक सम्यग्दर्शन नहीं होता, श्रद्धान नहीं होता है। इसलिए टीका में भी ऐसा आता है उनको जानता हुआ आत्मा को जानता है, अपनी आत्मा को जानता है।

अगर केवल ये कह दिया जाए कि वो तो राग को केवल जानता है, क्रोध को केवल जानता है, तो क्रोध का जानना तो दु:खदायक है। उसमें क्या सुख है? क्रोध को जानना; वो तो एक बार जान लिया कि क्रोध मेरा नहीं है, मेरे में नहीं है, मेरे से बाहर है, मेरा हिस्सा नहीं है, मेरा अवयव नहीं है और मेरा कोई तत्त्व इसमें नहीं है; अचेतन है, अजीव है, पुद्गल है – ऐसा जान लिया। ऐसा जानता हुआ आत्मा को जानता है। तो आत्मा को जाना, तभी क्रोधादि से वास्तविक परत्व होगा कि 'यह मैं ज्ञायक हूँ और मुझसे अनमेल जितने भाव हैं, वो सबके सब पराए हैं।'

निष्क्रिय ध्रुव का कर्म ज्ञान पर्याय भी नहीं है

यदि अपन ऐसा जान लें कि 'ज्ञान मेरा कर्म है', तो यहाँ भी पर्यायदृष्टि समाप्त नहीं हुई न! 'ज्ञान मेरा कर्म है' अर्थात् ये जानना

मेरा कर्म है, तो वह अपरिणामी कहाँ हाथ आएगा ? इसने तो अकर्ता और अपरिणामी में कर्म (पर्याय) मान लिया, जबकि उसमें तो कर्म है ही नहीं, वो तो निष्कर्म है और अपरिणामी है, उसको तो पर्याय में घसीट लाये। तो यहाँ तक भी यह अपराध क्षम्य नहीं है।

मुमुक्षु :- ज्ञान आत्मा को जानता है उतना भेद भी अक्षम्य अपराध है ?

पूज्य बाबूजी :- हाँ! क्योंकि यहाँ तक आता है न कि 'ये जो क्रोधादिक हैं - ये मेरे कर्म नहीं हैं और मैं तो मात्र इनका जानने वाला हूँ'। क्रोध वो मेरे में नहीं, मेरे में आता नहीं। **लेकिन क्रोध का जैसा स्वरूप है, वैसा स्वरूप मेरे ज्ञान में आता है और मैं उसको जानता हूँ। उस स्वरूप को मैं जानता हूँ - यहाँ तक भी पर्यायदृष्टि है। जानना तो पर्याय का काम है न, तो उसने अपरिणामी को परिणामी मान लिया और निष्कर्म को कर्मवाला मान लिया।**

मैं तो जानता हूँ, जानना मेरा कर्म है - ऐसा माना। असल में जो ध्रुव है उसका कर्म तो जानना भी नहीं है। केवलज्ञान भी उसका कर्म नहीं है और कोई भी जाननेवाली पर्याय उसका कर्म नहीं है। अन्यथा वह कूटस्थ और निष्क्रिय कहाँ हुआ ? वो तो चल दिया। (परिणामी हो गया) और वह (अज्ञानी) वही रुक गया। इतना जरूर है कि वह यहाँ तक आएगा अवश्य, लेकिन यहाँ से आगे बढ़ जाएगा और निर्विकल्प हो जाएगा तब असली जानना होगा।

जानने की पर्याय भी निकल गई, तब असली जानना हुआ और वह 'मैं जानता हूँ' वहाँ तक जरूर आयेगा। वहाँ तक आएगा, अवश्य आएगा, क्योंकि स्वरूप ही नहीं जानेगा तो फिर क्या करेगा ? उनको पराया नहीं जानेगा, अन्य नहीं जानेगा, मेरे नहीं हैं - ऐसा नहीं जानेगा, तो फिर अपने तक आएगा कैसे ? पर से एकत्व बना रहेगा। इसलिए जानेगा जरूर लेकिन आगे बढ़ जाएगा और अपना काम कर लेगा।

मुमुक्षु :– जानेगा जरूर, पर 'मैं ये नहीं' इतना भी जानकर आगे चला जाएगा?

पूज्य बाबूजी :– 'मैं ये नहीं हूँ' – तो भी अभी ज्ञान तो वहीं है। क्रोध को जान रहा है। आत्मा कहाँ जानने में आया? इसलिए ऐसा ध्यान करवाते हैं न! तो उसमें फँसना नहीं चाहिए, कि आने तो दो इन क्रोध वगैरह को! आने तो दो। ठीक है!' अरे! आने क्या दो? वो तो आयेंगे तो आते ही होंगे। उसमें आने कौन देगा? तो 'आने दो इनको, तुम तो केवल देखते रहो'। तो देखते रहें माने उस बदबू को लेते रहें? क्रोध–मान–माया–लोभ, राग–द्वेष जो थे....ये (आत्मा से) बंध गए हैं। तत्त्व साथ नहीं हो तो आनन्द तो आ रहा है – ऐसी कल्पना में जीव फँस जाते हैं।

ऐसा आनन्द तो उनको भी आ जाता है जो प्राणायाम या समाधि करते हैं, जो नाड़ी योग करते हैं। योग में सिर्फ नाड़ियों की प्रक्रिया होती है। इंगला, पिंगला, सुषुम्ना और इडा – ये चार प्रकार की नाड़ियाँ पीछे मेरुदंड में रहती हैं। और जो इनकी साधना करता है, वह जड़ की साधना करता है। जो कुंडलिनी है, वह कुंडलिनी सुषुमना नाड़ी के सहारे–सहारे कंठ में पहुँच जाती है और उसके कंठ में एक रस बनता है। चूँकि वो रस सबसे न्यारे प्रकार का होता है, अत: वह उसको ब्रह्मरस कहता है, ब्रह्मानन्द कहता है। बस! परन्तु वह सारा, समूल जड़ है। वह वहाँ चला गया।

अपने यहाँ भी ऐसा होता है कि जब योगी शुक्लध्यान में पहुँचता है, तो उसका जो श्वासोच्छ्वास है वो यहाँ से बन्द हो जाता है और यहाँ से आने लगता है, लेकिन वह मुनिराज की शुक्लध्यान की दशा है। जब बहुत निष्कम्प होता है न, तब शरीर की ये जो क्रियायें हैं, वे स्वत: अपने–आप होती हैं और यहाँ तो सीधी इनकी अकम्प, निष्कम्प साधना ही होती है, क्योंकि जो कर्म के आवागमन के निमित्त हैं, वे योग और उपयोग दोनों ही स्थिर हो जाते हैं।

❖❖❖

तत्त्वचर्चा : क्रमांक 2

(26 जनवरी 1999)

इस चर्चा में आत्मा की स्वीकृति, ज्ञान का स्वरूप, महिमा और ज्ञेयाकार रचना, अर्हन्तों को जानने की प्रक्रिया, विकार से अत्यन्त उदासीनता आदि अनेक बिन्दुओं का मार्मिक स्पष्टीकरण किया गया है।

मुमुक्षु :– आत्मा का स्वीकार करने से सम्यग्दर्शन हो जाता है क्या ?

पूज्य बाबूजी :– समयसार गाथा 356 में आता है 'ज्ञायक नथी ज्यम पर तणो' आप ऐसा बोलते जरूर हैं कि ज्ञायक पर का नहीं है, लेकिन स्वीकार नहीं किया। स्वीकार कर लिया हो तो सम्यग्दर्शन हो गया होता।

स्वीकार करने का इससे अधिक सरल अर्थ और क्या होगा कि 'मैं ज्ञायक हूँ' ऐसा मानना, अहं करना, स्वीकार करने का बस इतना ही अर्थ है मंजूर करना, स्वीकार करना, मानना, अहं करना, वेदन करना – ये सब एकार्थवाची हैं।

मुमुक्षु :– ऐसा करके ज्ञायक को स्वीकार करने का अर्थ तद्रूप होना होता है क्या ?

पूज्य बाबूजी :– इतने गहरे क्यों जाते हो आप उसमें ? स्वीकार माने स्वीकार! अर्थात् परिणमन! और वाणी से स्वीकार करना या विकल्प से करना, इसको स्वीकार नहीं कहते। परिणमन करना, उसको स्वीकार कहते हैं।

मुमुक्षु :– तद्रूप होना,वही स्वीकार करना है ?

पूज्य बाबूजी :– हाँ! आपका तो 'स्वीकार' शब्द था न! यह बात इस पंचम काल में एक बार भी ज्ञान के विकल्प में स्वीकार कर ले तो

भी बहुत है कि 'मैं तो नितान्त शुद्ध परिशुद्ध एकदम चिन्मात्र हूँ।' बस! इतना स्वीकार करे, हृदय से स्वीकार करे तो फिर बात आगे बढ़ती है और फिर परिणमन में आती है। इसलिए स्वीकार के व्यवहार और निश्चय दोनों रूप होते हैं। यह स्वीकार किया कि मेरी चैतन्य सत्ता इस विश्व में अद्‌भुत है – यह व्यवहार हुआ फिर उसके सम्बन्ध में जो ज्ञान का चिंतन चलता है बस! वो चिंतन चलते-चलते रुक जाता है और अनुभूति हो जाती है। यह अनुभूति ही निश्चय स्वीकार है।

मुमुक्षु :- और कल आपने बोला न कि जैसे खाने के लिए रसलीन होकर जो करना होता है, ऐसे ही इस ज्ञायक का विचार रसलीन होकर करना चाहिए। तो मेरा ख्याल क्या था कि रसलीन होकर यानि कि वो मैं सुख और आनन्द से लबालब भरा हूँ और मेरे में तीन काल, तीन लोक जानने की शक्ति है – मैं ऐसा वैभवशाली हूँ – ऐसा विचार करना यही रस लीनता है क्या?

पूज्य बाबूजी :- जैसे स्वस्थ आदमी को भूख लगती है और वो खाने के प्रति जैसा छटपटाता है, आतुर होता है – ऐसी आतुरता, उसका नाम रसलीनता है।

मुमुक्षु :- गरज, गरज होनी चाहिए?

पूज्य बाबूजी :- पहले उसके रस को जाने, तब तो लीनता होगी कि उसमें कोई रस है – ऐसा जाने तो! और उसमें विलक्षण माधुर्य है, विलक्षण मधुरता है – ऐसे सारे शब्द जिनवाणी में शुद्धात्मा के लिए आए हैं। मधुर है, मधुर स्वाद वाला है क्योंकि इसको तो मीठा पसन्द है न! तो आचार्य भी वो शब्द लाते हैं कि तुझे मीठा चाहिए, तो है उसमें मीठापन; लेकिन अलग प्रकार का, सारे जगत से कुछ अलग प्रकार का, विलक्षण प्रकार का है। विलक्षणता में तो मन जाता है। विलक्षण प्रकार का और इससे भी सुन्दर और कभी क्षीण नहीं होने वाला....ये संसार

सुख तो क्षीण हो जाता है, चला जाता है, नष्ट हो जाता है और दुःख देकर जाता है, इसके स्थान पर किसी और को रखकर जाता है। संसार का जो रस है, काल्पनिक सुख है, वो तो दुःख को रखकर जाता है और वो आत्मिक सुख जो उत्पन्न होता है, वो तो अनन्त हो जाता है। वो अपना स्थान किसी को देता ही नहीं।

ज्ञान अपूर्व और विलक्षण स्वाद को जान लेता है

मुमुक्षु :– समयसार की 92वीं गाथा में शीत–उष्ण का स्वाद तो पुद्गल का है, लेकिन उसको जाननेवाला ज्ञान मेरा है – ऐसा कहा है। साथ में राग–द्वेष तो पुद्गल के हैं और उसको जाननेवाला ज्ञान मेरा है – ऐसा कहा है।

पूज्य बाबूजी :– हाँ! ऐसा आया है!

मुमुक्षु :– तो ज्ञान में 'मेरा' और 'मैं' – ऐसा द्विपना है क्या?

पूज्य बाबूजी :– नहीं! द्विपना नहीं है। असल में अधिकार का नाम कर्ता–कर्म है, इसीलिए वो भाषा लानी पड़ी कि मेरा कर्म ज्ञान है। शीत और उष्ण को जानना, ये जानना मेरा कर्म है। शीत और उष्ण होना – ये मेरा कर्म नहीं है। मैं कर्ता और ज्ञान मेरा कर्म, बस! – ऐसा पहले तो विकल्प में हुआ बस! फिर विकल्प तोड़कर मैं ज्ञायक, वो भूमिका उसके बाद आती है।

इसका ज्ञान इतना सूक्ष्म होता है कि वो जानता है कि ये तो विकल्प हैं और अभी जो अनूठा स्वाद उत्पन्न होनेवाला है, वो हुआ नहीं है, इसलिए अभी विकल्प दशा ही है।

जिस समय अपूर्व और विलक्षण स्वाद पैदा होता है, उस समय ज्ञान जान लेता है कि अब विकल्प नहीं, अब तो स्वाद आ गया है।

उस स्वाद को तू ही जानेगा, तू ही चखेगा। किसी और से पूछने की जरूरत नहीं है कि मेरे को स्वाद आया या नहीं आया? मैं आज ऐसे

ध्यान में बैठा, मुझे आनन्द तो आया लेकिन आनन्द आया कि नहीं ? तू ये किससे पूछता है ? मैं ये खा रहा हूँ, तो मुझे ये स्वाद आ रहा है, तो आ रहा है कि नहीं आ रहा है ? – ये पास में बैठे वाले से पूछता है; तो उसको स्वाद नहीं आया। जो किसी से पूछता है उसको स्वाद आया ही नहीं, क्योंकि वो अत्यन्त अपूर्व और विलक्षण है न ! इसीलिए स्वयं जान लेता है कि ऐसा स्वाद आज तक पहले कभी आया नहीं – ऐसा जान लेता है, तो ज्ञान कितना सूक्ष्म हुआ कि सूक्ष्मातिसूक्ष्म विकल्प हों, तब भी ये जान लेता है कि अभी वो स्वाद नहीं आया।

मुमुक्षु :– हालाँकि पहले अनादि से कभी स्वाद नहीं लिया होने पर भी वो ज्ञान जान लेता है।

पूज्य बाबूजी :– तब ही तो जानता है कि जिनका स्वाद लिया उनसे ये विलक्षण है। पहले ले लिया होता तब तो पुनः स्मरण होता, लेकिन पहले लिया नहीं। इसलिए वहाँ पर मिलान समानान्तर हो जाता है न ! Comparison (तुलना) हो जाता है वहाँ पर कि उससे ये विचित्र प्रकार का,कोई विलक्षण प्रकार का है। अपूर्व है कुछ ! ऐसा स्वाद पहले कभी आया ही नहीं। इसका नाम अनुभव है।

जैसे लौकिक में ही लें कि यहाँ अपन रोटी–सब्जी और जो भी व्यंजन खाते हैं और देवों के अमृत झरता है, तो वो इतना तो अन्तर जानते हैं न कि ऐसा तो हमने मनुष्य जीवन में खाया ही नहीं। ऐसा स्वाद कभी आया ही नहीं। देव इतना जानते हैं कि नहीं जानते, महास्वादिष्ट होता है वो अमृत जो झरता है; लेकिन है पुद्गल। और ये जो अमृत है – ये चैतन्य है।

ज्ञान का स्वरूप

मुमुक्षु :– प्रश्न है कि ज्ञेय से ज्ञान होता नहीं और ज्ञेय का ज्ञान होता नहीं – इस सम्बन्ध का निषेध है। तो ज्ञान, शक्ति से कैसा है ? अर्थात् ज्ञान का स्वरूप क्या है ?

पूज्य बाबूजी :– ज्ञान का स्वरूप जानने का ही है। सच्चाई तो ये है कि उसमें स्व ही जानने में है कि ज्ञान का ये स्वरूप है। सदा ही, हमेशा ही अज्ञानी को भी और ज्ञानी को भी, सबको ही स्व ही जानने में आता है। लेकिन अज्ञानी जानता नहीं कि स्व कौन है, तो वो इन्कार करता है और ज्ञानी को एक बार जो उसको अनुभव हुआ, रसास्वादन हुआ, तो वो जानता है कि ये मेरा स्वाद है। तो ज्ञानी–अज्ञानी दोनों को ज्ञान ही जानने में आता है। लेकिन अज्ञानी ये मानता है कि मैं किसी अन्य को जान रहा हूँ, पर को जान रहा हूँ क्योंकि ज्ञान में ज्ञेय नहीं आते, प्रश्न में यही लिखा है न!

ज्ञेय ज्ञान में नहीं आते और जानने का काम तो हो रहा है तो वो कार्य कहाँ हो रहा है? ज्ञान में ही हो रहा है। ज्ञान में हो रहा है और जानने का कार्य हो रहा है, तो ज्ञान का कर्म कौन है? जानने में कौन आ रहा है? क्योंकि वहाँ कोई दूसरा तो आने वाला नहीं है। इसलिए स्वयं ही जानने वाला और स्वयं ही ज्ञेय है। इस तरह ये ज्ञान की शक्ति का स्वरूप है, यही वास्तविक स्वरूप है।

फिर इसके बाद, पर को जानना – ये बात आती है, अवश्य आती है; उसका नाम व्यवहार है क्योंकि जब इसका नाम वास्तविक है, निश्चय है, तो शेष जो दूसरी विधियाँ हैं वे सब अपने आप ही व्यवहार में चली जायेंगी। जब तक अभी ये स्व को नहीं जानता, तब तक तो इसको ज्ञेय और ज्ञान का भेद ही नहीं मालूम।

अभी तो इसे भेदविज्ञान ही नहीं हुआ और भेदविज्ञान जब स्वानुभूति रूप परिणमन करता है, तब ये जानता है कि ये मेरी चैतन्य सत्ता है। अब इससे विलक्षण जितने हैं वो सब ज्ञेय हैं, लेकिन वे मेरे में आते नहीं हैं। **जानता जरूर हूँ, लेकिन अपनी विधि से जानता हूँ, अर्थात् ठीक वैसे के वैसे आकार यहाँ अपनी शक्ति से बनाता हूँ। ये ज्ञान शक्ति का काम है। यहाँ शक्ति माने गुण नहीं है बल्कि ज्ञान पर्याय है।**

ज्ञान अपने में बनने वाली ज्ञेय जैसी रचना को जानता है

तो ये ज्ञान की शक्ति है कि वो उन ज्ञेयों जैसी रचना अपने आप स्वरस से स्व-सामर्थ्य से करती है और वही ज्ञान के जानने में आता है। न ज्ञान कहीं जाता है और न ज्ञान किसी को अपने अन्दर बुलाता है। ये तो हर पदार्थ की स्थिति है। ये तो वस्तु व्यवस्था ही है न कि आत्मा और आत्मा जितना ज्ञान है और ज्ञान की सीमा ऐसी है कि जिसके भीतर किसी का प्रवेश नहीं है - एक बात तो ये हुई कि यहाँ से किसी को बाहर जाना नहीं और (ज्ञान में किसी को आना नहीं) किन्तु जानना जरूर होता है, तो फिर वो कहाँ हुआ? कि यहीं हुआ। 'तो किसका हुआ?' - बस! अब प्रश्न ये है कि किसका हुआ? कि जो वहाँ है उसी का जानना हुआ और किसको जानेगा?

इस प्रकार ज्ञेय के जैसे आकार होते हैं, आकार माने द्रव्य, गुण और पर्याय लेना। आकार माने लम्बे चौड़े गोल आदि आकार नहीं लेना। द्रव्य-गुण-पर्याय जैसा कुछ ये उस ज्ञान को जानना है। **जैसा ज्ञेय है, ठीक वैसा का वैसा स्वरूप ज्ञान में आता है तो ऐसा लगता है कि जैसे वो ही ज्ञान में आ गया हो!** ये तो अज्ञानी का काम है और ज्ञानी जानता है कि मेरी सीमा को तोड़कर कभी कोई आने वाला है नहीं है। इसलिए ये तो मैं ही हूँ, ज्ञान ही हूँ। तो ऐसा करके वो और प्रसन्न होता है। 'मैं ही हूँ' - ऐसा करता हुआ वो वेदन में चला जाता है और जो अज्ञानी है वो जो दोनों की सादृश्यता (resemblance) होती है न!.... जैसे शक्ल मिलती हो। इधर तो ज्ञान ने जो उसके स्वरूप को बनाया, स्वरूप को जाना, तो एक तो इधर ज्ञान की वो पर्याय और उधर वो ज्ञेय है। ये दोनों ऐसे मिलते हैं कि जैसे दोनों में अन्तर कुछ नहीं हो।

मुमुक्षु :- माने ज्ञान के आकार बनाने की तकनीक (technology) ये है कि सामने जो ज्ञेय है उस ही प्रकार के आकार ज्ञान खुद ही अपने आप से बनाता है?

पूज्य बाबूजी :– हाँ ठीक उस प्रकार का! ठीक माने जरा भी एक प्रतिशत भी फरक नहीं है। फरक माने आगे–पीछे कुछ नहीं। बिल्कुल वैसा का वैसा। **वैसा का वैसा ज्ञान जान रहा है और उधर ज्ञेय पड़ा है। तो दोनों की शक्ल ऐसी मिलती–जुलती है कि अज्ञानी भ्रम में पड़ जाता है और अज्ञानी जानता है कि ये मेरे भीतर ही आ गए हैं।**

....दर्पण में ठीक जैसा है वैसा का वैसा, उतना का उतना और वैसा का वैसा दिखाई देता है, तो कभी अपन ही भ्रम में पड़ जाते हैं कि दर्पण के पास रखी हुई जो वस्तु है, वो उधर रखते ही दो हो गई।

एक लाख के नोट रखे, तो दो लाख हो गए और दर्पण को हटाते ही एक लाख रह गए। तब समझ में आता है कि वो वास्तव में भीतर गए ही नहीं थे और वो दर्पण का स्वरूप ही था और वो दर्पण का ही आकार था, वो दर्पण की ही पर्याय थी; मेरा उसमें कुछ नहीं है।

मुमुक्षु :– ये क्या कहा कि दर्पण का ही आकार था और दर्पण की ही पर्याय थी। जैसे दर्पण में जो अग्नि का आकार है वो दर्पण की ही पर्याय है – ये कैसे? माने ये कुछ समझ में नहीं आया?

पूज्य बाबूजी :– दर्पण की ही पर्याय इसीलिए है कि हम उसे देखें तो उसमें गर्मी नहीं है। उसमें अग्नि के जो और और धर्म होते हैं, जैसे कि जलाने का, वो उसमें नहीं हैं। दर्पण में हाथ लगाओ तो गरम नहीं लगता है। तो स्पष्ट हो गया कि ये दर्पण ही है सारा। वरना दर्पण के स्वामी को कितनी तकलीफ हो जाएगी कि अग्नि अगर दर्पण के भीतर चली जाए तो वो दर्पण टूट जाएगा।

टूटे बिना तो अग्नि दर्पण में आ ही नहीं सकती। ज्ञान में अगर कोई आना चाहे तो सबसे पहले तो ज्ञान की सीमा टूटे। आत्मा की सीमा टूटे तो आत्मा का नाश हो, तब ऐसा हो, वरना नहीं हो सकता, यहाँ तो सीमा ऐसी है न कि हर एक का अपना–अपना अधिकार–क्षेत्र (jurisdic-

tion) है, एकदम सीमाबद्ध है, मोहरबन्द (sealed) सीमा है, सील्ड (sealed) – जिसमें किसी का अतिक्रमण और पदार्पण नहीं हो सकता।

बस! तो वो जानने का जो आकार का सुमेल है न! तो वो आकार के सुमेल से अज्ञानी तो भ्रम में पड़ता है और उसको वो पदार्थ ही मान लेता है। अपने को भ्रम हो जाता है कि नहीं ?

जैसे एक बालक को भ्रम होता है न कि जैसे वो चल रहा है और आगे-आगे उसकी परछाईं चल रही है, सूर्य की। तो वो कहता है पापा ये देखो मेरे आगे-आगे कौन भाग रहा है ? अब उसको ये नहीं मालूम कि ये परछाईं मेरी ही है। इसी तरह वो स्वयं सारा का सारा ज्ञान ही है। ज्ञान का ही चित्रण है, ज्ञान की ही परछाईं है – यूँ समझ लें; लेकिन अज्ञानी उसको ज्ञेय मानता है और ज्ञानी को ये भेदविज्ञान प्रचण्ड हुआ है तो वो जानता है कि यहाँ आने वाला है कौन ? कोई आ भी तो नहीं सकता यहाँ, इसलिए मैं ही हूँ। मैं ही हूँ तो एकदम हर्षित होता है। अज्ञानी को विषाद होता है, दु:ख होता है।

जानना, ज्ञेयाकार और प्रतिभास

मुमुक्षु :- माने भगवान के दर्शन का जो राग कर्म उदय में आया और उस ही भाँति ज्ञान में ज्ञान से ज्ञान का आकार बन गया....।

पूज्य बाबूजी :- हाँ! वो आकार ज्ञान का कर्म हो गया। ज्ञान का जो आकार है, उसको प्रतिभास कहते हैं। ज्ञान में जो ज्ञेय जैसा आकार बनता है, उसको कहते हैं प्रतिभास; विकल्प, ज्ञान का विकल्प। वो प्रतिभास ठीक वैसा ही होता है और हर समय होता है। ज्ञान कभी खाली नहीं रहता। या तो स्वयं उसमें स्व-आकार, अपना आकार अर्थात् ज्ञायकाकार जानने में आएगा; या फिर पर-पदार्थ का आकार जानने में आएगा। लेकिन पर-पदार्थ का आकार

पर के पास ही रहेगा। यहाँ तो वो सारा का सारा सिर्फ जानन भावरूप है।

पदार्थ जो जड़ है वो तो अपने द्रव्य-पर्याय को लेकर अपने स्थान पर है। यहाँ जो जानना हो रहा है उसके द्रव्य-पर्याय का, ये सब ज्ञानरूप है। ये सब ज्ञान का बना हुआ है।

मुमुक्षु :- माने ये ज्ञान ही material (सामग्री) है?

पूज्य बाबूजी :- हाँ! ये सभी ज्ञान के पकवान हैं, इसीलिए वो आनन्दित होता है। और अज्ञानी को जो भ्रम होता है तो उसमें तुरन्त चिन्तित होता है कि इस तरह तो मेरे अन्दर कोई भी आ सकता है, कोई भी मुझे खा सकता है, कोई भी परेशान कर सकता है, तकलीफ दे सकता है। बस इसी भ्रम में अज्ञानी निरन्तर तकलीफ में रहता है; और बात इतनी छोटी सी है कि कोई कभी आने वाला है ही नहीं। मेरा ज्ञान तो कभी गर्म नहीं होने वाला, कभी काला-पीला नहीं होने वाला है, कभी मीठा-खट्टा नहीं होने वाला है। कुछ नहीं होने वाला है - इस तरह ज्ञानी निश्चिन्त होता है।

ज्ञान ही जानने में आ रहा है वो यहाँ तक आया, किन्तु यहाँ तक भी विकल्प ही है। ये स्व के सम्बन्ध में होने वाला विकल्प है। पर इस विकल्प से क्या साध्य है कि ज्ञान ही जानने में आ रहा है या यह सचमुच मैं ही हूँ! ये जो अनेक आकार हैं, इन आकारों को गौण करके और अन्त में एक का अनुभव करता है बस! ज्ञान का यह अखण्ड प्रतिभास है।

और ये मैं ही हूँ। इस तरह 'मैं' कहते ही वो ज्ञायक पर चला जाता है क्योंकि प्रारम्भ से यही लक्ष बनाया था कि मुझे ज्ञायक पर जाना है, वरना वो यहाँ अटक जाएगा तो वह फिर से पर्यायदृष्टि में अटक गया।

मैं अपने को जान रहा हूँ – यह भी भेद बुद्धि है

मुमुक्षु :– स्वरूपलक्षी विकल्प में भी पर्यायदृष्टि हो जाती है?

पूज्य बाबूजी :– पर्यायदृष्टि में अटक गया न! 'मेरे द्वारा मैं ही जानने में आ रहा हूँ' या 'मैं ही अपने को जान रहा हूँ', ये तो विकल्प है न! विकल्प में अटक गया और आगे नहीं बढ़ा, तो इसका अर्थ ये है कि इसका लक्ष ठीक नहीं था। इसने केवल पढ़कर–सुनकर और ये याद कर लिया है। उसको रहस्य मालूम नहीं है।

मुमुक्षु :– 'मेरे द्वारा मैं ही जानने में आ रहा हूँ', वहाँ भी भेद है?

पूज्य बाबूजी :– भेद है न, पूरा भेद है। 'मेरे द्वारा मैं ही जानने में आ रहा हूँ' – यहाँ भी पूरा भेद है, एकदम अभेद कहाँ हुआ? एकदम तल्लीनता कहाँ हुई? अनुभूति में तल्लीनता होती है लेकिन वहाँ भेद में विकल्प की तरंग ही होती है।

मुमुक्षु :– स्वरूपलक्षी विकल्प में भी पर्यायदृष्टि होती है वो जरा और स्पष्ट करें... ?

पूज्य बाबूजी :– हो गई न पर्यायदृष्टि, वो यहाँ रुक गया कि 'मेरे द्वारा मैं ही जानने में आता हूँ' या 'मेरी पर्याय ही जानने में आती है'। तो हो गया न! यहाँ रुक गया वो। इसका अर्थ ये हुआ कि इसने पहले ज्ञायक का निश्चय ही सही नहीं किया था।

मुमुक्षु :– आहाहा! पहले निश्चय करना चाहिए।

पूज्य बाबूजी :– ये केवल जो कोई सुनी–सुनाई बात है वो उसके विकल्पों में चल रही है। तो यहाँ तक भी अगर रुक जाता है तो वह वास्तव में, विकल्पमूढ़ है, अज्ञानी मिथ्यादृष्टि है।

मुमुक्षु :– तो क्या जैसे 'राग को जान सकता हूँ' उसी भाँति 'मैं मेरे को, अपने आपको जान रहा हूँ' – इन दोनों में कोई फर्क नहीं है?

पूज्य बाबूजी :- कोई फर्क नहीं है, कोई फर्क नहीं है। दोनों ही पर्याय दृष्टिवाले हैं। इसलिए जैसे कोई प्रायोग्यलब्धि तक जाकर और वापस लौट जाता है, करण में प्रवेश नहीं करता, ऐसे ही ये लौट जाएगा।

ध्येय तक पहुँचने की प्रक्रिया

इसलिए लक्ष तो पहले बनाना पड़ेगा। ध्येय का तो पहले निर्णय करना पड़ेगा। पहले निर्णय करके फिर ये विकल्प का बीच का रास्ता है। मुमुक्षु तो इसको पार करता जा रहा है। इसमें तबीयत कहाँ है उसकी ? इसमें उसकी भीतर से तबीयत नहीं लग रही है, विचार तो कर रहा है लेकिन प्रसन्नता है क्योंकि लक्ष ज्ञायक का है और वो अभी मिलनेवाला है - इसकी प्रसन्नता है; इसलिए अनुराग भी है। यह भी आत्मा के प्रति अनुरागात्मक विकल्प हैं न! आत्मा के प्रति अनुराग है - ऐसा विकल्प।

मुमुक्षु :- आत्मा के प्रति अनुराग है - ऐसा विकल्प ?

पूज्य बाबूजी :- अनुरागरूप विकल्प - ऐसा। है यह ज्ञान का विकल्प।

मुमुक्षु :- वीतराग के प्रति भी राग से कोई बात बनने वाली नहीं है।

पूज्य बाबूजी :- हाँ! नहीं बनने वाली है। इसलिए वो 'जानना' आया उसमें (प्रवचनसार की) 80वीं गाथा में। 80वीं गाथा में 'जानना' आया है। अरिहंत को जो द्रव्य-गुण-पर्याय से जानता है - जानने की बात है। 'भक्ति करता है' - वो नहीं आया। भक्ति तो साथ चलती है वो अलग बात है।

अर्हन्तों को जानने की प्रक्रिया

मुमुक्षु :- ये एक जानना और भक्ति वाली बात बाबूजी बताइए कि इसमें क्या है ? हम तो भक्ति कर रहे हैं...भगवान की।

पूज्य बाबूजी :- नहीं ! भक्ति कर रहे हैं लेकिन ज्ञान के बिना भक्ति कहाँ से होगी ? ज्ञान के बिना स्वरूप जाना ही नहीं गया तो भक्ति कहाँ से होगी ? **इसलिए ज्ञान में पहले स्वरूप जाने और जब ये जाने कि अरिहन्त परमात्मा की महिमा ऐसी है कि लोक में एकमात्र वे ही मोक्षमार्ग के विधाता हैं और कोई नहीं है, तो ज्ञान के साथ तुरन्त भक्ति पैदा होती है; लेकिन भक्ति का क्षेत्र न्यारा है। वो जो भक्ति है वो मुक्ति की ओर ले जाने वाली नहीं। मुक्ति की ओर तो ये ज्ञान जाएगा। ज्ञान मुक्ति की ओर अपने उपादान से जायेगा।**

इस प्रकार मुमुक्षु द्रव्य–गुण–पर्याय को जानकर और फिर आत्मा से मिलाता है। आत्मा से मिलाता है तो उसमें ये देखता है कि जो भगवान अरिहन्त हैं, उनके राग और द्वेष और पुण्य और पाप इत्यादि जितने भी विकार हैं, वे नहीं है, तो भी भगवान अरिहन्त पूरे आत्मा हैं। माने अनादिकाल से चले आ रहे ये राग–द्वेष–मोह सब टूट गये। ये सब अब टूटे हैं। आत्मा से पहले जुड़े हुए थे, संधि थी बीच में; लेकिन आत्मा से जुड़े हुए थे। ये सब टूटे; टूटे लेकिन आत्मा के द्रव्य–गुण–पर्याय में कोई क्षति नहीं हुई, भगवान अरिहन्त वो पूरे परमात्मा हैं।

इसी तरह वो अपने को मिलाता है कि मेरा द्रव्य समान है, मेरे गुण भी समान हैं। लेकिन पर्याय असमान है – ऐसा नहीं बोलता है; अरिहन्त को जानने के बाद अब ऐसा नहीं बोलेगा। अरिहन्त को नहीं जानेगा तब तक बोलेगा कि पर्याय असमान है; लेकिन वास्तव में पर्याय भी समान है क्योंकि उनका जो ज्ञान है वो भी चैतन्य के उन्मुख है, सन्मुख है, भगवान; और मेरा जो ज्ञान है उसमें भी राग नहीं है, द्वेष नहीं है, पाप नहीं है, पुण्य नहीं है। मैंने ऐसा माना था तो वो केवल अज्ञान से माना था कि मेरा ज्ञान रागी–द्वेषी मोही हो गया है। ऐसा मैंने अज्ञान से माना। ये राग–द्वेष–मोह ज्ञान से बिल्कुल न्यारे प्रकार के और न्यारी जाति के भाव हैं। इसलिए वो ज्ञान में आ ही नहीं सकते। वे सदा से ही न्यारे रहे

हैं और ये सदा से ही उनको ज्ञान में आत्मामय मानता रहा, आत्मा को रागी–द्वेषी मानता रहा है।

जैसे भगवान ने राग–द्वेष–मोह छोड़े....छूट गए उनके, क्योंकि वो तो न्यारे ही थे और न्यारे होते ही वो शुद्धात्मा की ओर देखने लगे; इसी तरह मेरा ज्ञान भी इन राग–द्वेष–मोह से न्यारा है। मैंने सिर्फ माना है, लेकिन ज्ञान कभी रागी–द्वेषी–मोही नहीं हुआ और आत्मा रागी–द्वेषी मोही नहीं हुआ। ये दोनों साथ ही चलते हैं, लेकिन ज्ञान के द्वारा अच्छा समझ में आता है कि ज्ञान इनके स्वरूप को जान तो लेता है, लेकिन फिर भी वो रागमय नहीं होता। रागी नहीं हो जाता, इसलिए मेरा ज्ञान भी शुद्ध है। **अब आया ये इस बात पर कि मेरे ज्ञान में जो राग–द्वेष–मोह पहले जो दिखाई देते थे, मैं मानता था कि मैं रागी हूँ, लेकिन वे वास्तव में बाहर ही हैं, ज्ञान में आए ही नहीं हैं। ज्ञान ने जाना, पर जानने के द्वार से, जानने के माध्यम से कोई पदार्थ भीतर आता नहीं है। वो सारा का सारा ज्ञान ही है, इसलिए मैं तो ज्ञान ही हूँ।** ऐसा जानते ही राग–द्वेष–मोह को न्यारा जाना कि ये बिल्कुल अलग हैं। मेरी आत्मा से भी अलग, ज्ञान से अलग, मेरे द्रव्य–गुण–पर्याय से भी अलग हैं। तो मेरे द्रव्य–गुण–पर्याय और भगवान अरिहंत के द्रव्य–गुण–पर्याय में कोई अन्तर नहीं रहा क्योंकि वो भी अपनी शुद्ध पर्याय से, केवलज्ञान की पर्याय से निरन्तर चैतन्य को देखते हैं और मैं अपनी श्रुतज्ञान की पर्याय से चैतन्य का दर्शन कर रहा हूँ। अब क्या रहा? राग–द्वेष–मोह को न्यारा जानते ही, पहले ज्ञान राग–द्वेष–मोह में ही लगा था,अब वहाँ से छूटा तो केवल एक ज्ञायक ही जगह रह गई (आश्रय करने के लिए) और कोई नहीं रही। दूसरी कोई जगह ही लोकालोक में नहीं है। लोकालोक से तो पहले ही छूटा है। तो लोकालोक में कोई जगह नहीं बची, तो एक मात्र ज्ञायक ही रहा। इस प्रकार ज्ञान उस ज्ञायक की ओर दौड़ जाता है।

भगवान अरिहंत यद्यपि सशरीर हैं, शरीर सहित हैं, चार अघातिया कर्म हैं – ये सब हैं। लेकिन इन सबके होते हुए भी इन सबको न्यारा जानते हैं। योग गुण की जो पर्यायें हैं उनको भी न्यारा जानते हैं। माने सब अवस्थाओं को न्यारा जानते हैं और अपने आपको केवल शुद्ध परमात्मा जानते हैं। शुद्ध चैतन्य जानते हैं।

अब इसकी श्रुतज्ञान की पर्याय क्या जानती है? कि वो भी एक ही को जानती है। ये ऐसा का ऐसा स्वरूप निश्चित किया। जैसा भगवान का स्वरूप है ठीक वैसा ही द्रव्य-गुण-पर्याय में (वैसा ही) मेरा स्वरूप है। मैंने भ्रम से पर्याय को अशुद्ध माना था, पर्याय में अशुद्धता का भ्रम किया था।

मुमुक्षु :– मेरी पर्याय में अशुद्धता का भ्रम था?

पूज्य बाबूजी :– भ्रम था। तो वो भ्रम निकल गया क्योंकि राग-द्वेष-मोह न्यारे ही थे और न्यारे हैं। न्यारे किये नहीं हैं इसने!

मुमुक्षु :– वाह रे वाह! न्यारे किये नहीं।

पूज्य बाबूजी :– ये ज्ञान, करने का धंधा कभी नहीं करता है। वो तो कर्म से तो सदा ही न्यारा है। जैसे आत्मा निष्कर्म है, वैसे ज्ञान भी निष्कर्म है – ऐसे।

मुमुक्षु :– पर्याय से भगवान जैसा खुद को मानने में अन्दर से थोड़ा सा, भीतर से डर लगता है कि ये भगवान का अविनय तो नहीं हो जाएगा?

पूज्य बाबूजी :– भगवान का अविनय नहीं है, क्योंकि ये भगवान ने ही कहा है। ये वाणी भगवान की ही है।

मुमुक्षु :– ऐसे भीतर से डर लग रहा है कि भगवान के जैसा अपने आपको माने तो भगवान का अविनय तो नहीं होगा – इस तरह का डर सा....।

पूज्य बाबूजी :- भगवान का आदर हुआ इसमें। भगवान को जानकर भगवान बन गया, इसमें भगवान का आदर है कि ये भगवान जो हैं वो नौकरी (service) नहीं कराते, लेकिन अपने जैसा बना लेते हैं।

पर्याय से खिसकना पड़ेगा

मुमुक्षु :- कलकत्ता में फरमाया था कि थोड़ा सा तो पर्याय में खिसकना पड़ता है। वो खिसकना माने क्या?

पूज्य बाबूजी :- खिसकना बस ये ही, इतना ही खिसकना है कि ये मेरे से न्यारे हैं और मैं इनसे अत्यन्त न्यारा हूँ, 'ज्ञान हूँ मैं'। इनकी जाति-प्रकृति-स्वभाव ये मेरे से बिल्कुल मिलते नहीं हैं। नहीं मिलते हैं इसलिए ये न्यारे ही रहे। ईमान-धर्म तो उन राग-द्वेष में भी है कि वो न्यारी जाति के हैं, शूद्र जाति के हैं इसलिए वे आत्मा के किसी भी भाव के साथ में मिलते नहीं हैं, लेकिन आत्मा ही वहमी हो जाए, भ्रम में पड़ जाए तो वो क्या करें?

वो तो आत्मा के साथ मिलते नहीं हैं, बिल्कुल विपरीत हैं न! तो दो विपरीत तत्त्व अन्धकार-प्रकाश कभी मिलते नहीं हैं। अनादि से ही मिले नहीं मिले हैं - एक तो उत्कृष्ट बात है ये कि अनादि से मिले नहीं हैं और ज्ञान में केवल भ्रम रहा - राग का जैसा स्वरूप है, ठीक वैसा का वैसा ज्ञान में जानने में आया - जाननेरूप। वहाँ सारा का सारा राग है और यहाँ सारा का सारा और वैसा का वैसा ज्ञान है।

जैसे चित्र होता है न! एक तो व्यक्ति और एक उसका फोटो - ऐसा है, लेकिन उस फोटो को भी अपन कहते हैं कि ये मैं हूँ। फोटो में कोई कहे कि तुम कहाँ हो? तो कहें कि मैं ये रहा, ऐसा कहता है। तो ये व्यवहार रीति है लेकिन निश्चय जानने के बाद फिर इस तरह का व्यवहार प्रगट हो जाता है।

इसलिए खिसकने का अर्थ यही है बसंतभाई! कि राग-द्वेष-मोह मेरे से अनादि से न्यारे ही थे और आज भी न्यारे ही हैं और भविष्य में भी रहेंगे तो न्यारे ही रहेंगे और मैं इनसे अत्यन्त न्यारा हूँ, मेरा इनसे किंचित् मात्र भी सम्बन्ध नहीं है, बस इसका नाम खिसकना। बस इतना सा खिसकना पड़ा और क्या खिसकना? अर्थात् ज्ञान खिसका थोड़ा सा कि पहले उनको अपने साथ मिलाता था, शूद्र के साथ खाता था पहले, उनको शामिल करता था। अब शूद्र को अलग कर दिया तो ये अलग रह गया। इस तरह से पुण्य-पाप दोनों शूद्र हैं।

मुमुक्षु :- आपको ये फासला कम दिखता है हमें तो बहुत लम्बा लगता है।

पूज्य बाबूजी :- फासला तो एक क्षण का है, क्योंकि यहाँ भी तो ये सिद्ध गति एक क्षण की है। **ये आत्मा सिद्ध परमात्मा जैसा है - ये तो आगम का वचन है कि सम्यग्दृष्टि जीव का अपनी आत्मा को अनुभव करने वाला ज्ञान शुद्ध और सिद्धों के समान होता है।**

मुमुक्षु :- इसी को दृष्टि-मुक्त कहेंगे? इसी को दृष्टि-मुक्त कहा जाएगा क्या?

पूज्य बाबूजी :- मुक्त ही कह दो न! दृष्टि-मुक्त कहने से तो फिर झगड़ा पड़ गया कि अभी कुछ और शेष रह गया थोड़े रागादिक और शेष रह गए। इसलिए उसमें बिल्कुल भी नहीं जाना। ऐसा मानना कि ये साक्षात् अरिहंत! अरिहंत तो कहने की बात है, अरिहंत से तो समानता बताई; बाकी है सिद्ध।

भगवान अरिहंत भी सिद्ध हैं। सिद्ध माने सिद्ध पर्याय नहीं। हाँ! वो जो अनादि त्रैकालिक सिद्ध है, वो हैं। वो तो समानता बताकर कहा कि भगवान की पर्याय क्या कर रही है ऐसा बताया। ये भी तो ये विचार करता है न! क्या कर रही है भगवान अरिहंत की पर्याय?

विकारी भावों से अत्यन्त निरपेक्षता

विकारी भाव हों भी तो क्या तकलीफ है? पड़े रहें। अगर उनका नाश न भी हो तो मुझे क्या तकलीफ है? लेकिन वो नाश हो ही जाता है तो मैं भी क्या करूँ? इतनी अनुभूति होते ही सबसे बड़ा जो मोह है, वो तो चला ही जाता है। पर वो रहता तो भी मेरे को तकलीफ नहीं थी क्योंकि मैंने तो अपने आपको उससे न्यारा जान ही लिया था।

ये मेरे साथ मोक्ष भी चले जायें तो भी मुझे कोई तकलीफ नहीं, तो मुझे उनसे क्या लेना देना है? ये मेरा बिगाड़ कहाँ करते हैं? आत्मा का क्या बिगाड़ा इन्होंने अब तक? शुद्धात्मा पर इतना आसीन होकर, इतना परम उदासीन हो।

शुद्धात्मा पर आसीन होकर ऐसा उदासीन भाव हो। आत्मा वास्तव में सिद्ध परमात्मा ही है। ये जो ऊँचाईयाँ हैं, अपने आप को ऊँचा माने तो पर्याय में हमेशा ऊँचाई ही प्रवर्तित होती है, नीचाई का ख्याल ही नहीं आता। राग-द्वेष-मोह का ख्याल क्या आएगा? एक बार जान लिया न उसने कि वे पड़े होंगे कहीं।

ज्ञानी को राग नहीं होता

स्वयं आचार्य ने उपेक्षा की है उनकी! प्रश्न किया है आचार्य ने कि सम्यग्दृष्टि को राग-द्वेष-मोह तो होते हैं; कि उसे तो नहीं होते हैं और विषयों को भी नहीं होते हैं। तो फिर किसको होते हैं? तो फिर वो अज्ञानी को होते हैं, वे तो अज्ञानी की कल्पना के दोष हैं वो, इसलिए वे सम्यग्दृष्टि को वे हैं ही नहीं।

वे कहीं पड़े होंगे इसका वे मतलब अत्यन्त उपेक्षित हैं, तो वे ज्ञानी को हैं ही नहीं। बाहर पड़े होंगे, बाहर तो लोकालोक पड़ा है।

मुमुक्षु :- कहीं पड़े होंगे मतलब कितनी उपेक्षा है!

पूज्य बाबूजी :- परम-परम उपेक्षा। परम उपेक्षा हो जाती है।

अब पर्याय की ओर से बात है कि उनका नाश अवश्य हो जाएगा। ऐसा नहीं है कि वो मोक्ष तक जायेंगे; नहीं जायेंगे। जायें तो भी इसको तकलीफ नहीं है, क्योंकि इसको तो ये है कि मैं यहाँ जो कर रहा हूँ, वही वहाँ करूँगा; ये पड़े रहेंगे अपने। वहाँ तो निगोदिया भी पड़े हैं, तो ये भी पड़े रहेंगे। उसमें क्या है?

मुमुक्षु :- जायें तो तकलीफ उसको नहीं है मगर वो....।

पूज्य बाबूजी :- वो जायेंगे ही नहीं। क्योंकि उनमें भी ईमान-धर्म है न कि हम वहाँ कैसे जायें? कोई शुद्ध चौके में कैसे आए? देवों में होते हैं न किल्विषक जाति के देव, तो वो इन्द्र की सभा में नहीं जाते। बाहर ही रहते हैं।

मुमुक्षु :- क्यों?

पूज्य बाबूजी :- दस प्रकार के देव होते हैं, देवों के भेद। तो उसमें किल्विषक जाति के देव होते हैं, तो वो जो इन्द्रों की सभा होती है, उसमें वे नहीं जाते। देव होने पर भी उनका प्रवेश नहीं है। ऐसे ही ये राग-द्वेष-मोह किल्विषक हैं।

मुमुक्षु :- जो भाव हैं, वो क्षमा-भक्ति के और शील के भाव हैं ऐसा हम जानते हैं, उनको आप शूद्र में डाल रहे हैं?

पूज्य बाबूजी :- हाँ! वो तो जाति ही ऐसी है, अपन क्या करेंगे? कपड़े अच्छे बदल ले, नहा ले, धो ले, प्रधानमंत्री (prime-minister) जैसा हो जाए तो इससे क्या हो? भीतर से क्या है?

पुण्य-पाप की क्षमता और उनका स्वरूप

पुण्य और पाप का तो ऐसा हाल है बसंतभाई! कि जैसे पाप तो विषयों के प्रति होता है, लेकिन पाप के परिणाम में इतनी ताकत नहीं कि एक भी विषय का एक कण भी वो अपने में ला सके और उस विषय का स्वाद ले सके। इसलिए वो सारा का सारा व्यर्थ है, अशुद्ध है,

विपरीत है, वो तो सब है ही सही। लेकिन उसमें अकिंचित्करता इतनी है कि वो कुछ भी करने लायक नहीं है।

इसी तरह पुण्य का भाव है कि पुण्य का भाव जो है, वो दया करना, जीव को बचाना इत्यादि इत्यादि। ये जो भाव हैं, ये होते तो हैं लेकिन ये एक भी जीव को आज तक नहीं बचा पाए और न बचा पायेंगे। तो दोनों की जाति एक है। ये पुण्य नहाया हुआ हरिजन है; और पाप टोकरे वाला है ।

अकिंचित्कर भावों का क्या करें? अनुभूति होते ही आनन्द का उत्पादन होता है, production होता है। और ये अकिंचित्कर भाव पैदा होते हैं तो इनके साथ में जो तरह तरह की अशुद्धियाँ पैदा होती हैं, उनको साथ लेकर आते हैं। दुःख पैदा होता है। पुण्य और पाप जो दोनों परिणाम हैं, वो दुःखमय हैं, समान जाति के हैं। बस कम और अधिक की वजह से इनके दो नाम रखे गए। असल में जाति एक है, तो एक जाति में हम क्या कहेंगे इनको? एक ही जाति कहेंगे, जाति तो एक ही आएगी न दोनों के नाम में। लेकिन दोनों में जो थोड़ा अन्तर है कि एक जो है वो कम अशुद्ध है और एक ज्यादा अशुद्ध है। तो कम अशुद्धि को हम पुण्य के नाम से पुकारते हैं और ज्यादा अशुद्धि को पाप के नाम से पुकारते हैं। पर जो योगी होता है वो तो ये कहता है कि ये जो पुण्य है वो वास्तव में पाप ही है। इनकी जाति में जरा भी अन्तर नहीं है। योगसार में योगीन्दु मुनिराज के शब्द हैं।

ये आवें, तो भले आवें! पर पाप ही है, क्योंकि मोक्षमार्ग में बाधक है। इनमें सिर्फ नाम भेद है, असल में देखा जाए तो हैं तो दोनों कषाय न! एक तीव्र कषाय और एक मन्द कषाय; दोनों का नाम कषाय है। तो जाति तो बिल्कुल एक है और दोनों का काम भी इतना ही है कि दोनों विकल्प बहुत करते हैं। पर विकल्प बहुत होने पर भी किसी विषय को ला नहीं पाते। अपने विषय को छू नहीं पाते, ये भीतर से इतने कमजोर

भी हैं। ये इतने अधिक कमजोर हैं कि अनन्त परिणाम हों तो भी एक विषय, एक विषय का कण भी ये अपने भीतर नहीं ला सकते और उसरूप नहीं बना सकते और ये ही पुण्य का काम है कि अनन्त बार परिणाम हो जीव को बचाने का, लेकिन एक बार भी बचा नहीं पाता; तो व्यर्थ हुए न! व्यर्थ का जो उत्पादन (production) है, वो दुःख होगा। जैसे किसी जगह किसी ने बहुत खोदा, लेकिन पानी नहीं निकला और 100 फुट तक चला गया। तो ये सारे श्रम का फल क्या होगा?

मुमुक्षु :– दुःख। व्यर्थ दुःख!

पूज्य बाबूजी :– दुःख! और इधर अनुभूति हुई तो उसमें तत्काल उत्पादन (production) हुआ अतीन्द्रिय आनन्द का। दूसरे क्षण में नहीं, तत्काल हुआ। तो श्रम वैसा हो..... लोक में भी ऐसी बात की जाती है कि श्रमदान ऐसा हो कि उसका कोई फल हो; वह निष्फल न हो। अब रेतीली भूमि हो, सूखी हो और उसमें बीज डाल दें अथवा शिलाओं (पत्थरों) पर बीज फैंक दें, तो क्या फायदा होगा?

इसलिए पुण्य और पाप की वृत्तियाँ, इनमें पुण्य पवित्र को भी कहते हैं, क्योंकि जो कम अपवित्र है, उसको पवित्र संज्ञा भी दी जाती है। जैसे कल 105 बुखार था और आज 103 रह गया। तो किसी ने पूछा कि बुखार कैसा है? तो कहते हैं कि आज तो पहले से आराम है। तो आराम है?

मुमुक्षु :– नहीं।

पूज्य बाबूजी :– अभी 103 बुखार है। तो उसकी अपेक्षा, माने कल का जो कष्ट था उसकी अपेक्षा इसको दूसरा नाम देना पड़ेगा। है तो बुखार ही, जाति तो एक ही है लेकिन नाम अलग देना पड़ेगा। तो उसको 'आराम' नाम दिया कि कल से तो मुझे आराम है, लेकिन आराम नहीं, दुःख ही है, एकदम दुखी है।

आचार्यों ने जब देवों के सुखों का चित्रण किया है तो उसमें 'क्लेश' शब्द डाला है। 'क्लेश' के अँगारों में सिंकता हुआ – ऐसा डाला है।

और ऐसे ही ये जो द्रव्यलिंगी मुनि जो सारी चर्या करते हैं – 28 मूलगुण, 13 प्रकार का चारित्र, 12 प्रकार के तप – ये सब करते हैं। उसमें भी ये शब्द है ये कि क्लेश के अंगारों में जलता हुआ, सिकता हुआ – प्रवचनसार में है।

मुमुक्षु :– आपने फरमाया कि असंख्य अनन्त परिणाम पुण्य के हुए पर उसके विषय का एक कण भी ज्ञान में नहीं आया!

पूज्य बाबूजी :– नहीं आया, छू ही नहीं सका। न तो ये जाकर छू सका और न वो इसके अन्दर आ सका, इसलिए पुण्यभाव भी व्यर्थ हैं, अकिंचित्कर हैं और अकिंचित्कर हैं इसलिए अपराध हैं क्योंकि आत्मा ऐसा नहीं है। आत्मा तो विश्व का एक वरिष्ठ तत्त्व है, बहुत सम्माननीय और अभिनन्दनीय है, क्योंकि ये ज्ञानवाला है। बाकी के पास ज्ञान नहीं है; इसलिए आत्मा सबसे अधिक अभिनन्दनीय है – आदर करने योग्य है। ऐसा जो ज्ञानवाला तत्त्व है, वो अगर ऐसे पुण्य और पाप के व्यर्थ के काम करता रहे, तो हमने उसके स्वरूप का घात कर दिया; अगर उसको अपना स्वरूप मान लिया, अपना काम मान लिया तो! इसलिए करते हुए भी वास्तव में वे आत्मा के कर्म नहीं हैं।

जैसे पिता बालक को कहता है। पहले तो कहता है, 'बेटा तूने ये क्या किया! ये नीचों जैसा काम क्यों किया?' और फिर कहता है, 'देख! ये अपना काम नहीं है।' तो कहे पिताजी दोनों में से क्या मानूँ? पहले तो कहा कि ये तूने क्या किया? – तो आपने उसको मेरा काम बताया। अब कहते हैं कि ये अपना काम नहीं है। तो अब दोनों में से क्या मानूँ?

पहले तो ये बताया था कि वो तूने ही किया था, इसलिए बताया था। लेकिन वो अपने करने लायक नहीं है इसलिए ये मान। पुण्य और पाप

पहले आत्मा के ही बताए थे, लेकिन अब कहा कि ये करने लायक नहीं हैं, इसलिए इनसे इसी क्षण आसक्ति तोड़ ही दो।

करुणा भाव भी दर्शन मोह का चिन्ह है

मोह बताया न! तिर्यंच और मनुष्यों के प्रति करुणाभाव को दर्शनमोह बताया न! तिर्यंच-मनुष्य प्रेक्षा योग्य होने पर भी उनके प्रति करुणाभाव, अरिहंत देव आदि की भक्ति और तिर्यंच-मनुष्य प्रेक्षा योग्य होने पर भी उनके प्रति करुणाभाव - ये दर्शनमोह के चिन्ह हैं।

मुमुक्षु :- प्रेक्षा योग्य होने पर भी माने क्या?

पूज्य बाबूजी :- केवल ज्ञेय होने पर, सिर्फ जानने लायक होने पर, जानने योग्य होने पर। सिर्फ जानने योग्य हैं, ये ज्ञान में आ जायें! जानने योग्य अर्थात् कोई जानता रहे - ऐसा नहीं, बस! आ जायें ज्ञान में। मेरे से न्यारे हैं, बस!

मुमुक्षु :- जानने योग्य हैं, करुणा के योग्य नहीं हैं?

पूज्य बाबूजी :- करुणा के योग्य नहीं हैं। करुणा विफल हो गई न! इतना सारा परिश्रम किया! करुणा में भी पुरुषार्थ तो होता है न? जीव की पुरुषार्थ पर्याय तो हर समय चलती है - इतना पुरुषार्थ हुआ और बचा एक भी नहीं। तो वो प्रेक्षा योग्य हैं - ऐसा कहते हैं।

तो अच्छा बता! तू करेगा भी क्या? ये काम तेरे से होनेवाला नहीं है, अब क्या करेगा? कि देखता रहूँगा और क्या करूँगा?

ज्ञेय को जाना, कब कहा जाये?

मुमुक्षु :- तो देखना मेरा काम बन गया कि नहीं?

पूज्य बाबूजी :- देखना! वो तो अपन आगे चलेंगे, माने अभी बात पूरी नहीं हुई, देखने योग्य होने पर भी नहीं देखना। एक सूत्र हमेशा याद रखने का है।

जिसको देखने योग्य, केवल जानने योग्य अर्थात् ज्ञेय जाना, तो उससे तुरंत इसकी परिणति फिर जाए, इसका उपयोग फिर जाए, लौट जाए, तो कहा जाए कि इसने उसको ज्ञेय को जाना और ये अगर उसे देखने में लग गया, तो वो ध्येय हो गया और वो अज्ञान हो गया, क्योंकि जो ज्ञेय है, उससे मुझे क्या लेना-देना ? उससे मुझे क्या मतलब है ? जिसको सिर्फ जानना ही है, तो उसका क्या जानूँ मैं ? सब जान लिया कि मेरा नहीं है, बस। ये जानना था, इतना ही तो जानना था कि मेरा नहीं है बस, हो गया। मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है।

करुणा को दर्शनमोह बताया है, लेकिन करुणा दर्शनमोह नहीं है। जो एकान्त करुणा का भाव होता है, आत्मदर्शन के बिना 'मैं बचा सकता हूँ' - इस भावपूर्वक जो वो करुणा का भाव आया, वो दर्शनमोह है।

मुमुक्षु :- कर्तृत्वबुद्धि .... मैं कर सकता हूँ... वो दर्शनमोह है ?

पूज्य बाबूजी :- वैसे तो ज्ञानी को करुणा का भाव होता है न! ज्ञानियों की करुणा ऐसी होती है कि....ये जीव भवार्णव से कैसे तिरें - ऐसा भाव ज्ञानियों को आता है, पर वो भी विफल है क्योंकि वे तेरे इस भाव से तिरेंगे ही नहीं। तिरेंगे तो अपने हाथ-पैर से।

मुमुक्षु :- बराबर! और आत्मा को जाने बिना इन भावों को जानता रहूँ, वो भाव भी सही है ? या वो भाव भी मिथ्यात्व जैसा है ?

पूज्य बाबूजी :- वो तो मिथ्यात्व ही है, क्योंकि वो तो ध्येय हो गया, जानता रहूँ - इसे क्या जानना माना जाये ? ये तो बड़ा अनाचारी हो गया। ये बहुत बड़ा अनाचार है। जो सिर्फ जानने लायक है और ये उसे जानता रहे तो अनाचारी हो गया।

अब यहाँ एक पर्स रखा है और उसे देख लिया। तो देखते ही अपन मुँह ऊँचा कर लेते हैं और अगर उस पर्स की तरफ देखते ही रहें तो क्या

समझेगी सभा सारी ? अब मैं तो कहूँगा कि, 'मैं तो देख रहा हूँ खाली। मैंने तो हाथ भी नहीं लगाया, छू भी नहीं रहा।' लेकिन सभा क्या समझेगी ? कि ये इसको पार करना चाहता है।

इसलिए ज्ञेय जो है....सचमुच ज्ञेय तो हमने कह ही दिया उसे तो इतना तो भेदज्ञान हो गया न कि 'मेरे से न्यारे पदार्थ जगत में हैं' – बस इतना जानना था। **ज्ञेय कह दिया तो इसके बाद ज्ञान को उधर रहना ही नहीं चाहिए, उसे अपनी ओर आ जाना चाहिए, तब उसने ज्ञेय जाना। और यदि बार-बार इसका मन जाता है उधर देखने को, तो ये उचक्का है।**

मुमुक्षु :– आहाहा ! माने ज्ञेय से ज्ञान को rebound हो (पलट, घूम) जाना चाहिए।

पूज्य बाबूजी :– हाँ ! फिर जाना चाहिए, घूम जाना चाहिए – तब हुआ वो ज्ञेय ! नहीं तो वो फँसा है फिर उसमें। जानना आत्मा का कर्म है। लोकालोक को जानना आत्मा का कर्म है, तो कहते हैं ये सब व्यवहार-वचन हैं, वास्तविक नहीं हैं, श्रद्धा करने लायक नहीं हैं।

जो वास्तव में जानने में आते ही नहीं, और अगर आते भी हैं तो उसकी विधि दूसरी है.....तो जो जानने में आते ही नहीं, और जिनसे कोई मतलब नहीं है, उनको जानना इसका कर्म है – ये बात जिनवाणी कहेगी क्या ? सदाचारी मनुष्य तो उसको ही कहते हैं कि दूसरे की वस्तु के प्रति जिसका स्खलन न हो, मन द्रवित न हो।

अब हो गया टाइम ?

मुमुक्षु :– हाँ जी ! समय बहुत तेज गति से चलता है !

पूज्य बाबूजी :– ये चर्चा तो 33 सागर की है।

❖❖❖

तत्त्वचर्चा : क्रमांक 3

(27 जनवरी 1999)

इस चर्चा में पर्याय की ज्ञान शक्ति, प्रतिभास और ज्ञान, अज्ञान के दो रूप, अनुभूति के दो रूप, ज्ञान में ज्ञेयों का झलकना आदि मार्मिक विषयों का स्पष्टीकरण किया गया है।

ज्ञान शक्ति और ज्ञान गुण

मुमुक्षु :– कल का जो एक प्रश्न था वो थोड़ा सा दोहराया जाए तो ठीक है, जो कल हो गया था शायद। ज्ञेय से ज्ञान नहीं होता और ज्ञेय का ज्ञान नहीं होता – इस सम्बन्ध का तो निषेध है; तो ज्ञान, शक्ति से कैसा है?

पूज्य बाबूजी :– ज्ञान आत्मस्वरूप ही है, शक्ति से भी ज्ञान ही है। शक्ति से क्या तात्पर्य है प्रश्नकर्ता का? एक तो शक्ति माने गुण। ज्ञान गुण जो है वो भी ज्ञान स्वरूप ही है। उसमें भी ज्ञान ही ज्ञान है। **ज्ञान गुण अनन्त ज्ञान पर्यायों का दल है और ज्ञान शक्ति से तात्पर्य पर्याय शक्ति से भी है। ये जो प्रतिसमय जानने की क्रिया चलती है वो पर्याय शक्ति है।**

मुमुक्षु :– तो उसका मतलब ये शक्ति से निरपेक्ष है – ये जवाब है क्या?

पूज्य बाबूजी :– शक्ति तो निरपेक्ष ही होती है! पर प्रश्न में इतना नहीं है न! प्रश्न में तो सिर्फ इतना है कि ज्ञान शक्ति से क्या तात्पर्य है? ज्ञान शक्ति माने एक तो ज्ञान गुण, जो सदा आत्मा में द्रव्य की तरह रहता है और अनन्त ज्ञान की पर्यायों से भरा हुआ है। भरा हुआ है – ऐसा कहना पड़ता है; माने कोई उसमें ज्ञान पर्यायें भरी हैं – ऐसा

नहीं है। लेकिन ज्ञान गुण है तो ज्ञान की पर्याय होती है – ये नियम है। इसलिए ज्ञान गुण स्वयं ज्ञानस्वरूप है।

ज्ञान पर्याय से ज्ञान गुण का निर्णय

जैसे बीज है, तो बीज में वृक्ष है या नहीं? क्या कहेंगे? ये सारी जितनी भी शक्तियाँ हैं वे बीजभूत हैं, बीजरूप हैं सारी की सारी। जैसे अनेक प्रकार के बीज हों, लेकिन वो जब अंकुरित होते हैं तो पहचाने जाते हैं। इसलिए जो ज्ञान की पर्याय है उससे ये सब पहचाना जाता है। ज्ञान गुण भी उस ही से समझ में आता है कि ज्ञान की पर्याय माने कोई कार्य हुआ तो कार्य के पीछे कोई शक्ति या कोई पदार्थ होना चाहिए। पदार्थ ही नहीं है, कोई अस्तित्व ही नहीं है तो काम कहाँ से होगा? **इसलिए ज्ञान की पर्याय होती है तो उससे पहचाना जाता है कि इसके पीछे ज्ञान शक्ति है। अकेला जो आत्म द्रव्य है वो अनन्त शक्तियों का काम नहीं कर सकता।** यद्यपि अनन्त शक्तियों का निधान भी वही है। अनन्त शक्तियाँ उसी के आश्रित हैं, उनका वो एक पिटारा है लेकिन फिर भी क्योंकि वो एक सत्ता है न, द्रव्य! जो आत्मा है या जगत के छहों ही द्रव्य हैं, तो एक सत्ता हैं। **तो एक सत्ता में से अनेक कार्य नहीं हो सकते। इसलिए उसमें अनेक की आवश्यकता है। वो अनेक की आवश्यकता ये शक्तियाँ पूरा करती हैं।**

ज्ञान शक्ति की पहिचान

शक्तियों को कैसे पहचाना जाए? जैसे अनेक बीज हैं, अब उनको पहचाना कैसे जाए? हमारे सामने बीज रख दिए जायें 100 प्रकार के, तो कैसे पहचानेंगे कि इसमें कौन सा बीज क्या है? जब वो अंकुरित होता है तो पहचाना जाता है। इसलिए उपयोग से, माने ज्ञान की पर्याय से सब पहचाना जाता है। ज्ञान की पर्याय भी पहचानने में आती है, जगत भी पहचानने में आता है, जगत का स्वभाव भी पहचानने में आता है,

ज्ञान गुण भी जाना जाता है और आत्मद्रव्य भी जाना जाता है – ये सब जाना जाता है, ये ज्ञान का कार्य है।

ज्ञान आत्मा का असाधारण धर्म है कि जो किसी अन्य में नहीं पाया जाता। ऐसे ही दर्शन भी आसाधरण है, श्रद्धा भी असाधारण है, चारित्र भी असाधारण है। **ये असाधारण होते हुए भी सिर्फ ज्ञान एक ऐसा है कि जो स्व में भी व्यवसाय करता है और पर में भी व्यवसाय करता है। माने स्व को भी जानता है और पर को भी जानता है।** ये पर-पदार्थ नहीं जानते, क्योंकि इनमें ज्ञान ही नहीं है। श्रद्धा में, चारित्र में, सुख में भी ज्ञान नहीं है। लेकिन ज्ञान ही एक असाधारण धर्म है कि जो अपने को भी जानता है, अपने को भी पहचानता है और पर को भी पहचानता है। अपना भी अनुभव करता है, पर का भी अनुभव करता है, माने जानता है। पर को भी जानता है – ऐसा! अब पर को जानता है यहाँ वो बात नहीं लेना, यहाँ पर कि किस तरह से जानता है – वो एक अलग विधि है, वो एक अलग कला है। पर जानता है, माने स्व-परप्रकाशक है।

ये जो प्रतिसमय चलने वाला उपयोग है, ये आत्मा का लक्षण है। जहाँ उपयोग है, जहाँ ज्ञान है वहाँ आत्मा है – ऐसा अविनाभावी सम्बन्ध है। जहाँ लक्षण है वहाँ लक्ष होता है। तो ज्ञान लक्षण है और आत्मा लक्ष है। तो जहाँ-जहाँ ज्ञान है वहाँ-वहाँ आत्मा है। जहाँ आत्मा का अभाव है वहाँ ज्ञान का भी अभाव है। इस तरह इसको अविनाभाव सम्बन्ध कहते हैं, ये ज्ञान की शक्ति है।

ज्ञान से मोह का नाश होकर आत्मानुभूति होती है

ज्ञान की कई बातें हैं न! एक तो वो आत्मा का असाधारण गुण हुआ, स्व और पर को पहचानने वाला-जानने वाला हुआ। दूसरा, ज्ञान से ही सारा फैसला होता है। आत्मा को जो परपदार्थ में अत्यन्त मोहनबुद्धि है, अत्यन्त मोहमयी, अत्यन्त एकत्व की जो बुद्धि है, उसका खण्डन करने

वाला, उसको समाप्त करने वाला ज्ञान ही है, क्योंकि वो जानता है कि ये सम्पूर्ण पदार्थ पर हैं, पराए हैं; इनमें मेरा कुछ भी नहीं है, कोई अधिकार नहीं है। कुदरत का ऐसा नियम है कि यहाँ तो एक गणराज्य है, democracy है कि जिसमें सब स्वतंत्र हैं। और सबके पास अपनी-अपनी एक अलमारी (cabinet) है अनन्त गुणों की और उससे सब काम होते हैं। ऐसा हर पदार्थ का एक साम्राज्य है अर्थात् हर पदार्थ परमेश्वर है - ये ज्ञान ही जानता है।

ये पदार्थ न्यारे हैं - ऐसा बतानेवाला जो ज्ञान है, वह सबको न्यारा जानकर....न्यारा करके नहीं! न्यारा जानकर। ज्ञान स्वभाव से और आत्मा के स्वभाव से जो न्यारे हैं उन सबसे पृथक् होकर आत्मलीन हो जाता है, आत्मा की ओर ढल जाता है तब संवेदन होता है, उसी का नाम अनुभूति, शुद्धात्मानुभूति है और शुद्धात्मा की अनुभूति का दूसरा नाम मोक्षमार्ग है। शुद्धात्मानुभूति केवल एक ही मोक्षमार्ग है, दूसरा नहीं है। ये ज्ञान का असली काम है।

आत्मानुभूति में तीन लोक और तीन काल का ज्ञान हो गया

असली काम तो यही हुआ। ज्ञान सिर्फ जानता है, स्व को जानता है, पर को जानता है - तो इससे क्या हुआ ? साफ आया है कि अकेले छह द्रव्यों का जानना इसका नाम ज्ञान नहीं है। ये वास्तव में ज्ञान नहीं है। लेकिन उसमें आत्मा को जाने, तब छह पदार्थ सही रूप में जाने जाते हैं और वो ये कि - एक मात्र आत्मा ही उपादेय है, माने यही मैं हूँ और अन्य सब पर हैं; अन्य कोई मेरा नहीं है तब आत्मा जाना जाता है। आत्मा का जो स्वाद आया, तो उस स्वाद में इसने ये जाना कि सचमुच ऐसा स्वाद किसी अन्य में बिल्कुल नहीं है। इसलिए सब इससे अलग हैं, पृथक् हैं, न्यारे हैं और मेरे ये किसी काम के नहीं हैं, किसी प्रयोजन के नहीं हैं। 'देखने के प्रयोजन के' तो हैं न ? कह तो रहे हैं कि ये हैं, लेकिन

किसी प्रयोजन के नहीं हैं। बस! ये हो गया सब जानना। सारे तीन लोक और तीन काल का जानना इसमें आ गया।

ज्ञान को बरबाद मत करो

ज्ञेय पदार्थ अलग-अलग करके नहीं जाने जाते। जानने में विस्तार करना भी नहीं चाहिए, क्योंकि परपदार्थों में अगर ज्ञान का विस्तार किया जाए तो वो ज्ञान बर्बाद (waste) होगा। उसका कोई फायदा नहीं होगा। यहाँ तो ज्ञान अगर कम है, थोड़ा है तो उस सम्पूर्ण ज्ञान को, केवल उस उपयोग को आत्मा में उड़ेल दिया जाए और वो भी सम्पूर्ण उद्यम से। **दो बात - सम्पूर्ण ज्ञान और सम्पूर्ण उद्यम से, सम्पूर्ण प्रयत्न से, सम्पूर्ण श्रम से, सारे पुरुषार्थ से उसे केवल आत्मा में उड़ेल दिया जाए तो सर्व सिद्धि हो गई।** तब निर्विकल्प वेदन होता है और इसका जो वास्तविक इष्ट है, अर्थात् अज्ञानी का भी इष्ट तो सुख है, वो भी सुख चाहता है। लेकिन उस स्व-संवेदन में जो सुख है वो वास्तविक सुख है, क्योंकि वो अन्दर से आता है, क्योंकि अन्दर भरा हुआ है। ज्ञान की तरह सुख गुण भी अन्दर है, तो उसमें से फव्वारे छूटते हैं। तो फव्वारों की तरह से वो आनन्द उछलता है। ये सब ज्ञान का काम है।

सम्यक्त्व के प्रारम्भ में ज्ञान ही काम करता है

जब ये निर्विकल्पदशा और सम्यग्दर्शन होने का प्रारम्भ होता है, तो उसमें सबसे पहले ज्ञान ही सारा काम करता है। ये जितना भेदविज्ञान है....भेदविज्ञान अर्थात्? भेद तो स्वाभाविक है, वो तो पड़ा है लेकिन **उसका विज्ञान माने उसका विशेष ज्ञान।** विशेष ज्ञान का अर्थ ये कि ये पराए हैं इतना मात्र कहकर न रह जाए, लेकिन ये पराए हैं तो उनसे मुड़कर और स्व का अवलम्बन लेकर उसका वेदन कर ले तो वो विज्ञान कहलाता है। वरना तो सामान्य ज्ञान सबके पास है। लेकिन विज्ञान क्यों है वो? विज्ञान माने विशिष्ट ज्ञान, विशेष ज्ञान। उसकी विशेषता क्या है?

कि ये तो जाना कि पर है, लेकिन इससे क्या फायदा हुआ कि परपदार्थ है? और पर है ये कैसे जाना तूने? कि जब तक स्व को नहीं जाना, अपनी सत्ता को नहीं जाना, तब तक पर का ज्ञान कहाँ हुआ? कैसे हुआ?

अपनी सत्ता को नहीं जाना तो ये पराया है – ये कैसे जानेगा? इसलिए भेद तो सारे विश्व में स्वाभाविक पड़ा है। आत्मा के भीतर भी जो भेद है वो स्वाभाविक है। इसी तरह जगत में जो छह द्रव्यात्मक भेद है या जीव–अजीव का भेद है, वो भी स्वाभाविक है। ज्ञान भेद को करता नहीं है, वह तो सिर्फ जो भेद है, अन्तर है, उसमें जो विशेषता है अर्थात् फरक है, उसको जानता है।

अज्ञान दशा के दो भेद

ये जीवन का मंगलाचार है कि जब सम्यग्दर्शन होता है। ये सारी भूमिका ज्ञान साफ करता है और ये सारा का सारा प्रयास अज्ञान दशा से शुरू होता है।

अज्ञान दशा के दो भेद जानने चाहिए। जैसे मन की एक वृत्ति तो ऐसी जो इन्द्रियज्ञान में आती है। पाँच इन्द्रिय और मन के द्वारा अज्ञानी जो जानता है, वो सारा इन्द्रियज्ञान कहलाता है। इन्द्रियज्ञान का अर्थ ये कि इन्द्रियों के होने पर उनसे पृथक्रूप से, उनकी सहायता के बिना होने वाला जो ज्ञान है उसे इन्द्रियज्ञान कहते हैं।

जैसे सितार वादक आदमी है। अब आदमी सितारवाला होता है क्या? अर्थात् आदमी उसे कहते हैं जिसके पास सितार हो – ऐसा है क्या? लेकिन किसी से पास सितार है और वो सितार से गाता है; तो गाता तो कण्ठ से है और कहते हैं कि सितार से गाता है। इसी तरह इन्द्रियज्ञान, माने जो इन्द्रियों के होने पर जानता है, लेकिन वो ज्ञान इतना कमजोर है कि जैसे एक वृद्ध आदमी लकड़ी के बिना नहीं चल सकता, तो हम कहते हैं ये लकड़ी से चलता है। **इसी तरह ये ज्ञान इन्द्रियों से**

चलता है – ऐसा कहना, इसका नाम व्यवहारनय। कहना इसका नाम व्यवहारनय और मानना इसका नाम मिथ्यात्व।

कहना माने भीतर ज्ञान का ऐसा विकल्प चलता है कि – ये आदमी लकड़ी से चलता है। तो वो क्या बताता है ? कि वह इतना कमजोर है, पर लकड़ी उसे चलाती नहीं। जैसे उसमें अगर चलने की कोई शक्ति ही बिल्कुल न हो तो वो लकड़ी कैसे चलाएगी ? वो गिर जाएगा तो लकड़ी कहाँ से उठाएगी ? लेकिन उसमें ताकत है अभी चलने की और उधर लकड़ी का योग अर्थात् संयोग होता है। बस ! इतना मात्र। ये जो इतना भेद और अंतर है, ये अकेले जैनदर्शन का गौरव है।

और लोग तो यही जानते हैं कि ये व्यक्ति तो लकड़ी के सहारे चलता है और लकड़ी इसको सहायता देती है। लेकिन जैनदर्शन तो खोजी है न एकदम, एकदम CID की तरह; तो वो और अन्दर जाता है। अन्दर जाकर देखता है कि अगर इसमें शक्ति नहीं है तो लकड़ी उठा दे इसको, दे दे इसको ताकत। जिस समय ये बिल्कुल चलने लायक नहीं रहेगा तो उस समय इसके पास लकड़ी रहेगी, लेकिन वो करेगी क्या ? ये ही स्थिति इन्द्रियज्ञान की है इसीलिए उसे इन्द्रियज्ञान कहते हैं, लेकिन ज्ञान सचमुच सारा अतीन्द्रिय होता है।

इन्द्रिय ज्ञान भी वास्तव में अतीन्द्रिय है

अब अतीन्द्रिय के दो रूप हैं – एक इन्द्रियज्ञान और एक अतीन्द्रिय ज्ञान।

मुमुक्षु :– ये क्या कहा बाबूजी ? पहले तो अज्ञान दशा के दो भेद बताए, एक भेद ये बताया कि इन्द्रिय के सहारा वाला और दूसरा कौन सा अज्ञान है ?

पूज्य बाबूजी :– इन्द्रिय का सहारा वाला माने इन्द्रिय के होने पर जो होता है। बस इतना मात्र ! अपन वो सहारा तो खैर कह सकते हैं,

'सहयोग' इत्यादि सारे शब्द आगम में भी आते हैं पर कोई सहारा नहीं है क्योंकि निगोदिया का ज्ञान भी बिल्कुल निरपेक्ष होता है, भले ही वो अक्षर के अनन्तवें भाग है, लेकिन वो बिल्कुल एकदम निरपेक्ष होता है। वहाँ तो केवल स्पर्शन इन्द्रिय है, लेकिन वो ज्ञान बिल्कुल निरपेक्ष होता है। इन्द्रिय उसको कोई सहारा नहीं देती क्योंकि जड़ चेतन को क्या सहारा देगा ? माने बिना पढ़ा–लिखा व्यक्ति किसी को पढ़ाएगा कैसे ? कैसे पढ़ाएगा ? तो जब उसमें ज्ञान ही नहीं है तो वो इन्द्रियाँ सहारा कहाँ से देंगी ?

पाँच इन्द्रिय और ये जो हृदय कमल वाला मन है, इनमें कोई ज्ञान नहीं है तो ये आत्मा को कोई सहारा नहीं देते।

अपन ने अतीन्द्रियज्ञान के भी दो भेद किये न ! कि – एक इन्द्रिय ज्ञान और एक अतीन्द्रियज्ञान। **पहले तो ये बात जानने लायक है कि सारा ज्ञान अतीन्द्रिय है; क्योंकि वो इन्द्रिय की सहायता से होता ही नहीं है।**

अब दूसरा ये कि जो इन्द्रियज्ञान है, वह अन्य विषयों में ही व्यवसाय करता है अर्थात् वो बहिर्मुख ही रहता है। पाँच इन्द्रियाँ तो आत्मा की तरफ झाँक ही नहीं सकतीं। इनका विषय तो केवल पुद्गल ही होता है। अब रहा मन, तो मन का विषय मूर्त और अमूर्त दोनों है। मन का विषय पुद्गल भी होता है और ये बाकी जो पाँच अमूर्त द्रव्य हैं – जीव, धर्म, अधर्म, आकाश, काल इत्यादि – ये सब उसके विषय होते हैं। उनमें केवल अमूर्त को जानने वाला मन होता है। अब मन को अनीन्द्रिय भी कहते हैं क्योंकि वो इन्द्रियों जैसा नहीं होता। वो तो मूर्त और अमूर्त दोनों को जानता है। इन्द्रियाँ केवल पुद्गल को जानती हैं, पुद्गल तक ही उनकी सीमा है।

अतीन्द्रियज्ञान में एक ज्ञान तो केवल बाहर के विषयों में व्यवसाय

करने वाला, माने उनको जाननेवाला (इसकी चर्चा ऊपर कर आए हैं) और दूसरा अतीन्द्रियज्ञान[1] माने क्या ?

अज्ञानदशा में जो सद्गुरु का उपदेश मिला और स्वसत्ता को भली प्रकार, अच्छी तरह, स्पष्टरूप से अपने ज्ञान में जाना और जानकर एकदम उसकी महिमा आई; क्योंकि सामने जो गुरु खड़ा है वो कह रहा है न ! कि इससे महिमावन्त, तेरे से महिमावन्त पदार्थ जगत में दूसरा नहीं है। अनन्त तीर्थंकर अपनी दिव्यध्वनि में तेरे गीत गाते हैं – ऐसा उस अज्ञानी को आचार्य कहते हैं। अनन्त तीर्थंकरों की वाणी, दिव्यध्वनि में तेरे गीत गाती हैं। है अभी अज्ञानी ! पर थोड़ी पात्रता है इसलिए उसको कह रहे हैं, तो वो अपनी महिमा को समझ जाता है और अपनी महिमा आते ही और उसके चिन्तन में लग जाता है, परन्तु स्वरूप स्पष्ट होना बहुत आवश्यक है कि जो चैतन्य है वो केवल चिद्रूप चेतनारूप, चेतना सर्वस्व है।

चेतना जहाँ तक पसरी है बस उतना चैतन्य है। बाकी शेष सब सारे भाव राग-द्वेष-मोह आठ कर्म-नोकर्म सारा जगत – ये सब अचेतन हैं, उनमें आत्मा नहीं है। इस तरह आत्मा का स्पष्ट स्वरूप जाना। उसके आकार-प्रकार, उसकी पर्यायें वगैरह सब उससे बाहर हो गईं। पर्याय भी बाहर हो गई, क्योंकि पर्याय भी आत्मद्रव्य से मेल नहीं खाती है। आत्म द्रव्य बिल्कुल नित्य है अक्षीण है; और वे क्षीण हैं, प्रतिसमय जानेवाली हैं और ये निर्विकारी है और वो विकारी भी हो जाती हैं।

पदार्थ अशुद्ध कैसे हो सकता है ?

आत्मा की पर्याय तो विकारी भी हो जाती है, इसीलिए वो पर्याय भी उससे बाहर रही – ऐसी सत्ता का निश्चय किया और उसमें कृपा गुरु की है, प्रसाद गुरु का है। गुरु ने ये सत्ता बताई कि एक ध्रुव जो अत्यन्त

1. यहाँ इन्द्रियज्ञान को ही स्वभाव की अपेक्षा अतीन्द्रियज्ञान कह कर उसके दो रूप बताये जा रहे हैं।

शुद्ध है, ध्रुव होने के कारण आत्मा शुद्ध है और अशुद्धि होने के तो केवल दो विकल्प हैं कि पदार्थ अगर अशुद्ध हो तो कैसे हो सकता है ? कि एक तो उसमें परिणमन हो और एक किसी की मिलावट हो सके; और इन दोनों का जगत में छहों द्रव्य में निषेध है, क्योंकि सारे ही द्रव्य अपरिणामी, अकर्ता और नित्य हैं।

दूसरी बात यह है कि उनमें कभी मिलावट होती ही नहीं है। जो विरुद्धभाव हैं, वे परस्पर भले ही उसकी पर्याय हों, लेकिन वे मिलते नहीं हैं। इस तरह उस अपरिणामी का ज्ञान हो, सही ज्ञान; और उसमें आकार–प्रकार की तलाश न करे कि कुछ तो दिखाई दे, क्योंकि दिखाई देना तो केवल चक्षु का धर्म है। पुद्गल में भी ऐसा स्वरूप है कि केवल वर्ण ही चक्षु इन्द्रिय का विषय बनता है। बाकी जो विषय हैं तो उनको हम आँख से कहाँ देखते हैं ?

पुद्गल में भी सभी गुण चक्षुगम्य नहीं हैं

जैसे रसना का विषय है तो उस स्वाद को हम आँख से देखें तो कौनसा रंग होता है उसका ? कि कौनसा वर्ण होता है ? अथवा कितना वजन होता है ? कितना भारी होता है ? कितना हल्का होता है ? क्या होता है ? पता लगता है क्या ? उस वस्तु का रंग तो देखते है, लेकिन उसका जो स्वाद है वो केवल रसना से जाना जाता है, आँख से नहीं जाना जाता। इसी प्रकार घ्राण, कर्ण और मन इन सबके जो विषय हैं, वो चक्षु से नहीं जाने जाते। इसीलिए आत्मा को जो आँख से देखने की चेष्टा आज के वैज्ञानिकों की तरह laboratory में, प्रयोगशाला में उसका प्रयोग करने की चेष्टा करते हैं कि – भाई ! उसका चिन्ह कुछ तो दिखाई देना चाहिए, वे सब नास्तिक लोग हैं। उनकी नास्तिक संज्ञा है। असली नास्तिक संज्ञा ये है, क्योंकि पुद्गल में जब वर्ण की बात है तो आत्मा तो बिल्कुल अमूर्त है वो तो पुद्गल से भी अन्य प्रकार का है, तो आँख से दिखाई देने का कोई प्रश्न नहीं है।

और दूसरा ये कि जो आँख के बिना ही दिखाई दे उसे आँख से क्यों देखना? और उसको आँख से देखने की हठ क्यों....माने व्यर्थ का आग्रह क्यों करना? लेकिन उसे देखने की आँख कोई दूसरे प्रकार की होती है, उसका नाम है ज्ञान। अमूर्त्त होने पर भी आत्मा ज्ञान से दिखाई देता है।

ध्यान के सम्बन्ध में होने वाले भ्रम

हम मुमुक्षु लोगों में भी ये होता है। कभी भ्रम होता है न जैसे किसी को! ध्यान करने बैठ जाता है और वो कुछ दिखा तो सफेद-सफेद सफेद-सफेद सा नजर आया - ऐसा कहते हैं। सफेद-सफेद तो पुद्गल होता है, वर्ण गुण की पर्याय है। आत्मा तो सफेद होता ही नहीं है अथवा उससे कोई दूसरा है क्योंकि भीतर से उसका आग्रह रहता है कि कोई तो रंग तो दिखाई देना चाहिए कि उसका पता चले कि वो है कोई चीज; तो वो ऐसे पता लगाना चाहता है। पर वो ये नहीं पता लगाना चाहता कि - ये जो नित्य हो रहा है, प्रतिसमय, जो मैं जो जान रहा हूँ, जो जानना हो रहा है और हर जीव ये जानता है कि मैं जानता हूँ, हर जीव इससे इन्कार कभी नहीं करता। तो ये कौन है? क्योंकि जहाँ कार्य होता है तो वहाँ पर कारण अर्थात् वस्तु अवश्य होनी चाहिए। वरना कार्य कैसे होगा? अगर वस्तु ही नहीं होगी, कोई सत्ता ही नहीं होगी, तो वहाँ पर परिणाम भी नहीं होगा, पर्याय भी नहीं होगी, काम भी नहीं होगा। इसलिए ये जो ज्ञान की पर्याय हो रही है तो ये स्पष्ट है, सुख और दु:ख जो होता है वो भी स्पष्ट है कि यहाँ पर कोई इस पुद्गल से, कोई धर्म से, अधर्म से, आकाश से, काल से कोई न्यारा पदार्थ यहाँ विद्यमान है और वो ज्ञान वाला है, वो मैं हूँ। इस तरह पात्र जीव आत्मा का निश्चय कर लेता है।

अब ये कहे कि उसका कोई आकार-वाकार! तो ये आकार तो एक पर्याय है। इसलिए आकार देखने वाला, आकार का आदर करने वाला,

पर्याय बुद्धि वाला अज्ञानी मिथ्यादृष्टि है – आकार तो व्यंजन–पर्याय है। अन्य तो अनन्त अर्थ पर्यायें हैं।

इस प्रकार ज्ञान आत्मा की सत्ता को इस तरह स्वीकार कर ले कि वो तो मात्र ज्ञान और आनन्द जैसी अनन्त शक्तियों का एक कोष है और उसको महत्त्व आ जाए कि ऐसा तत्त्व मैं हूँ, तो स्वतः ही उसका ज्ञान उस तरफ झुक जाता है, जैसे ढाल बन जाता है – slope और ढलान में भले ही गाड़ी को बन्द भी कर दे तो वो गाड़ी अपने–आप ही लुढ़कती है। इस तरह वो ज्ञान भी अपने–आप बिना पेट्रोल के शुद्धात्मा की तरफ लुढ़कता है, तब निर्विकल्प अनुभूति होती है।

ये अतीन्द्रियज्ञान का वास्तविक भेद (स्वरूप) है और उस अतीन्द्रिय ज्ञान का मतलब इन्द्रियज्ञान है, उसका नाम अपन ने इन्द्रियज्ञान इसलिए रखा क्योंकि वो केवल बाह्य पदार्थों में व्यवसाय करता है।

अनुभूति स्वरूप भगवान आत्मा

अनुभूति स्वरूप माने वो प्रतिसमय चलने वाली ज्ञान की पर्याय है लक्षण जिसका – ऐसा अनुभूति स्वरूप भगवान आत्मा, वो जानता है न कि ये अनुभूति जो है, वो ज्ञान है, ज्ञान की पर्याय है, तो ज्ञान की पर्याय में 'मैं जानने वाला हूँ' ऐसा निगोद का आत्मा भी जानता है।

मुमुक्षु :– ये कैसे बाबूजी ?

पूज्य बाबूजी :– उसको सुख–दुःख होता है न ? दुःख होता है न उसको निगोदिया जीव को ? उसे जानता है कि नहीं ? तो जानना स्वीकार किया कि नहीं उसने ? उसके कोई जबान नहीं है कि वह बोले कि मैं जानता हूँ; तो जबान का विषय तो ये है नहीं। लेकिन जानता है न ! भीतर से परिणति तो है न ऐसी कि मैं जानने वाला हूँ – इतना तो जानता है। लेकिन जानने वाला क्या होता है और कैसा होता है ? और

ज्ञान क्या होता है कैसा होता है? – तो इसका स्वरूप स्पष्ट विदित न होने के कारण वो अन्य का उसमें मिश्रण करके, अन्य से प्रतिबद्ध हो जाता है और अज्ञानी हो जाता है।

यदि ये उस ज्ञान को शुद्ध मान ले कि ज्ञान में जो मोह–राग–द्वेष दिखाई देते हैं, ये तो परभाव हैं ज्ञान से बाहर के भाव हैं। ये ज्ञान के भीतर नहीं आते लेकिन ज्ञान में इनका स्वरूप मात्र भासित होता है। अज्ञानी उस भासित होने वाले मोह–राग–द्वेष के स्वरूप से ज्ञान को अर्थात् आत्मा को मोही–रागी–द्वेषी मान लेता है।

ये एकदम आत्मानुभूति का प्रारम्भ है प्रारम्भ! कि वह कैसे प्रारम्भ होती है। जो मोह–राग–द्वेष से घबराया हुआ हो उसको आचार्य एकदम सुख की थपकी देते हैं कि तू मोह–राग–द्वेष से घबरा मत, क्योंकि वो तेरे ज्ञान में प्रविष्ट नहीं हुए और तेरी आत्मा में भी प्रविष्ट नहीं हुए। जो ज्ञान उनको जानता है, जब वे उसमें प्रविष्ट ही नहीं हुए तो आत्मा में प्रवेश का तो प्रश्न ही नहीं है क्योंकि ज्ञान की पर्याय मोह–राग–द्वेष को जानती है, जानने का काम करती है वे उसमें प्रविष्ट ही नहीं हुए, **वो इतना जाने कि ये मोह–राग–द्वेष का प्रतिभास तो सिर्फ मेरे ज्ञान में हो रहा है, उसके स्वरूपाकार मेरा ज्ञान बस जाननेरूप हो रहा है।** मैं मोह–राग–द्वेष के स्वरूप को मात्र जानता हूँ। मोह–राग–द्वेष कभी मेरे स्वरूप में, मेरे ज्ञान में, मेरे ज्ञान की पर्याय में नहीं आते। **इस तरह मेरी ज्ञान की पर्याय अर्थात् ये अनुभूति....शुद्धात्मानुभूति नहीं, ये जो चलने वाली पर्याय है इसका नाम ज्ञान अर्थात् अनुभूति! ज्ञान का ही दूसरा नाम अनुभूति है, जो रागादि में नहीं जाती।**

जो अनुभूति है वो शुद्ध है, बस! ऐसा जानते ही मैं शुद्ध हूँ, ज्ञान-स्वरूप हूँ – इस तरह शुद्धात्मा का अनुभव हो जाता है। आबाल–गोपाल सबके अनुभव में आया या नहीं कि मैं जानने वाला हूँ? इतना तो सब जानते हैं। पर वो क्या है, जानने वाला कैसा होता है और जानना क्या

और कैसा होता है – ये वो नहीं जानता तो अन्य के साथ प्रतिबद्ध हो जाता है। मैं अकेला निरालम्ब हूँ और जानना अर्थात् तीन लोक, तीन काल इतना जो अनन्त है उसको भी एक समय में जान लेना ऐसी मेरी शक्ति है, ऐसा मेरा स्वभाव है। ऐसा जाने तो मोह–राग–द्वेष की उपयोग के साथ, ज्ञान के साथ मिलावट नहीं करता अथवा आत्मा के साथ मिलावट नहीं करता।

ज्ञान तो शुद्ध ही है

सचमुच देखा जाए तो ज्ञान शुद्ध ही है। उसमें मोह–राग–द्वेष का और परपदार्थ का तो प्रवेश हुआ ही नहीं; तो वो तो शुद्ध ही है। लेकिन वो जो प्रतिभास है अर्थात् मोह–राग–द्वेष के स्वरूप का जो जानना है, वो जानना ऐसा लगता है जैसे कि ये मोह–राग–द्वेष ही हों, अज्ञानी को ऐसा भ्रम उसमें पैदा होता है तो वो अपने आप को मोही–रागी–द्वेषी अनुभव करता है।

ज्ञान मोही–रागी–द्वेषी हुआ ही नहीं है। मोह–राग–द्वेष तो ज्ञान की पर्याय के बाहर ही रहे, लेकिन उनका प्रतिभास अर्थात् उनके स्वरूप का जानना....क्योंकि इधर मोह–राग–द्वेष हैं और ये ज्ञान है। ये इधर ज्ञान–गंगा और ये उधर दूसरी तरफ मोह–राग–द्वेष की अटवी (जंगल) है, जो ज्ञान–गंगा की पगडण्डी पर चल रहा है, उसको ये अटवी (जंगल) ज्ञात होती है कि नहीं होती? इसी तरह ये जो parallel (समानांतर) चलने वाले मोह–राग–द्वेष, ज्ञान के समानान्तर चलने वाले हैं वो ज्ञान में भासमान होते हैं। अज्ञानी को भ्रम हो जाता है – जैसे तोते को लगता है कि मुझे नली (pipe) ने...(वो जो लकड़ी का एक बनाव है) मुझे पकड़ लिया है। बन्दर को भी भ्रम हो जाता है। इस तरह अनेक उदाहरण हैं – हाथी को भी स्फटिक की शिला पर भ्रम हो जाता है। स्फटिक की शिला के सामने जब हाथी होता है तो उसको दूसरा हाथी दिखाई देता है, तो उसको भ्रम होता है कि ये कोई दूसरा हाथी मुझे मारने आ रहा

है। तो वो टकराता है स्फटिक की शिला से और खून-खच्चर होकर मर जाता है। अज्ञानी आत्मा की भी यही स्थिति है।

अज्ञानी मोह-राग-द्वेष से टकराता है न! लेकिन वो तो अन्दर आए ही नहीं। आत्मा केवल द्रव्य-गुण-पर्याय स्वरूप है और पर्याय माने ज्ञान स्वरूप; और दूसरी इसकी पर्याय हैं ही नहीं। आत्मा तो इतना ही है और उससे बाहर सब अनात्मा हैं। ये मोह-राग-द्वेष अनात्मा हैं और ज्ञान अनात्मा को जान सके इतनी इसकी योग्यता है, इतनी इसकी शक्ति है, पर्याय का भी स्वभाव है; तो ज्ञान उनको जान लेता है। जानने में ठीक वैसा का वैसा होता है न! राग का जैसा स्वरूप है, ठीक वैसा का वैसा ज्ञान में भासित होता है, तो ये मान लेता है कि मैं रागी-मोही और द्वेषी हो गया।

ज्ञान की स्वच्छता और निर्मलता

ये तो ज्ञान है; ज्ञान ही है और कुछ नहीं है। मेरे ज्ञान में किसी का प्रवेश होता ही नहीं है - पहले तो ऐसा जान ले कि ज्ञान शुद्ध है। पहले तो ज्ञान स्वच्छ था, स्वच्छता में मात्र प्रतिभास होता था लेकिन इसको भ्रम के कारण ज्ञान में मोह-राग-द्वेष प्रतिभासित होते थे और अब जब इसने जाना कि मोह-राग-द्वेष तो न्यारे ही हैं और मैं मात्र सिर्फ जानन स्वभाव वाला हूँ, इसलिए ये जानने में आ जाते हैं। **मुझे जानना भी नहीं है लेकिन ये जानने में आ जाते हैं। ये जो जानने में आते हैं तो इनका स्वरूप जैसा जानने में आता है वो मोह-राग-द्वेष नहीं पर वो ज्ञान है। और ज्ञान है अर्थात् मैं ही हूँ।** मैं इनसे क्यों टकराऊँ? मैं अपने से टकराऊँ? माने स्फटिक की शिला से सिर फोड़ूँ? इस प्रकार ज्ञान को स्वीकारे तो अनुभूति हो जाती है, माने शुद्ध अनुभूति हो जाती है। ये जो अनुभूति है, अभी ये भी वास्तविक नहीं है।

आबाल-गोपाल सबके अनुभव में आ गया कि नहीं कि मैं जानने वाला हूँ? बस इतना! इसका नाम आबाल-गोपाल सबके अनुभव में सदा सर्वत्र सदैव जानने में आ रहा है - ऐसा।

प्रतिभास अर्थात् ज्ञान

मुमुक्षु :- बाबूजी! जो समानान्तर पटरी पर चलने वाला राग अर्थात् जो मोह-राग-द्वेष का प्रतिभास है, वो भी जानन-भावरूप है न?

पूज्य बाबूजी :- जानन-भावरूप, हाँ! जानन-भाव तो ज्ञान है न? ज्ञान है और क्या? प्रतिभास माने ज्ञान, बस! क्योंकि वे रागादि ज्ञान में आ नहीं सकते हैं न! कुदरत की व्यवस्था, जो विश्व की व्यवस्था है उसी में निषेध है कि जो विजातीय तत्त्व हैं वो किसी दूसरे में प्रवेश नहीं करेंगे - अपने से जो विजातीय हैं; आत्मा उनसे विजातीय है और उधर मोह-राग-द्वेष आत्मा के विजातीय हैं। परस्पर विजातीय हैं तो वो प्रवेश नहीं करेंगे। अनुभूति का प्रारम्भ यहाँ से होता है। अनुभव करने का जो व्यवसाय है वो यहाँ से होता है।

खास बात तो है कि ये संसार से घबराया हुआ होता है और नरक-तिर्यंच-मनुष्य से और देवगति के दुखों से/सुखों से! और अनादि से निरन्तर प्रतिसमय मोही-रागी-द्वेषी हो रहा है। जिस क्षण सद्गुरु का प्रसाद मिला उसी समय जागा और जागकर देखा कि इनका प्रवेश अपने में होता ही नहीं है क्योंकि ये तो विजातीय हैं। मेरे ज्ञान में सिर्फ प्रतिभास होता है, माने जानना मात्र होता है, बस इतना! तो ठीक वैसा का वैसा जानना होता है न। जैसा राग है, मोह है, ठीक वैसा का वैसा जानना होता है तो वो मान लेता है कि ये ही है। जैसे उसने हाथी ने मान लिया कि ये जो है ये दूसरा हाथी है।

इस तरह ये दूसरे हैं, माने ये जो ज्ञान है मेरा ये मोही-रागी-द्वेषी हो गया - ऐसा मान लेता है अर्थात् विजातीय का मेरे में प्रवेश हो गया। जैसे उस स्फटिक की शिला में दूसरा हाथी आ गया तो वो टकराता है। कुत्ता जैसे काँच के मन्दिर में चला जाए तो वो टकराता है और भौं-भौं करता है, क्योंकि उसको कुत्ते ही कुत्ते दिखाई देते हैं। इसलिये वह बहुत जोरों से टकराता है। फिर वो जो घबराहट है न अनादिकाल की, वो तो केवल

सविकल्प दशा में ही समाप्त हो जाती है।

मुमुक्षु :- ये भी सविकल्पदशा है?

पूज्य बाबूजी :- ये भी सविकल्पदशा है कि मोह-राग-द्वेष मेरे से कतई न्यारे ही हैं सचमुच! पैदा हुए हों भले ही। जैसे कोई खेत है तो उसमें चावल पैदा हुए। उसके साथ में काँटों की झाड़ी भी पैदा होगी। तो वो काँटों की झाड़ी चावल थोड़ी न बन गई। इस तरह ज्ञान इधर पैदा हुआ माने ज्ञान की पर्याय का उत्पाद, उधर मोह-राग-द्वेष का उत्पाद ये साथ ही साथ होता है, पर ये एक नहीं होते क्योंकि दोनों परस्पर विरुद्ध स्वभाव वाले हैं। ज्ञान में मोह-राग-द्वेष नहीं है और मोह-राग-द्वेष में ज्ञान नहीं है। यहाँ से अनुभूति का प्रारम्भ होता है; क्योंकि घबराया हुआ होता है न! कर्म का उदय, दर्शन-मोहनीय जैसा प्रबल शत्रु, अनन्तानुबन्धी जैसा महाबैरी - इनका उदय और मेरे भीतर मिथ्यात्व का भाव क्रोध-मान-माया-लोभ का भाव, कैसे नष्ट करूँ? कैसे टालूँ?

अरे! कुछ नहीं करना है। ये नाश करना आत्मा का काम थोड़े ही है। किसी का नाश करना ये आत्मा का काम नहीं है। बस! सिर्फ इतना जानना है कि ये मैं नहीं हूँ ये मेरे नहीं हैं, अलग हैं! और अनादि से सदा अलग ही रहे हैं।

आगे भी अगर रहेंगे तो अलग ही रहेंगे, इसलिए ये मात्र मेरे ज्ञेय तत्त्व हैं। ज्ञेय तत्त्व से विमुख हो जाता है। ज्ञेय जाना कि विमुख हुआ और स्व-सन्मुख होकर अनुभव करने लगता है।

इस प्रकार वह ज्ञेय की ओर से तुरन्त मुड़ जाता है। माने वे अपने हैं ही नहीं, मेरा परिवार ही नहीं है। मेरे सगे-सम्बन्धी ही नहीं हैं। मेरा कोई कुटुम्ब ही नहीं ये, इनसे मेरा कोई पारिवारिक सम्बन्ध नहीं है बस! मुड़ जाता है। जैसे पुद्गल से, देह इत्यादि से मुड़ता है - ऐसे उनसे भी मुड़ जाता है, ज्ञान लौट जाता है और फिर तो एक ध्रुव ही बाकी रहता है। सारे विश्व में अब कौन बचा? बस! मैं बचा।

अनुभूति के दो स्वरूप

मुमुक्षु :– ज्ञान की पर्याय का स्वच्छत्व से....(अनुभव हो जाता है?)

पूज्य बाबूजी :– हाँ! अनुभूति होती है, तो पर्याय निर्मल हो जाती है; पहले स्वच्छ है।

मुमुक्षु :– कौन, ज्ञान की पर्याय?

पूज्य बाबूजी :– **ज्ञान की पर्याय! जो पदार्थ ज्ञान में भासमान होते हैं; उनका जो स्वरूप है, वो उसमें भासमान होता है, उसको प्रतिभास कहते हैं।** ज्ञान की पर्याय का ही दूसरा नाम प्रतिभास है – साकार अर्थात् आकार सहित है। वो हमेशा होती है पर ज्ञानी उसको गौण कर देता है कि ये क्या है? इसमें मेरा क्या है? इसमें मेरा क्या है? इन सबका स्वरूप तो ज्ञान ही है। कुछ विशेष हो तब तो जरूर मैं इसको देखूँ। भाई! इसमें कुछ विशेषता ही नहीं है तो उससे भी मुड़ जाता है।

ज्ञानी अपनी ज्ञान की पर्याय से मुड़कर ज्ञायक पर चला जाता है, केन्द्रित हो जाता है, तो अनुभूति हो जाती है, सच्ची अनुभूति। अब सच्ची अनुभूति हुई। पहले जो अनुभूति शब्द है वो प्रतिसमय चलनेवाली ज्ञान की पर्याय है। ये अनुभूति सैनी पंचेन्द्रिय मनवाले जीव को होती है।

मुमुक्षु :– क्या इसे पर्याय का सामान्य स्वरूप कहा जावे?

पूज्य बाबूजी – हाँ!

मुमुक्षु :– पर्याय का सामान्य स्वरूप, माने अनादि–अनन्त सभी पर्यायों का सामान्य.... ।

पूज्य बाबूजी :– नहीं! वो तो जो ज्ञान की पर्याय है, वो पाँच इन्द्रिय और मन वाली है। पर है ज्ञान! ज्ञान ही है, मोह–राग–द्वेष तो नहीं है। मोह–राग–द्वेष न्यारे ही हैं और वो भी फिर जब ज्ञान में मोह–राग–द्वेष

का प्रतिभास हुआ तो इसने अपने आपको मोही–रागी–द्वेषी मान लिया, क्योंकि ठीक वैसा का वैसा प्रतिभास होता है न?

ज्ञान में ज्ञान ही ज्ञात होता है

जैसे किसी व्यक्ति का जो आकार है, तो उसका जो फोटो बनाया गया, वो ठीक वैसा का वैसा लगता है, जरा भी फरक नहीं लगता। लेकिन वो फोटो है; अब उससे कोई पुत्र जो है वो पैसा माँगे कि पिताजी! पैसा दो। तो क्या देगा वो? क्योंकि वो पिताजी हैं ही नहीं।

मुमुक्षु :– इसका मतलब मेरे ज्ञान ने बाबूजी को कभी जाना ही नहीं है।

पूज्य बाबूजी :– जाना ही नहीं है।

मुमुक्षु :– बाबूजी के सम्बन्ध का जो ज्ञान है, वो मैं हूँ?

पूज्य बाबूजी :– ज्ञान ने सदा ज्ञान को ही जाना है और उससे आगे कि ज्ञान ने सदा ध्रुव को ही जाना है और ध्रुव को ही जानता है। एक बार ध्रुव को जान लेने के बाद भले ही हट जाए, लेकिन हट जाए तो भी...जैसे मणिधर सर्प होता है, वो मणि को बीच में रख देता है और उस मणि के प्रकाश में वो घूमता है। वो बाहर भी जाता है तो उसके प्रकाश की सीमा में ही घूमता है। इस तरह ज्ञान बाहर भी चला जाता है तो भी परत्व लेकर जाता है और स्वत्व जिसके साथ था, अपनापन जिसके साथ एक बार किया उसको कभी भूलता नहीं है और बार–बार याद भी नहीं करता।

मुमुक्षु :– वाह रे वाह! बार–बार याद भी नहीं करता!

पूज्य बाबूजी :– और भूलता भी नहीं है। ये बात तो रोज होती है।

मुमुक्षु :– बाबूजी, यहाँ से राग और ज्ञान की भिन्नता भासती है?

पूज्य बाबूजी :– वो तो भास गई न, राग और ज्ञान की भिन्नता तो भास गई।

अनुभूति स्वरूप आत्मा से आशय ज्ञान की पर्याय

मुमुक्षु :- बाबूजी एक बात सवेरे आई थी कि अनुभूति स्वरूप; तो अनुभूति स्वरूप का अर्थ द्रव्यरूप से करना चाहिए, द्रव्य स्वभाव से करना चाहिए? उसका थोड़ा सा ज्यादा स्पष्टीकरण। क्योंकि....

पूज्य बाबूजी :- हो गया न स्पष्टीकरण कि वो द्रव्य उतना ही है। जो अनुभूति है वो शुद्धात्मा की अनुभूति नहीं है, लेकिन अनुभूति माने प्रतिसमय चलने वाली ज्ञान की पर्याय, इसका नाम अनुभूति है। इसका नाम अनुभूति है क्योंकि वो अनुभवरूप होती है न! किसी न किसी के अनुभवरूप तो होती है, इसलिए अनुभूति है। लेकिन वो अनुभूति भी है आत्मा का लक्षण! और ये उसको मान लेता है रागी-द्वेषी-मोही।

मुमुक्षु :- ये क्या कहा? अनुभूति लक्षण है?

पूज्य बाबूजी :- आत्मा का लक्षण ही है और ये उसको रागी-द्वेषी और मोही, राग-द्वेष-मोह का मिश्रण करके रागी-द्वेषी-मोही मान लेता है।

मुमुक्षु :- ये जो सवेरे कहा था कि अनुभूति स्वरूप माने कारणशुद्ध-पर्याय से उसका अर्थ होता है, वो थोड़ा स्पष्टीकरण कीजिये?

पूज्य बाबूजी :- वो नहीं, वो अनुभूति नहीं; वो अलग है न। वो अनुभूति तो द्रव्य के अर्थ में है, अन्यथा विषयान्तर हो जायेंगे न अपन!

अनुभव की प्रक्रिया

अभी तो ये विषय बहुत सुन्दर है कि अनुभव की प्रक्रिया को प्रारम्भ कैसे करें? क्योंकि हम तो घबराए हुए हैं। तो कहते हैं घबराओ मत, एक बात! ये तुम्हारे भीतर आए ही नहीं हैं, तुमसे हमेशा न्यारे ही रहे हैं। तो इसको एकदम प्रसन्नता होती है कि मेरे से न्यारे रहे हैं? और मेरे को छूते तक नहीं? और ये बिल्कुल विजातीय तत्त्व हैं पुद्गल हैं, जड़ हैं,

अचेतन हैं – ऐसा जाना तो जानते ही ज्ञान में एकदम प्रसन्नता होती है और ध्रुव का स्वरूप गुरुदेव से सुना ही है, तो ध्रुव के स्वरूप का चिन्तन शुरू हो जाता है, फिर मोह–राग–द्वेष का देखना नहीं होता, तो ध्रुव का चिन्तन प्रारम्भ हो जाता है और उस चिन्तन में भी फिर धीमापन आता जाता है। पहले चिन्तन औरों पर चलता है और फिर वो धीमा हो जाता है।

जैसे बर्फ है न, पानी था अब वो जमने लगा। तो जमने में समय लगता है। जब तक तरलता रहती है, तब तक उसमें हिलने की संभावना रहती है और जब बर्फ बन जाता है तो एकदम घनत्व हो गया। इस तरह वो चिन्तन चलते–चलते चिन्तन रुका और अनुभूति का जो बर्फ का घनत्व है, वो प्रगट हो गया।

ज्ञान में ज्ञेय दिखते हैं यह झूठ है या व्यवहार ?

मुमुक्षु :– तो बाबूजी! मेरे ज्ञान में 'ये बाबूजी हैं' वो जो निर्णय आता है वो क्या है? मेरे ज्ञान में अभी हुआ था कि 'ये बाबूजी बैठे हैं, ये बाबूजी हैं' – वो क्या है?

पूज्य बाबूजी :– ज्ञान है, वो ज्ञान है।

मुमुक्षु :– तो बाबूजी, ये भ्रान्ति हो गई न! मतलब ये जो माना कि 'ये बाबूजी हैं' – ये भ्रान्ति हो गई?

पूज्य बाबूजी :– ये हमेशा की भ्रान्ति है, यही भ्रान्ति है, इसी को तो तोड़ रहे हैं कि जो तेरे बाहर है, वो भीतर कहाँ से आएगा? इसलिए ये मुझे दिखाई देते हैं – ये भी झूठ है।

मुमुक्षु :– ये मुझे दिखाई देते हैं – ये झूठ है?

पूज्य बाबूजी :– झूठ है; आत्मा को देखे बिना। आत्मा को देखे बिना ऐसा बोले कि ये मुझे दिखाई देते हैं तो ये झूठ है और आत्मदर्शन हो जाए और फिर ये बोले तो व्यवहारनय है,

क्योंकि बोलना तो होता है, ज्ञानी की भाषा थोड़ी न बदल जाती है। अभी रोटी नहीं बनी क्या? देर बहुत हो गई, क्यों नहीं बनाई? जल्दी जाना है, ये सब नहीं होता ज्ञानी को? लड़ाई-झगड़ा, व्यवसाय सब कुछ।

भाव-इन्द्रिय ज्ञान का स्वरूप

मुमुक्षु :- बाबूजी! ये चक्षु इन्द्रिय के विषय को उसने जानना मान लिया - ऐसा हुआ न यही भ्रान्ति हुई?

पूज्य बाबूजी :- चक्षु से जानना मान लिया - ये भ्रान्ति है। चक्षु तो जानने से शून्य है। तो जो ज्ञान-शून्य है, उससे ज्ञान पैदा होगा? या उसकी सहायता से ज्ञान पैदा होगा? क्या सहायता देगा वो? जो निरक्षर है, वो साक्षर बनाएगा किसी को?

मुमुक्षु :- तो चक्षु इन्द्रिय का उघाड़, वो क्या है? ये द्रव्य चक्षु है, इसका उघाड़ उसको क्या बोलें?

पूज्य बाबूजी :- वो ज्ञान भाव-इन्द्रिय ज्ञान है, उसका उघाड़ माने भाव-इन्द्रिय। चक्षु तो केवल निमित्त है, माध्यम है, क्योंकि वो तो ज्ञान की कमजोरी है। जैसे कमजोर आदमी कोई सहारा लेता है न? कोई व्यक्ति अपने पुत्र का सहारा लेकर चलता है, लकड़ी का सहारा लेकर चलता है। सहारे का अर्थ ये कि वो सहारा दे रहा है - ऐसा नहीं। वह तो अपनी ही ताकत से चल रहा है। इधर अपनी ताकत और उधर लकड़ी का होना, दोनों साथ-साथ होते हैं। लेकिन उससे सहायता नहीं होती, अब उससे चला नहीं जाता और मैं लकड़ी से चलता हूँ - ऐसा कहता है, लेकिन क्या भीतर से नहीं मानता कि जब हाथ-पैर टूट ही जायेंगे तो लकड़ी क्या करेगी? शक्ति ही नहीं रहेगी।

मुमुक्षु :- तो ये 'भाव-इन्द्रिय' के लिए 'ज्ञान' शब्द का प्रयोग क्यों किया? भाव-इन्द्रियज्ञान मतलब?

पूज्य बाबूजी :- भाव-इन्द्रिय माने इन्द्रियों के माध्यम से होने वाला ज्ञान! द्रव्य-इन्द्रिय माने ये पौद्‌गलिक इन्द्रियाँ। उन सबको जड़ में डाला, पर में डाला, क्योंकि उसका व्यापार भी सदा से पर में होता रहा है।

मुमुक्षु :- है तो ज्ञान, लेकिन परद्रव्य में डाल दिया क्योंकि पर का सहारा ले लिया!

पूज्य बाबूजी :- पर का ही है न! पर का ही है सदा। वो पर में ही निरंतर व्यवसाय करता है और स्व में जिसने व्यवसाय किया ही नहीं, अपने आपको जाना ही नहीं और अपने को पर का ज्ञाता मानता है, तो उसने अपनी सत्ता ही स्वीकार नहीं की तो पर को क्या जानेगा? इसलिए वास्तव में तो वो जानता ही नहीं है। आचार्यों का शब्द ऐसा है कि उसको ज्ञान भी नहीं है और उसको सुख भी नहीं है। कलश टीका, कलश 1 में कहा है न!

मुमुक्षु :- और आत्मज्ञान के बाद ज्ञान भी है और सुख भी है, दोनों हैं।

पूज्य बाबूजी :- उसके साथ राग पैदा होता है क्योंकि अनुभूति नहीं हुई। अनुभूति नहीं हुई तो ये ज्ञान का विकल्प है और ज्ञान का विकल्प है इसलिए राग पैदा होता है और ज्ञान जब निर्विकल्प होकर अनुभूतिरूप बन जाता है तो फिर राग का जन्म नहीं होकर सुख का ही जन्म होता है, अतीन्द्रिय आनन्द का जन्म होता है ।

❖❖❖

तत्त्वचर्चा : क्रमांक 4

(28 जनवरी 1999)

इस चर्चा में ध्यान का स्वरूप, ध्यान के भेद, आत्मध्यान की विधि, अनुभूति में स्वपरप्रकाशक आनन्द और सुख का स्वरूप, ध्यानाभास आदि विषयों का मार्मिक स्पष्टीकरण किया गया है।

मुमुक्षु :- ध्यान किसे कहते हैं? आत्म–ध्यान की विधि क्या है? कृपया ध्यान के ध्येय का स्पष्टीकरण कीजिए?

पूज्य बाबूजी :- ध्यान का लक्षण है एकाग्र संचेतन लक्षण। एकाग्रचिंतानिरोधो ध्यानम् (मोक्षशास्त्र अधिकार 9, सूत्र 27) ऐसा तत्त्वार्थसूत्र में है। किसी एक पदार्थ अथवा उसकी अवस्था में उपयोग का एकाग्र होना – इसका नाम ध्यान है, अन्तर्मुहूर्त पर्यंत। अन्तर्मुहूर्त पर्यंत उपयोग का किसी एक भाव में, एक पदार्थ में, द्रव्य में, गुण में, पर्याय में किसी में एकाग्र होना – इसका नाम ध्यान है। अन्तर्मुहूर्त पर्यंत! लक्षण तो सबमें यही घटित होता है। अब वो ध्यान शुभ और अशुभ ऐसा दो प्रकार का होता है – आर्तध्यान और रौद्रध्यान।

आर्तध्यान – आर्तध्यान माने आर्तरूप परिणाम, आर्त परिणाम, दुखी परिणाम। तो **आर्तध्यान** – इसके हर एक ध्यान के चार भेद हैं न। इष्ट वियोगज, अनिष्ट संयोगज, पीड़ा चिंतन (रोग जनित) और निदानबंध (निदान जनित) – ये आर्तध्यान के भेद हुए।

इष्ट वियोगज – इष्ट का वियोग हो तब उसमें शोक करना, अन्तर्मुहूर्त पर्यंत विलाप करना – अन्तर्मुहूर्त माने वो पूरा अन्तर्मुहूर्त नहीं। अन्तर्मुहूर्त के तीन भेद हैं – जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट। तो उसमें से मध्यम अन्तर्मुहूर्त उसकी पीड़ा का चिन्तन करना, शोक का, विरह का अथवा

वियोग का, वो तो है इष्ट वियोगज। **अनिष्ट संयोगज** – जो अपने को अच्छा नहीं लगता हो ऐसे पदार्थ का चिन्तन करना कि क्यों मिल गया? क्यों आया ये? इसे चला जाना चाहिए। ये मुझे नहीं चाहिए – इस तरह दुखी परिणाम करना वो अनिष्ट संयोगज। **पीड़ा चिन्तन** – शरीर में पीड़ा होने पर, व्याधि होने पर, रोग होने पर इसी का चिन्तन करना। अन्तर्मुहूर्त सबमें लगाना, वो कितना ही चल सकता है आगे; तो वो अन्तर्मुहूर्त, अन्तर्मुहूर्त, अन्तर्मुहूर्त इस तरह भी हो सकता है और **निदानबंध** – आगामी काल के लिए भोगों की आकांक्षा करना, ये निदानबंध।

रौद्रध्यान – यह भी अशुभ होता है। हिंसानन्द, मृषानन्द, चौर्यानन्द (स्तेयानन्द) और परिग्रहानन्द। **हिंसानन्द** – माने हिंसा करके और आनन्दित होना। हिंसा का परिणाम करके अथवा उसके साथ में हो जाए तो द्रव्यहिंसा भी हो जाए। द्रव्यहिंसा तो ये नहीं करता लेकिन द्रव्यहिंसा का भाव करता है। तो द्रव्यहिंसा का भाव और उसके साथ द्रव्यहिंसा हो जाए, उसमें आनन्द मानना। यानि जिसको ये नहीं चाहता है उसका कुछ भी नुकसान होना, मतलब बिगाड़ होना – उसका नाम हिंसानन्द अर्थात् हिंसा करके आनन्दित होना। **मृषानन्द** – झूठ बोलकर आनन्दित होना; झूठ बोलने से कोई वस्तु मिल जाए, वो झूठ से तो मिली नहीं बल्कि पूर्व–योग से मिलती है। लेकिन वो व्यक्ति झूठ बोलकर आनन्दित होता है न! व्यवसाय में कहीं भी अपने इष्ट के सिद्धि के लिए, किसी भी तरह से। **चौर्यानन्द** – चोरी करके आनन्दित होना। और **परिग्रहानन्द** – परिग्रह का संचय जितना हो उससे और अधिक होता जाए उसमें आनन्दित होना, ये परिग्रहानन्द है।

ये आर्तध्यान और रौद्रध्यान अशुभ होते हैं। **मुनिराज को रौद्रध्यान नहीं होता परन्तु आर्तध्यान हो सकता है, लेकिन वो भी शुभरूप होता है। जैसे संघ में किसी आचार्य का वियोग हो जाए तो**

मुनिराजों को उसमें दु:ख का वेदन होता है, लेकिन है वो शुभरूप अथवा किसी मुनिराज का ही वियोग हो जाए तो उसमें आचार्य को भी विचार आवे, तो वो आर्तध्यान मुनिराज को भी होता है। पर निदान-बंध मुनिराज को नहीं होता। आर्तध्यान का चौथा भेद मुनिराज को नहीं होता।

अब दूसरे जो शुभ ध्यान हैं, वो केवल आत्मा में एकाग्र संचेतन लक्षण वाले हैं, जिसमें आत्मा को अग्र करके माने एक मात्र आत्मा में उपयोग को लगाकर और जो अवस्था होती है, स्वसंवेदन रूप, निर्विकल्प समाधिरूप जो अवस्था होती है, वो भी अंतर्मुहूर्त के लिए होती है। अन्तर्मुहूर्त माने मध्यम अन्तर्मुहूर्त, उत्कृष्ट नहीं। जो उत्कृष्ट होता है तो केवलज्ञान हो जाता है। इसलिए मध्यम अन्तर्मुहूर्त पर्यंत आत्मा का एकाग्र संचेतन माने शुद्धात्मा की अनुभूति, आनन्दमय अनुभूति होना... उसमें आनन्द होता है अतीन्द्रिय-वास्तविक आनन्द होता है, उसका नाम धर्मध्यान है और उसी का विशेष और अधिक तीव्रता से वेदन होना, तीव्र पुरुषार्थ से जिसमें कि कर्मों के जत्थे के जत्थे खिर जाते हैं अपने आप - ऐसा शुक्लध्यान; ये दो ध्यान शुभ होते हैं और दो ध्यान अशुभ होते हैं।

अन्तर्मुहूर्त के भेद

बस! अन्तर्मुहूर्त होता है, माने एक मुहूर्त होता है 48 मिनट का। तो 48 मिनट से कम, माने 48 मिनट में एक समय कम और आँवली से ऊपर - यह तो उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त हुआ। 'आँवली' माने ये करणानुयोग का शब्द है, समय का एक परिमाण (measurement) है। आँवली से ऊपर का जो समय है एक समय ऊपर, वो जघन्य अन्तर्मुहूर्त है। इन आँवली और उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त के बीच में....माने 48 मिनट से एक समय कम और आँवली के एक समय से और ऊपर जो भी है वो सब मध्यम अन्तर्मुहूर्त के भेद हैं।

अब आँवली किसे कहते हैं? एक श्वांस में संख्यात् आँवली होती हैं। अपन जो एक श्वांस लेते हैं – श्वासोच्छ्वास, उसमें संख्यात् आँवली होती हैं। ये अपनी आगम की परिभाषा है। श्वासोच्छ्वास किसे कहते हैं? एक स्वस्थ पुरुष की नाड़ी जितने समय में एक बार चलती है उतने समय को श्वासोच्छ्वास कहते हैं। एक स्वस्थ पुरुष की नाड़ी जितने समय में एक बार चलती है उसको एक श्वासोच्छ्वास कहते हैं और एक मुहूर्त में 3773 श्वासोच्छ्वास होते हैं।

अंतर्मुहूर्त – आँवली से ऊपर के समय को, आँवली से और एक मुहूर्त से कम समय को अन्तर्मुहूर्त कहते हैं। आँवली से ऊपर माने एक समय अधिक। एक श्वांस में संख्यात् आँवली होती हैं। संख्यात्, असंख्यात् और अनन्त – ये अपने यहाँ जैन-गणित (mathematics) के भेद हैं। संख्यात् माने जिसकी संख्या हो और असंख्यात् माने जो संख्या में नहीं आवें और अनन्त माने जिनका अन्त न हो – ऐसा अनन्त। अब चौथा, एक मुहूर्त में 3773 श्वासोच्छ्वास होते हैं। तो अन्तर्मुहूर्त में उससे कम होंगे। 3685 या कुछ ऐसा आता है अन्तर्मुहूर्त में।

आत्मध्यान की विधि

अब आत्म-ध्यान की विधि क्या है? आत्मानुभूति की जो विधि है वही आत्मध्यान की विधि है क्योंकि ध्येय जो है वो ध्रुव होना चाहिए तो परिणति उसमें अचल रहेगी और ध्येय यदि चलित होगा, जैसे कि पर्याय को ध्येय बनायेगा अथवा परपदार्थ की पर्याय को ध्येय बनायेगा तो परिणति चलायमान होगी। इसलिए ध्यान एकाग्र संचेतन है – चिन्ता निरोध शब्द है, लेकिन चिन्ता-निरोध का अर्थ वहाँ अनुभव है। **एकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानमान्तर्मुहूर्तात्** (एकाग्रचिन्ता का निरोध ध्यान है, अन्तर्मुहूर्त ध्यान का उत्कृष्ट काल है)। तो जो ध्रुव आत्मतत्त्व है उसमें एकाग्र होना ये अनुभूति की विधि है, इसे अनुभूति कहते हैं और

जो अनुभूति है वो मध्यम अन्तर्मुहूर्त की होती है और उसी को ध्यान कहते हैं।

क्या है कि अपनी जो परिणति है वो एक-एक समय की होती है। तो एक समय की परिणति का नाम ध्यान नहीं होगा। वो एक ही परिणति अन्तर्मुहूर्त पर्यंत चले तो उसका नाम ध्यान हो जाएगा। एक-एक समय की होगी तो उसका नाम परिणति, परिणाम, अनुभव, अनुभूति है और वही अनुभूति एक समय-समय करके और अन्तर्मुहूर्त पर्यंत हो....अन्तर्मुहूर्त पर्यंत तो होती ही है आत्मानुभूति, तो उसका नाम ध्यान है। इसलिए अनुभूति की जो विधि है कि आत्मा को जगत के सारे पदार्थ और अपनी समस्त पर्यायें उनसे खाली करके और एक मात्र उसमें ध्रुव की स्थापना करना - इसका नाम शुद्धात्मानुभूति है और उसमें आनन्द का वेदन होता है।

मन को सबसे खाली करे, माने मनरूप जो ज्ञान को, उपयोग को सर्व जगत से - सारे विकारी भाव, आठ प्रकार के कर्म और अपनी भी शुद्धाशुद्ध पर्यायें, उन सबसे खाली करके अकेले ध्रुव पर उपयोग को स्थापित करना और उसमें अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव होना, इसका नाम ध्यान है। **अतीन्द्रिय आनन्द का जो अनुभव होता है ये उसे करता नहीं है। ये तो करता है माने मैं ज्ञायक हूँ, चिन्मात्र हूँ - ये तो इतना (अनुभव) करता है और जिस समय वो आनन्द उत्पन्न होता है, उस समय भी वो अपने ध्रुव से स्खलित नहीं होता, वहाँ से उसका पतन नहीं होता तो उधर आनन्द का जन्म होता रहता है।** जहाँ ध्रुव से इसका उपयोग हटा तो वो आनन्द कपूर हो जाता है, चला जाता है। लेकिन उसमें फर्क है कि ये अनुभव के समय जो आनन्द होता है वो तो सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान या स्वसंवेदन ज्ञान, उसके कारण जो आत्मा की समस्त पर्यायों में आंशिक शुद्धि प्रगट हुई....माने श्रद्धा की पर्याय तो सम्पूर्ण शुद्ध हुई और ज्ञान की पर्याय भी शुद्ध ही है। केवलज्ञान

की अपेक्षा नहीं लें तो ज्ञान की पर्याय भी शुद्ध ही है। और चारित्र में आंशिक परिणति माने आत्मा में स्थिरता-लीनता उसका नाम चारित्र, आचरण है। आचरण माने चलना-फिरना नहीं। आत्मा में स्थिरता और लीनता, उसका नाम चारित्र है।

अनुभूति में स्व-पर प्रकाशक

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र तीनों का जन्म एक समय में होता है। पर जो ध्यान करनेवाला है, उसका ध्यान इनकी ओर नहीं जाता और इनसे उत्पन्न होने वाले माने सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र से उत्पन्न होने वाले अतीन्द्रिय आनन्द पर भी उसका ध्यान या उसका उपयोग नहीं जाता। **केवल ध्रुव पर उसका उपयोग रहता है, तो उधर ये आनन्द चलता रहता है। वो भी जानने में आता है लेकिन परतत्त्व के रूप में, स्वतत्त्व के रूप में नहीं। स्वात्मा के रूप में नहीं बल्कि परात्मा के रूप में जानने में आता है क्योंकि ज्ञान है; तो ये भीतर ही भीतर का स्वपरप्रकाशक हुआ।**

स्व तो है शुद्धात्मा और ये आनन्द जो है पर्याय, तो ये हुई पर, क्योंकि शुद्धात्मा से इसका मेल नहीं है। वो है नित्य और ये है अनित्य। वो है शुद्ध, पूरा शुद्ध, त्रैकालिक शुद्ध और ये है एक समय का शुद्ध। ये परिवर्तन पाने वाली है और वो अविनश्वर है; ये उत्पाद-व्ययवाली है। इसलिए इस पर उसका उपयोग नहीं जाता, इसलिए ये परतत्त्व है, क्योंकि शुद्धात्मा को स्व माना न! शुद्धात्मा जैसा जगत में और कोई नहीं है - इसकी पर्यायों सहित, सिद्ध दशा सहित कोई इसका नहीं है इसलिए वो सब परतत्त्व हैं। बल्कि आचार्यों ने तो कहा कि ये सब पुद्‌गल के परिणाम हैं।

इसलिए ध्यान का ध्येय ध्रुव होता है - जैसे लक्ष्य-वेध (निशाना लगाना) होता है। ध्रुव हो तो लक्ष्य-वेध होता है। अब कोई चीज जैसे यूँ फिर (घूम) रही हो और कोई उसका लक्ष्य-वेध करना चाहे तो नहीं

होगा और वो अगर एक स्थान पर है तो लक्ष्य–वेध हो जाएगा। तो ध्रुव तो अचल है इसलिए उपयोग उसमें केन्द्रित हो जाता है, जम जाता है और अन्तर्मुहूर्त वो अवस्था रहती है तो वह ध्यान नाम पाती है।

आनन्द और सुख का स्वरूप

आनन्द सर्व गुणों की पर्यायों का निचोड़ है न! जैसे शरबत, ठंडाई वो कितनी ही चीजों की जो पर्यायें हैं, परिणाम हैं, उनका एक निचोड़ है न!

मुमुक्षु :– सुख गुण की पर्याय कहें?

पूज्य बाबूजी :– सुख गुण की कहते हैं, वैसे कह सकते हैं, लेकिन ये एक अलग व्यवस्था है। जिस समय उपयोग शुद्धात्मा में लीन होता है, केन्द्रित होता है तो उस समय जो आनन्द होता है, ये ऐसा आनन्द हर समय नहीं रहता। लेकिन उसी समय सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र का जन्म और वो सुख की अवस्था होती है तो सुख की पर्याय में भी शुद्धि आती है; वो शुद्धि निरन्तर रहती है और उसके कारण हर समय सम्यग्दृष्टि को निर्जरा होती है। शुद्धि में वृद्धि होती रहती है लेकिन फिर भी पाँचवाँ गुणस्थान नहीं आवे – इतनी भी अवस्था होती है और शुद्धि में वृद्धि होती ही रहती है और निर्विकल्प वेदन न हो, वेदन नहीं हो तो भी सुख गुण की जो निर्मल पर्याय हुई, वो बाह्य पदार्थों में उपयोग के समय भी रहती है तो सुख और दुःख इनकी मिश्र पर्याय चलती है।

मुमुक्षु :– साधक होने के बाद में उसकी सविकल्पदशा की बात है?

पूज्य बाबूजी :– हाँ! साधक की सविकल्पदशा की बात है।

मुमुक्षु :– आनन्द नहीं रहता तब?

पूज्य बाबूजी :– **हाँ! आनन्द उसको कहते हैं कि जो उपयोगात्मक है। उपयोग शुद्धात्मा में लीन हुआ और आनन्द का जन्म हुआ तो वो सारी पर्यायों का एक निचोड़ है। ऐसा है न! जैसे भोजन**

करते समय हमें आनन्द होता है, और उसके बाद वो आनन्द नहीं रहता लेकिन तृप्ति रहती है। वो तृप्ति यहाँ पर सुख गुण की पर्याय हुई।

मुमुक्षु :– बाबूजी! ये जो आनन्द है उसको ज्ञान का आनन्द बोल सकते हैं?

पूज्य बाबूजी :– नहीं! ज्ञान अलग चीज है। वो तो सारे गुणों की पर्यायों का, सारे गुणों की पर्यायों का निचोड़ है। ज्ञान तो वेदन करनेवाला है, जानने वाला है, जानने वाला।

हाँ! तो ये ध्यान का ध्येय हुआ। जो ध्रुव शुद्धात्मा है एक मात्र वही शुभ ध्यान का, सच्चे ध्यान का, सम्यक् ध्यान का ध्येय होता है; होता है और होना चाहिए। यदि ध्रुव न हो तो ध्यान शुभ नहीं होगा, सम्यक् नहीं होगा।

ध्यान का विषय और प्रक्रिया

अब ध्यान का स्वरूप जानना हो तो आज इस विषय को ही कर लें।

एक तो अपने इसमें भी है प्रवचनसार में। देखो! एक तो शुद्धात्मा का स्वरूप है 192वीं गाथा में। मैं आत्मा को इसप्रकार ज्ञानात्मक, दर्शनभूत, अतीन्द्रिय महापदार्थ ध्रुव, अचल, निरालम्ब और शुद्ध मानता हूँ। ये तो शुद्धात्मा का स्वरूप हुआ।

प्रवचनसार की गाथा 194 है। इसमें देखिए इस यथोक्त विधि के द्वारा जो शुद्धात्मा को ध्रुव जानता है, इस यथोक्त विधि के द्वारा पहले जो विधि कही गई है, उस तरह जो आत्मा को शुद्ध जानता है, ध्रुव जानता है....शुद्धात्मा को ध्रुव जानता है। आत्मा शुद्ध है क्योंकि उसमें किसी का मेल नहीं है, मिश्रण नहीं है। ध्रुव में प्रवृत्ति के द्वारा उसको उसके उपयोग की, उसकी ज्ञान की उसी में प्रवृत्ति के द्वारा शुद्धात्मत्व होता है; शुद्धात्मत्व होता है माने शुद्धात्मा का वेदन होता है। शुद्धात्मा

का वेदन होता है, इसलिए अनन्तशक्ति वाले चिन्मात्र परम आत्मा का एकाग्रसंचेतन लक्षण ध्यान होता है; इसलिए उसको अनन्त शक्ति वाले चिन्मात्र परम आत्मा का परम आत्मा, क्योंकि आत्मा तो सभी को कहते हैं न अपन! मिथ्यादृष्टि तो सबको ही आत्मा कहता है। सम्यग्दृष्टि हो तो भी पर्याय भी आत्मा, गुण भी आत्मा सभी को आत्मा कहता है लेकिन परम आत्मा माने वो ध्रुव शुद्धात्मा।

आत्मा का ध्यान होता है; और इसलिये उस ध्यान के कारण साकार (सविकल्प) उपयोग वाले को या अनाकार (निर्विकल्प) उपयोग वाले को – दोनों को अविशेषरूप से एकाग्रसंचेतन की प्रसिद्धि होने से – अनादि संसार से बँधी हुई अतिदृढ़ मोहदुग्रन्थि (मोह की दुष्ट गाँठ) छूट जाती है। इस मिथ्यादर्शन को कर्म की अपेक्षा से कहें तो दर्शनमोह और अनन्तानुबन्धी का अभाव हो जाता है एकाग्रसंचेतन। इसमें दो शब्द आए हैं – साकार उपयोग वाला और अनाकार उपयोग वाला; एक तो दर्शन और एक ज्ञान। **दर्शन गुण निर्विकल्प होता है, वो केवल सत्ता मात्र को स्वीकार करता है। जीव हूँ – ऐसा स्वीकार नहीं करता, सत्ता मात्र को स्वीकार करता है। लेकिन जिस समय जो ज्ञानोपयोग है, वह आत्मा के सन्मुख होने वाला होता है, आत्मा का अनुभव करने वाला होता है तो उसके पहले वो दर्शन की पर्याय भी आत्मा के सन्मुख हो जाती है।**

सत्तावलोकनरूप, केवल सत्ता; और उसके बाद ये उपयोग माने जो ज्ञान है, ज्ञान उपयोग! उपयोग के ही भेद हैं दोनों – एक दर्शन उपयोग और एक ज्ञान उपयोग। तो लक्षण ज्ञान उपयोग होता है, दर्शन उपयोग लक्षण नहीं होता। तो उस निर्विकल्प दर्शन के अनन्तर जो ज्ञान का परिणमन शुद्धात्मा में होता है, उसको ध्यान कहते हैं और उससे दर्शनमोह या मिथ्यादर्शन समाप्त हो जाता है। यह ध्यान का स्वरूप है।

मुमुक्षु :– साकार और निराकार का अर्थ?

पूज्य बाबूजी :– साकार माने ज्ञान और अनाकार माने दर्शन। इसमें आचार्य जयसेन की टीका में इसमें और भी दिया है। साकार माने सागार अर्थात् गृहस्थ और निराकार माने मुनि – मुनि अनागार, ऐसा।

अज्ञानी का ध्यानाभास

मुमुक्षु :– बाबूजी ! कई लोग ऐसा महसूस (feel) करते हैं कि हम ध्यान में बैठते हैं। हमें बहुत आनन्द की अनुभूति होती है, तो वो कौनसे प्रकार का ध्यान है ?

पूज्य बाबूजी :– वो आर्तध्यान और रौद्रध्यान मिथ्यादृष्टि का है। मिथ्यादृष्टि को आर्तध्यान और रौद्रध्यान होता है, उसमें यही तो ध्यान होता है, माने केवल पर्याय का ध्यान होता है। और पर्याय में भी जैसे आजकल जो ध्यान चले हैं – प्रेक्षा ध्यान, विपश्यना ध्यान – ये सब घ्यान चले हैं न ! ये केवल शारीरिक हैं, शारीरिक। भाई ! मन को एकाग्र कैसे करना ? तो उनका जो होता है, स्वरूप होता है... तो कोई गए होंगे, अपने में से भी तो कोई उनके यहाँ गए होंगे। बहुत से छुपे रुस्तम होते हैं।

उनका यही कहना होता है कि जो भी तुम्हारे परिणाम आयें, सुख-दुःख के परिणाम, क्रोध-मान-माया-लोभ के परिणाम, राग-द्वेष के परिणाम, ये परिणाम आवें तो तुम केवल जानते रहो। उसमें सुख-दुःख का वेदन मत करो। ये उनका कहना होता है। लेकिन राग-द्वेष और क्रोध-मान-माया-लोभ का जानना इससे क्रोध-मान-माया-लोभ कैसे टूटेंगे ? इतना अवश्य है कि जैसे क्रोध-मान-माया-लोभ ये आत्मा से अन्य वृत्तियाँ हैं, विजातीय वृत्तियाँ हैं। इसलिए ये मेरी नहीं हैं – ऐसा जानना, तो ये वो ज्ञेय हो गए और ज्ञेय से हटकर शुद्धात्मा में प्रवृत्ति करने पर वह ध्यान होता है।

वहाँ केवल इतना ही हो जाता है कि तुम उनको देखते रहो तो उनको

देखने से वो मिटेंगे कैसे ? शुद्ध को देखे बिना शुद्धानुभूति हो नहीं सकती। विकार का अनुभव करने से अर्थात् आत्मा को अशुद्ध जानने से कि ये मेरा क्रोध आया, ये मान आया, ये माया आई। भाई ! इनसे तो तू न्यारा ही है इनका क्या ध्यान कर रहा है ? इसलिए इनको ज्ञेय-कोटि में पुद्गल की तरह स्थापित करने से और फिर उपयोग को मोड़कर शुद्धात्मा में ले जाने से वास्तव में ध्यान होता है।

मुमुक्षु :- बाबूजी ! मोड़कर मतलब ?

पूज्य बाबूजी :- विकारों की तरफ से मोड़ा न ! राग-द्वेष की तरफ से मोड़कर माने पहले राग-द्वेष को ज्ञेय बनाया था कि ये तो मेरे आत्मा से न्यारे हैं, क्योंकि विकल्प दशा है। निर्विकल्पदशा नहीं है न ! मेरी आत्मा से ये सर्वथा न्यारे हैं, अन्य प्रकार के हैं। जैसे पुद्गल आदिक न्यारे हैं, उसी तरह ये भी न्यारे हैं ऐसा जानकर उनसे टर्न (turn) लेना, मुड़ जाना और शुद्ध-ध्रुव में एकाग्र हो जाना, तो ध्यान होता है।

मुमुक्षु :- उसके लिए पहले शुद्ध ध्रुव क्या है, उसका निर्णय करना बहुत जरूरी है ?

पूज्य बाबूजी :- वो तो आवश्यक है ही। सत्ता का निर्णय माने चैतन्य सत्ता का निर्णय वो तो आवश्यक है, तभी तो चैतन्य की परिणति होगी। अगर जाना ही नहीं कि आत्मा कैसा है तो फिर अनुभव में कैसे आएगा ? अशुद्ध ही आएगा क्योंकि अशुद्ध अनुभव करता रहा है। शुद्ध तो वर्तमान में हूँ नहीं। शुद्ध तो सिद्ध बनने पर हो जाऊँगा और वर्तमान में तो अशुद्ध हूँ। तो इस अशुद्धि को तप करके, ध्यान करके किसी भी तरह से टालूँगा और कर्मों की निर्जरा होगी तो फिर मोक्ष हो जाएगा - ऐसा अज्ञानी मानता है। ये सर्वथा अज्ञान और मिथ्यादर्शन है।

अब ध्यान की विधि सुनना है न अपने को ! एक पंचास्तिकाय की गाथा 146 और आचार्य अमृतचन्द्रदेव की टीका है। निर्जरा का मुख्य

हेतु ध्यान है। निर्जरा का माने ? अशुद्धि की हानि और शुद्धि की वृद्धि। और उधर जो कर्म हैं, जिनके जत्थे के जत्थे आत्मा के साथ पड़े हैं उनका खिरना, आत्मा से पृथक् होना – उसका नाम निर्जरा।

ध्यान की विधि

शुद्ध स्वरूप में अविचलित चैतन्य परिणति सो वास्तव में ध्यान है। शुद्धात्मा में अविचलित माने एकदम अकंप, निष्कंप परिणति उसका नाम ध्यान है। सो वास्तव में ध्यान है माने वास्तव में असली ध्यान तो वो है कि जो आनन्द को जन्म देता है। वह ध्यान प्रगट होने की विधि अब कही जाती है; जब वास्तव में शुद्धात्मा का अनुभव करने वाला योगी निम्नलिखित विधि से उपयोग को आत्मा में लीन करता है।

दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय का विपाक पुद्गलकर्म है। दर्शनमोहनीय का विपाक अर्थात् दर्शनमोहनीय कर्म के उदय में होने वाला मिथ्यादर्शन का भाव और चारित्रमोहनीय का विपाक अर्थात् राग–द्वेष के परिणाम। राग–द्वेष के परिणाम होने से उस विपाक को, उस अनुभाग को, उस फल को पुद्गल के परिणाम कहा है। ये विपाक आत्मा का विपाक नहीं है। आत्मा का परिपाक या आत्मा की अवस्था का परिपाक होकर ये मिथ्यात्व प्रगट होता हो – ऐसा नहीं है, जड़ कर्म आत्मा को फल तो देते नहीं हैं, उधर तो कर्म के खिरने की अवस्था हुई और इधर आत्मा में मिथ्यादर्शन और राग–द्वेष, क्रोध–मान–माया–लोभ के परिणाम हुए, इसलिए ऐसा कहा जाता है। उस विपाक को आत्मा से भिन्न अचेतन होने से कर्मों में समेटकर अर्थात् आत्मा में मिलाकर नहीं अपितु उन्हें अपने से भिन्न जानकर तदनुसार परिणति से उपयोग को व्यावृत्त करके अर्थात् मोड़कर; मिथ्यादृष्टि, रागी और द्वेषी न होने वाले ऐसे उपयोग को शुद्ध आत्मा में ही अत्यन्त निष्कम्परूप से लीन करता है।

कितना स्पष्ट है न एकदम कि उस उपयोग को अर्थात् ज्ञान को आत्मा में ही निष्कम्परूप से लीन करता है; तब वह योगी अपने निष्क्रिय चैतन्यस्वरूप में विश्रान्त है। क्या कर रहा है कि जो निष्क्रिय शुद्धात्मा है, चैतन्य है उसमें जो विश्रान्त है अर्थात् उसमें आराम कर रहा है, उसमें वह स्थिर है अत: मन-वचन-काय को नहीं अनुभवता। मन-वचन-काया के जो योग हैं, उन योगों का जो कम्पन है, उसका भी अनुभव नहीं करता और स्वकर्मों में माने उदय में व्यापार नहीं करता है उदय जो हुआ कर्म का, तो उसके अनुसार उसकी परिणति या उसकी पर्याय नहीं होती है। स्वकर्मों में व्यापार नहीं करता है कर्मों के उदय में उसके अनुसार परिणति नहीं होती है। इससे स्पष्ट हो गया न! कि कर्म के उदय से आत्मा के भाव अवश्य-अवश्य होंगे - ये बात बिल्कुल झूठ है, गलत है।

आत्मा अगर पुरुषार्थ करे तो कर्म का उदय होने पर भी वो कर्म बिना फल दिए चला जाता है। उसे सकल शुभाशुभ कर्मरूप ईंधन को जलाने में समर्थ होने से सारे ही शुभाशुभ कर्म को जलाने में वो ध्यान की परिणति समर्थ होती है, होने से अग्नि समान ऐसा, परम पुरुषार्थसिद्धि के उपायभूत ध्यान प्रगट होता है। परम पुरुषार्थसिद्धि के उपायभूत माने परम सिद्धि का जो उपाय है अर्थात् मुक्ति का जो उपाय है - ऐसा ध्यान प्रगट होता है। वो ध्यान धर्मध्यान और शुक्लध्यान है। सातवें गुणस्थान तक धर्मध्यान और उससे आगे आठवें गुणस्थान से शुक्लध्यान प्रारम्भ होता है।

और देखना है? खूब अच्छी तरह देखें न एकदम! बहुत सुन्दर है परिभाषा, बहुत सुन्दर है। यह समयसार की 285 गाथा आचार्य जयसेन की टीका है। बंध के विनाश के लिए विशेष भावना कहते हैं। तो बंध का विनाश माने आत्मा में जो मोह-राग-द्वेष हैं, ये हैं वास्तविक बंध। आत्मा का वास्तविक बंध ये मोह-राग-द्वेष हैं। इसका विनाश करने के

लिए ....और उधर इसके साथ में कर्म भी अपने आप वैसे ही (same) खिरते हैं, चले जाते हैं। तो विशेष भावना कहते हैं क्योंकि इसमें विशेष भावना होती है, तब वो ध्यान प्रगट होता है।

मैं सहजशुद्ध ज्ञानानन्द एक स्वभाव हूँ, निर्विकल्प हूँ, उदासीन हूँ। मैं निरंजन निज शुद्धात्म का सम्यक् श्रद्धान, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक् अनुष्ठानरूप निश्चय रत्नत्रयात्मक, निर्विकल्प समाधि से उत्पन्न वीतराग सहजानन्दरूप सुखानुभूतिमात्र लक्षण से स्वसंवेदन ज्ञान से गम्य हूँ। कैसा है स्वसंवेदनज्ञान? आत्मा की अनुभूति के विशेषण देखे, अब दोबारा देखिए! निरंजन निज शुद्धात्म का सम्यक् श्रद्धान, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक् अनुष्ठानरूप निश्चय रत्नत्रयात्मक अनुभूति जो है वो है तो ज्ञान की पर्याय, लेकिन उसके साथ निश्चय रत्नत्रय नियम से प्रगट होता है अर्थात् सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्र प्रगट होता है। जैसे कहते हैं न कि चारित्र नहीं होता बिल्कुल - वो करणानुयोग की बात है, वो करणानुयोग का कथन है। अध्यात्म का कथन है कि वो स्व-संवेदन ज्ञान निश्चय रत्नत्रयात्मक होता है।

निर्विकल्प समाधि से अर्थात् जिसमें विकल्प नहीं है - ऐसा संवस्थित जो शुद्धात्मा है उसमें लीन होकर, उसमें निर्विकल्प समाधि से उत्पन्न वीतराग सहजानन्द रूप, सुखानुभूतिमात्र लक्षण जिसका क्या लक्षण है उस ध्यान का कि वीतराग सहजानन्दरूप सहज आनन्द की जो प्रगटता है और सुख का जो अनुभव है, वही है जिसका लक्षण, वो ध्यान में ही होता है। यानि ध्यान में कोई कष्ट नहीं पाता है। ध्यान को कष्ट कहते हैं न अपन! भाई! तप जो है, उसमें बहुत कष्ट सहन करना पड़ता है - वो बात जैनदर्शन की नहीं है। जैनदर्शन में तो तप से आनन्द होता है क्योंकि इधर तो आत्मा के जो भावकर्म हैं उनका क्षय होता है और उधर जो द्रव्यकर्म हैं उनका भी क्षय होता है। इसलिए वीतराग सहजानन्द रूप, सुखानुभूतिमात्र लक्षण जिसका ये लक्षण हुआ उसका। अगर ये

न हो तो समझना चाहिए कि आत्मानुभूति नहीं हुई। सहज सुखानुभूति नहीं हुई, माने ऐसा नहीं कि आनन्द की ओर उपयोग लगा है और आनन्द प्रगट होगा – प्रगट होगा, प्रगट होना चाहिए – इस तरह से उस आग्रह में लगा है – ऐसा नहीं। लेकिन शुद्ध ध्रुव का ध्यान कर रहा है तो इधर सहज ही वो आनन्द प्रगट हो रहा है और इसके अनुभव में भी आ रहा है; अनुभव में माने ज्ञान में अर्थात् ज्ञेय बनकर जानने में आ रहा है।

मुमुक्षु :– वाह! ज्ञेय बनकर!

पूज्य बाबूजी :– ध्येय तो शुद्धात्मा है। लक्षण जिसका ऐसे स्वसंवेदन ज्ञान से इस स्वसंवेदन ज्ञान के विशेषण देखे? कितने adjective हैं! भरित (परिपूर्ण) अवस्था वाला हूँ। जैसे कलश होता है न, वो जल से पूरा भर दिया गया हो, अब एक बूँद का भी उसमें अवकाश नहीं है – इसका नाम भरित अवस्था है। इस तरह भरित (परिपूर्ण) अवस्था माने मेरे में कोई कमी नहीं है। मैं सब प्रकार से सम्पूर्ण हूँ। तो भरित (परिपूर्ण) अवस्था वाला हूँ। मैं राग, द्वेष, मोह, क्रोध, मान, माया, लोभ, पंचेन्द्रिय विषय व्यापार, मन वचन काय व्यापार, भावकर्म, द्रव्यकर्म, नोकर्म से मैं रहित हूँ। नोकर्म, ख्याति इत्यादि ये आगे और है उसमें, पर ये मुख्य है। अब तो ध्यान का कोई प्रश्न नहीं है न!

❖❖❖

तत्त्वचर्चा : क्रमांक 5

(28 जनवरी 1999)

इस चर्चा में ज्ञान और प्रतिभास का स्वरूप, स्व सन्मुख होने की प्रक्रिया, प्रमाण के विषय में द्रव्यदृष्टि का स्वरूप, द्रव्य की पूर्णता आदि विषयों का मार्मिक स्पष्टीकरण किया गया है।

एक पर्याय में स्व और पर दोनों एक साथ प्रतिभासित होते हैं या नहीं?

मुमुक्षु :- प्रश्न है बाबूजी! क्या अज्ञानी व ज्ञानी को अपने क्षयोपशम ज्ञान में स्व और पर का प्रतिभास एक समय में एक ही पर्याय में चलता है?

पूज्य बाबूजी :- नहीं चलता, अज्ञानी को भी नहीं चलता और ज्ञानी को भी नहीं चलता। अज्ञानी को तो एकान्त पर में ही चलता है। ज्ञानी को अनुभूति के समय स्व में और अनुभूति से बाहर, जब बाह्य पदार्थों पर उपयोग होता है, तो फिर पर में चलता है। एक समय में एक, या तो स्व की अनुभूति या पर की अनुभूति होती है।

मुमुक्षु :- बाबूजी! वो उपयोग की अपेक्षा है कि प्रतिभास की अपेक्षा है?

पूज्य बाबूजी :- उपयोग प्रतिभासात्मक ही तो होता है। उपयोग हर समय प्रतिभासरूप ही होता है। कोई न कोई तो जानने में आएगा; तो जानने में आना, वो ही प्रतिभास है। प्रतिबिम्ब जिसे कहते हैं - वो प्रतिभास है।

मुमुक्षु :- बाबूजी! विशेष की बात हुई न ये? ये तो विशेष की बात हुई न? पर्याय के विशेष की बात हुई न?

पूज्य बाबूजी :– यहाँ तो पर्याय की ही बात चल रही है।

प्रतिभास विशेष में ज्ञान सामान्य

मुमुक्षु :– तो क्या जो प्रतिभास है वो पर्याय के सामान्य में नहीं होता ?

पूज्य बाबूजी :– पर्याय के सामान्य में नहीं होता – वो प्रतिभास ज्ञान ही है, इस तरह समझ कर उस ज्ञान को सामान्य देखा जाता है, अर्थात् ये तो सब ज्ञान ही है – ये सामान्य हो गया पर्याय का, और ये प्रतिभास विशेष है। तो उस समय भी प्रतिभास रहता है।

प्रतिभास रहते समय ही वो ये विचार करता है कि ये प्रतिभास तो सम्पूर्णरूप से ज्ञान ही है अर्थात् मैं ही हूँ। इस तरह प्रतिभास को जानता हुआ, ज्ञानरूप जानता हुआ स्व में चला जाता है और निर्विकल्प अनुभूति हो जाती है। पर ये बात हमेशा याद रखने की है कि अज्ञानी को तो एक समय में एकदम पर में ही उपयोग होता है। वो तो हर पदार्थ में मिथ्यादर्शन और मिथ्याज्ञान का एकत्व लिए ही वर्तता है; और जो ज्ञानी को जो प्रतिभास होता है, वह ज्ञानी उसको ज्ञेय समझता है। अज्ञानी को तो अनेक प्रकार के भय, चिन्ता, शोक, क्लेश इत्यादि संकल्प–विकल्प होते हैं।

ज्ञानी को जब पहली बार उपशम सम्यक्त्व हुआ और आत्मा का वेदन हुआ तो उस समय पर जानने में नहीं आता, एक मात्र शुद्धात्मा ही जानने में आता है, अपनी पर्याय भी जानने में नहीं आती। शुद्धात्मा का अनुभव करने वाली जो अनुभूति की पर्याय है, वो भी (स्व–सम्मुख उपयोग में) जानने में नहीं आती। **जानने में नहीं आती अर्थात् वो उपयोगरूप से तो शुद्धात्मा को ही जानता है लेकिन अनुभूति जब होती है, तब जो आनन्द आदि का जन्म होता है तो वो भी जानने में आ जाता है। इसका मन जानने का नहीं है, क्योंकि ये तो पूरी तरह से उस शुद्धात्मा पर ही समर्पित हो चुका है।**

ज्ञानी का ममत्व अनुभूति की पर्याय से भी नहीं है

इसका अन्य के साथ सारा का सारा ममत्व टूट गया है। उस आनन्द के साथ भी इसका ममत्व टूटा हुआ है। स्वयं अनुभूति की पर्याय से भी ममत्व टूटा हुआ है। सम्यग्दर्शन का सम्यग्दर्शन के साथ ममत्व टूटा हुआ है।

सम्यग्दर्शन का सम्यग्दर्शन के साथ भी ममत्व नहीं है। मैं शुद्धात्मा हूँ चिन्मात्र हूँ – ये उसका स्वर होता है। मानो सम्यग्दर्शन स्वयं द्रव्य बन गया हो। उसने अपने आप में सारे द्रव्य को पसार लिया और अपने लिए भी कोई कोना खाली नहीं रखा उसने; तो सम्यग्दर्शन मानो ज्ञायक बन गया। ये सब होता पर्याय में है, द्रव्य ज्यों का त्यों अवस्थित रहता है।

प्रतिभास, स्वच्छत्व और ज्ञान का स्वरूप

मुमुक्षु :– प्रतिभास किसकी पर्याय है ?

पूज्य बाबूजी :– प्रतिभास ज्ञान की पर्याय है।

मुमुक्षु :– स्वच्छत्व की नहीं है ?

पूज्य बाबूजी :– वो सब ज्ञान के ही पहलू हैं। स्वच्छत्व, प्रकाशकत्व इत्यादि जो हैं, सब ज्ञान के ही पहलू हैं, लेकिन नियम कभी भंग नहीं होता। जैसे स्वच्छत्व में तो ऐसा है कि ज्ञान इतना स्वच्छ है जिसमें सारा लोकालोक दिखाई देता है – ये स्वच्छत्व शक्ति है; है ज्ञान का ही परिणमन !

प्रकाश का स्वरूप ऐसा है कि ये सारे लोकालोक को प्रकाशित करता है तो ऐसा लगता है मानो ज्ञान वहाँ व्याप्त हो गया हो। सारे जगत में व्याप्त हो गया है – ऐसा लगता है। लेकिन असलियत ये है कि वो ज्ञान ही जानने में आता है; चाहे स्वच्छत्व हो, चाहे प्रकाशकत्व हो। ज्ञान सर्वगत है और सर्व पदार्थ आत्मगत हैं – ये दो प्रकार की बात हैं। ये दोनों बातें व्यवहार हैं, निश्चय नहीं हैं।

निश्चय से वो शुद्धात्मा में ही अवस्थित रहता हुआ और मैं ज्ञानमात्र

हूँ – यही अनुभव करता है और स्व को ही जानता है। पहली बात तो ये है कि हमेशा स्व ही जानने में आता है, ज्ञान ही जानने में आता है। पहला step तो ये, पहला चरण तो ये है कि ये जो प्रतिभास है वह ज्ञान ही है और जिस समय सम्यग्ज्ञान हुआ, ज्ञान का उदय हुआ तो उस समय उसने भेदविज्ञान में जाना कि इस प्रतिभास को मैं अज्ञानदशा में ज्ञेय मानता रहा, तो ये ज्ञेय नहीं हैं बल्कि ये प्रतिभास ज्ञान ही है। इसलिए कौन जानने में आया? कि ज्ञेय जानने में नहीं आया। क्योंकि ज्ञेय मेरे में आया ही नहीं इसलिए जानने में कैसे आये? लेकिन ज्ञेय जैसा जो प्रतिभास है – आकार अर्थात् उसका फोटो, वो जानने में आया; तो वो तो मैं ही हूँ। ज्ञान में तो ज्ञान ही रहता है और किसी के आने की गुंजाइश तो है ही नहीं। इसलिए ज्ञान ही जानने में आया।

अब इससे आगे बढ़ा कि ज्ञान ही जानने में आया अर्थात् ज्ञान ही है ये सब। जितने अनन्तानन्त प्रतिभास हैं, उनकी एक संज्ञा सिर्फ ज्ञान है और वो ज्ञान मैं ही हूँ। इस तरह ज्ञायक का वेदन होने लगता है क्योंकि शुरू से ही उसने निर्णय में ये बात की है कि मैं तो एक मात्र ज्ञायक हूँ।

लेकिन फिर व्यवहार-निश्चय किस तरह चलते हैं? ये तो सारा व्यवहार है कि ज्ञान ही जानने में आता है, लेकिन इसमें भी अनुभूति नहीं हुई। अनुभूति नहीं हुई, क्योंकि ये तो ज्ञान का विकल्प है, इसलिए राग पैदा होता है और ज्ञान जब निर्विकल्प होकर अनुभूतिरूप बन जाता है तो फिर राग का जन्म नहीं होकर सुख का जन्म होता है, अतीन्द्रिय आनन्द का जन्म होता है।

मुमुक्षु :- ज्ञान जब निर्विकल्प होकर....

पूज्य बाबूजी :- ज्ञान अनुभूति में परिणत होता है, घनत्व में। विकल्प में तो तो तरलता थी और ये घनत्व है। ज्ञान जब घनत्व में परिणमित होता है तब अन्य पदार्थ जानने में नहीं आते और वो व्यवहार

हो जाता है। ज्ञान ही जानने में आता है ये व्यवहार में चला गया और ये परम निश्चय हो गया।

स्व-सम्मुख होने की प्रक्रिया

मुमुक्षु :- पर इसमें सुख होता है और वहाँ, पहले राग होता है?

पूज्य बाबूजी :- हाँ! वहाँ राग होता है। दुःख होता है, वहाँ राग का ही जन्म होता है; क्योंकि वह विकल्पात्मक दशा है। अपन अज्ञानदशा की भी बात कर सकते हैं। अज्ञान दशा (अनुभूति के लिए प्रयत्नशील अज्ञानी) में भी ऐसा ही है, क्योंकि निर्णय तो है ही सही कि ज्ञेय जानने में नहीं आता, अपितु ज्ञान ही जानने में आ रहा है। ज्ञान ही जानने में आ रहा है अर्थात् ये सब ज्ञान ही हैं सारे। इसका प्रतिभास मिलकर अगर उनको एक नाम दें तो उसका नाम ज्ञान है। **उन प्रतिभासों में विशेष-विशेष होने पर भी सचमुच देखा जाए तो कोई विशेषता नहीं है क्योंकि वो ज्ञानमात्र हैं।** इस तरह मैं ज्ञानमात्र हूँ, ज्ञायक हूँ - ये अनुभूति हो जाती है क्योंकि प्रारंभ से ज्ञायक प्रिय था न उसे! इसलिए बीच में कैसे ठहर जायेगा? जिसे अपने गंतव्य पर पहुँचना है तो वृक्ष की छाया में ठहरा, लेकिन उस वृक्ष की छाया में वह कई दिनों तक ही सो जाये - ऐसा संभव है क्या? वृक्ष की छाया में ठहरा है क्योंकि धूप से घबराया हुआ था, इसलिये वृक्ष की छाया में ठहरा और फिर वापस चलना शुरू कर दिया। अन्तिम जो गंतव्य (destination) है वहाँ तक पहुँचे तब अनुभूति होती है और वो ज्ञायकरूप होती है।

ये निर्णय पहले से था, इसीलिए ज्ञान ही जानने में आता है - ये भी व्यवहार है और हेय है। ये हेय-कोटि का है। भाई! अनुभूति ही हेय कोटि की है तो इसमें क्या है? इसके साथ ब्याह कौन करेगा?

अनुभूति में अनुभूति भी हेय है

मुमुक्षु :- अनुभूति भी हेय कोटि की है, क्योंकि एक समय की पर्याय है?

पूज्य बाबूजी :- अनुभूति स्वयं अपने को कहाँ आगे करती है? अनुभूति तो अपनी गोदी में उसको (ज्ञायक को) पसार लेती है। अनुभूति की जो शीतल गोदी है उसमें सारा ज्ञायक पसर जाता है और उसका कोना-कोना उससे भर जाता है। तब अनुभूति कहाँ है? कि वो तो बाहर रह जाती है और काम सब अनुभूति कर रही है। ये सब अध्यात्म की सूक्ष्म विलक्षणता है।

मुमुक्षु :- अध्यात्म की विलक्षणता है!

पूज्य बाबूजी :- अभेदता हुई न! ये वास्तविक अभेदता है। ये द्रव्य-पर्याय की वास्तविक अभेदता है जिसमें एक गायब ही हो गया और एक ही रह गया।

मुमुक्षु :- द्रव्य-पर्याय की वास्तविक अभेदता!

पूज्य बाबूजी :- अभेदता माने पर्याय ने समर्पण की पराकाष्ठा की; अपने आपको इस तरह समर्पित किया कि वो स्वयं द्रव्य बन गई, स्वयं ज्ञायक बन गई और स्वयं गायब हो गई। अब गायब हो गई माने वहीं है, अभी इसी में सब हो रहा है। **लेकिन गायब हो गई माने वो अपना नाम लेती ही नहीं है।** उसने अपना नाम ही बदल दिया और कहती है कि मैं तो ज्ञायक हूँ; और उसका धर्म भी यही था, क्योंकि ज्ञायक तो कभी अपना परिचय तो देता नहीं था। तो इसको, पर्याय को अपना धर्म निभाना चाहिए न! इसका धर्म ही यही था कि वो ज्ञायक का परिचय दे। तो परिचय कैसे दे? अपने को बड़ा करके परिचय दे या अपने को नीचे रखकर परिचय दे? मैं ज्ञायक हूँ, इस तरह से परिचय देती है। अनुभूति में द्रव्य और पर्याय का भेद भी नहीं दिखता और उनका एकान्त भी नहीं है। अभी इतनी अभेदता हुई, इस तरह का अनन्यत्व हुआ कि इसमें ध्येय भी अलग दिखाई नहीं देता। कौनसा द्रव्य और कौनसी पर्याय - ये भेद ही नहीं दिखाई देता। द्रव्य तो अपन नाम लेते हैं, लेकिन द्रव्य के रूप में अनुभूति होती नहीं।

मुमुक्षु :– वाह रे वाह! ये क्या कहा बाबूजी ?

पूज्य बाबूजी :– चैतन्यमात्र! चिन्मात्र! इस प्रकार अनुभूति होती है और ये द्रव्य के रूप में नहीं होती है।

मुमुक्षु :– पर्याय तो गायब हो गई और द्रव्य के रूप में अनुभूति नहीं होती ?

पूज्य बाबूजी :– नहीं होती है!

मुमुक्षु :– तो कैसे होती है ?

पूज्य बाबूजी :– चिन्मात्र हूँ – जो स्वरूप है न! वैसी अनुभूति होती है।

मुमुक्षु :– जब द्रव्य की अनुभूति होती है तो द्रव्य अंश कैसे हुआ ?

पूज्य बाबूजी :– कहते हैं न कि द्रव्य की अनुभूति होती है, लेकिन द्रव्य भी अंश है न! तो उसमें साथ में दूसरे अंश की याद आती है। द्रव्य कहते ही पर्याय की याद आती है; और द्रव्य को अंश माना जाए तो भी अनुभूति नहीं होगी क्योंकि जैसे पर्याय अंश था तो पहले ये पर्यायमूढ़ कहलाता था। अब द्रव्यदृष्टि हुई तो वो द्रव्य का अनुभव कहलाता है, लेकिन द्रव्य का अनुभव भी अपन एकान्त से कहते हैं। तो उधर पर्याय का जो अनुभव था, पर्यायदृष्टि थी, पर्यायमूढ़ता थी कि मैं तो इतना ही हूँ, इतना मात्र हूँ – तो वो पर्यायमूढ़ता थी। अब द्रव्य का एकान्त हुआ या नहीं हुआ ? इसमें अनेकान्त कहाँ रहा ? **अनेकान्त तो यह है कि अपने आपको द्रव्यरूप में सम्पूर्ण अनुभव करते हुए भी वो पर्याय से इन्कार नहीं करता है। वो पर्याय जो है वो उसके क्षयोपशम में, गौणरूप में, लब्धिरूप में पड़ी है लेकिन उस समय उसका कोई काम नहीं है। उसका उस समय नाम भी ले तो काम बिगड़ता है, इसलिए अपने घर में भी लिहाज नहीं करना।**

परिवार में भी लिहाज नहीं करना। किसी विशेष काम के समय

अगर किसी व्यक्ति को नहीं बुलाना है तो अपन उसको नहीं बुलायेंगे कि इस समय उसे मत बुलाओ, उसकी जरूरत नहीं है। भले ही वो परिवार का अभिन्न अंग है। इस तरह उस समय पर्याय नहीं बुलाई जाती बल्कि भुलाई जाती है।

मुमुक्षु :– हम द्रव्य के रूप अनुभव न करें, पूर्ण के रूप में करें तो ?

पूज्य बाबूजी :– पूर्ण माने क्या ? पूर्ण क्या होता है ? पूर्ण तो सभी हैं। चिन्मात्र; बस चिन्मात्र में पूर्ण आ गया। चैतन्यमात्र पूर्ण है वो। इसमें कसर क्या है ? पूरा चेतन है। अब इसमें पूर्णता कैसे सिद्ध होती है ? जैसे अपन एकान्त की बात करते हैं न ! वो जिस समय अज्ञानी था और उसे पर्यायमूढ़ता थी, तो इस पर्यायमूढ़ता में तो वो पर्याय जितना ही अपने आपको मानता था।

यहाँ जिस समय उस चिन्मात्र द्रव्य को जाना, तो वो द्रव्य को जानकर उसके साथ आत्मसात हुआ, एकाकार हुआ; और एकाकार होकर अपने आपको गौण करके, अपने आपको मिटाकर, एकाकार हुआ तो ये तो द्रव्यदृष्टि हुई, द्रव्यार्थिकनय हुआ, शुद्ध द्रव्यार्थिकनय। **अब पर्याय का क्या हुआ ? तो कहते हैं कि पर्याय भी इसको स्वीकार है लेकिन वो उस समय इसकी लब्धि में पड़ी है; वो व्यवहारनय इसकी लब्धि में पड़ा है, पर्यायार्थिकनय इसकी लब्धि में पड़ा है।** वो चक्षु उस समय खुला हुआ नहीं है, इसलिए यहाँ अनेकान्त प्रगट हो गया और वहाँ एकान्त था। वहाँ सम्पूर्ण आत्म तत्त्व को एकान्त पर्यायरूप ही या पररूप ही स्वीकार करता था।

मुमुक्षु :– तो द्रव्य की अंशरूप में अनुभूति – ये पर्यायानुभूति ही है ?

पूज्य बाबूजी :– हाँ ! ये पर्याय की अनुभूति है, ये अशुद्ध है। अंशरूप में अनुभूति मिथ्यादर्शन है।

द्रव्य का अंश होते हुए भी अपन उसको पूर्ण कैसे मानते हैं ? क्योंकि

वास्तव में वो पूर्ण है। पर्याय का काम तो उसे सिर्फ जानना मात्र है, उसमें कुछ करना नहीं है। उसमें कुछ भी करने की बात हो तो वो अपूर्ण सिद्ध होता है। पर्याय ने अनुभूति की तो द्रव्य में कुछ हुआ ? तो कहें कि कुछ नहीं हुआ। मिथ्यादर्शन ने अनुभूति नहीं की बल्कि इसे गालियाँ दीं तो द्रव्य का क्या हुआ ? कि कुछ नहीं हुआ। इसलिए वो पूर्ण ही है, उसका स्वरूप त्रिकाल पूर्ण है।

अज्ञान ही अज्ञान से लड़ता है

यदि अपना भी आग्रह होता है कि द्रव्य-गुण-पर्याय वाला जो द्रव्य-पर्याय स्वरूप पदार्थ है, उसको पूरा मिलाकर अनुभव करना चाहिए तब तो पूरे पदार्थ का अनुभव हुआ! पर्याय को मिलाकर पूरा अनुभव करेंगे....तो अज्ञानदशा से ये सब विचार शुरू होता है। सद्गुरु के प्रसाद से जो देशना मिली और इसके वो समझ में आई एकदम स्पष्ट (clear); सिद्धान्त (concept) स्पष्ट (clear) हो गया और इसका उत्साह बढ़ा। **अभी तो अज्ञानदशा ही है, मिथ्यादर्शन भी है, लेकिन अब ज्ञान ने अपनी राह बदल ली और ये ज्ञान जो है, है तो अभी अज्ञान, लेकिन क्योंकि अब ये ज्ञान बन जानेवाला है, सम्यग्ज्ञान बन जाने वाला है इसलिए इसको ज्ञान के नाम से भी पुकार सकते हैं, क्योंकि इसने अज्ञान में ही अज्ञान से लड़ाई छेड़ दी कि अब तू मेरा कुछ नहीं लगता है। मिथ्यादर्शन और मोह मेरा कुछ नहीं लगता है और तू मेरा कुछ नहीं लगता, मैं तो ज्ञायक हूँ - अज्ञान ने ये स्वर बदल दिया। इस तरह पहले चिन्तन में व्यस्त हुआ और चिन्तन करते-करते फिर अनुभूति में पहुँच गया।**

अनुभूति में पर्याय को शामिल क्यों नहीं करना ?

अपन मिथ्यादर्शन आदि की पर्याय को मिलाते हैं, मिलाने का आग्रह करते हैं न! कि द्रव्य-पर्यायरूप पूरा पदार्थ है, तो पूरे पदार्थ की अनुभूति होना चाहिए और पूरे पदार्थ की श्रद्धा करना चाहिए। पहले शुरुआत में

तो मिथ्यादर्शन और अज्ञान है, मिथ्याचारित्र है। तो उसको मिलायें अपन आत्मा में, तो कैसा लगेगा आत्मा ? और विचार में भी कैसा अनुभव में आएगा ? विचार में भी कैसा जानने में आएगा ? कि जैसे दूध में राख मिला दी हो – ऐसा अनुभव में आएगा। तो वो इसके बिना ही है न ! माने आत्मा अत्यन्त शुद्ध है, अत्यन्त परिशुद्ध है; तो उसको शुद्ध नहीं जानना इसका नाम मिथ्यादर्शन है। उसको अशुद्ध बनाना इसका नाम मिथ्यादर्शन नहीं है।

द्रव्य को अशुद्ध बनाना ये मिथ्यादर्शन नहीं है, द्रव्य को अशुद्ध मानना और द्रव्य को अशुद्ध जानना – इसका नाम मिथ्यादर्शन और मिथ्याज्ञान है। ये तो इनके मानने की बात है, इससे द्रव्य का क्या बिगड़ा ? तुम मेरे को कुछ भी मानो इससे मेरे चरित्र में क्या फरक पड़ता है ? क्या अन्तर पड़ता है ? इसलिए पर्याय तो सिर्फ इतना काम करने वाली है, लेकिन मूल सत्ता द्रव्य है और वो सम्पूर्ण है। तो सम्पूर्णता सिद्ध हुई न ! माने मिथ्यादर्शन आदि की पर्याय तो बिल्कुल एक तरफ रही न ! और वो एक तरफ रही माने ? वहीं रही; जहाँ मिथ्यादर्शन है वहीं ज्ञायक है, क्योंकि प्रदेश तो न्यारे-न्यारे होते नहीं हैं, तो भी उस मिथ्यादर्शन की अशुद्धता से ज्ञायक अशुद्ध नहीं होता। ऐसा होता है कि नहीं होता है ?

यदि आत्मा अशुद्ध हो जाये तो जो शरीर के धातु हैं, वो भी आत्मा को लग जायेंगे। अगर आत्मा में ऐसा होने लग जाए कि मिथ्यादर्शन की पर्याय से ज्ञायक जो अशुद्ध हो गया तो फिर अपन को ये नियम सारी सृष्टि पर लागू करना पड़ेगा और उससे फिर ये शरीर की धातुएँ आत्मा को लग जायेंगी और मरने पर निकलते समय आत्मा लाल-लाल दिखने लगेगा। किन्तु ये संभव नहीं है क्योंकि वो दोनों विरुद्ध तत्त्व हैं। ये तो बिल्कुल विपरीत हैं ही – ज्ञायक और मिथ्यादर्शन भी विपरीत ही हैं। इसलिए मिथ्यादर्शन आदि की पर्याय को तो कोई भी समझदार मिलाने को तैयार ही नहीं होगा कि इसको मिलाऊँ तो अनुभव कैसे आएगा ?

कैसा अनुभव में आएगा? जैसे दूध में शक्कर के साथ में कंकर भी डाल दिये हों।

इसीलिए वो शुद्ध है, और अकेला ही पूर्ण है; उसमें एकान्त नहीं है। एकान्त की गंध आती है क्योंकि पर्याय नहीं है – वहाँ पर्याय नहीं है क्या? अरे! वो ये जानता है कि पर्याय ही सारा काम कर रही है, लेकिन उस समय उसकी जरूरत नहीं है। उसका ख्याल करने की और उसका स्मरण करने की भी आवश्यकता नहीं है, वरना पर्याय का ही काम बिगड़ जाता है, ज्ञायक तो ज्ञायक ही रहता है। पर्याय का ही काम बिगड़ता है माने पर्याय में जो आनन्द उत्पन्न होने वाला है वो नहीं होता और मिथ्यादर्शन जाता नहीं है। उसी का काम बिगड़ता है। उसी के हित के लिए ये सारा काम हो रहा है, पर्याय के हित के लिए।

मुमुक्षु :– सम्यग्दर्शन के काल में पर्याय को पर्याय की ही जरूरत नहीं होती है?

पूज्य बाबूजी :– नहीं होती है।

पर्याय का मोह भी निगोद का कारण है

पर्याय अपनी होने पर भी उस पर्याय का मोह निगोद का कारण है – ये भी बहुत विचारणीय प्रश्न है। अपनी-अपनी पर्याय का मोह वो निगोद का कारण है। ये बात क्या समझ में आने वाली है?

मुमुक्षु :– चाहे वो शुद्ध हो या अशुद्ध, कोई भी पर्याय हो?

पूज्य बाबूजी :– अशुद्ध की बात करते हैं, शुद्ध तो ठीक ही है। लेकिन अशुद्ध पर्याय भी तो अपनी है, लेकिन उसका मोह अथवा शुद्ध पर्याय का भी मोह, किसी का भी मोह निगोद ले जाएगा। माने मोक्ष का मोह भी निगोद है।

मुझे मोक्ष जाना है – ऐसा जब तक अनुभूति नहीं हुई तब तक अगर ये विकल्प ज्ञान में पैदा होता है....रागरूप विकल्प तो इसी तरह के होते

ही रहते हैं; लेकिन ज्ञान में यदि ये विकल्प पैदा होता है तो वो ज्ञान मिथ्याज्ञान और मिथ्यादर्शन है कि मुझे मोक्ष जाना है। ये मिथ्यादर्शन है – ठीक ऐसा ही कि जैसे शरीर मेरा है।

मुमुक्षु :– दोनों विकल्प एक ही कोटि के हैं?

पूज्य बाबूजी :– एक ही कोटि के हैं।

मुमुक्षु :– अलिंगग्रहण के 20वें बोल में आया है कि आत्मा जो है ....अनुभूति मात्र है?

पूज्य बाबूजी :– हाँ! तो उसमें अंशों का ही निवारण किया है, अंशों का ही परिहार किया है। पहले पर्याय का परिहार किया, फिर गुणों का परिहार किया और फिर द्रव्य को अंशरूप में मानने का परिहार किया और फिर आत्मा को अनुभूतिमात्र सिद्ध किया।

मुमुक्षु :– द्रव्य को अंशरूप मानने का परिहार किया और फिर?

पूज्य बाबूजी :– यहाँ शुद्धात्मानुभूति की बात सिद्ध की है। क्या है फिर आत्मा? कि ये जो अनुभूति है वो ही आत्मा है। यहाँ सिद्ध की बात है – शुद्धात्मानुभूति।

द्रव्य को अंश मानना भी पर्याय का पक्ष है

मुमुक्षु :– बाबूजी द्रव्य को अंश मानना मतलब निश्चय का पक्ष है न?

पूज्य बाबूजी :– द्रव्य को अंश मानना वो भी पर्याय का पक्ष है, क्योंकि अंश जो है वो पर्याय का विषय होता है। द्रव्य है पूर्ण; तो पूर्ण होने पर भी उसको अंश मानना – ये मिथ्याज्ञान का विषय है। और अंश मानने पर अनुभूति इसीलिए नहीं होगी कि अंश को कोई भी नहीं चाहेगा। वो तो पूर्ण वस्तु को चाहता है।

जैसे कोई चाहे कि मुझे शक्कर से मात्र मिठास-मिठास मिल जाए तो

ऐसा नहीं मिलने वाला और आम से मुझे केवल रस-रस मिल जाए और मिठास-मिठास मिल जाए - ऐसा नहीं होगा। इसलिए अंश की जो दृष्टि है, अंश की जो श्रद्धा है वो भी मिथ्यादर्शन है क्योंकि अंश में क्या मिलेगा? सम्पूर्ण मिलता है जो भी मिलता है। तो द्रव्य को सम्पूर्ण जानकर अर्थात् न द्रव्य है न गुण है और न पर्याय है, वो तो एक निरंश तत्त्व है।

मुमुक्षु :- चिन्मात्र!

पूज्य बाबूजी :- चिन्मात्र - ऐसी अनुभूति।

मुमुक्षु :- न द्रव्य है, न गुण है?

पूज्य बाबूजी :- न गुण है, न पर्याय है। बस! निरंश चिन्मात्रतत्त्व है। द्रव्य अंश नहीं है सम्पूर्ण है, सम्पूर्ण आत्मा है। माने वही आत्मा है, और कुछ आत्मा है ही नहीं। परम पारिणामिकभाव जिसे कहते हैं वही आत्मा है।

मुमुक्षु :- एक समय की अनुभूति में कैसे अनुभव में आता है? अनुभूतिमात्र है?

पूज्य बाबूजी :- एक समय की अनुभूति माने एक-एक समय अनुभूति चलती है, तो अनुभव में क्यों नहीं आएगा? अनुभूति पैदा हुई जिसके अवलम्बन से तो तुरन्त आनन्द आएगा। फिर तो इसकी अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त, मध्यम अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त धारावाहिकता चलती है।

मुमुक्षु :- उसको अनुभूतिमात्र कहें?

पूज्य बाबूजी :- हाँ! अनुभूतिमात्र कहा, माने अनुभूतिमात्र का अर्थ ही ये है कि अनुभूति स्वयं अपने को अनुभूति नहीं मानकर सम्पूर्ण आत्मा मानती है, इसलिए अनुभूतिमात्र है। अनुभूतिमात्र कहा और अंशों का परिहार किया। अंशों के अवलम्बन से उत्पन्न होने वाले मिथ्यादर्शन और मिथ्याज्ञान का परिहार किया।

मुमुक्षु :– अंशों के अवलम्बन से उत्पन्न होनेवाले मिथ्यादर्शन और मिथ्याज्ञान का परिहार किया ?

पूज्य बाबूजी :– परिहार किया ! जैसे गुण–भेद होता है न, ऐसे ही ये द्रव्य को अंश मान लिया कि ये तो एक अंश है; पूरा पदार्थ तो द्रव्य–गुण–पर्यायवाला है। **प्रमाण की ओर से ये बात सही है, लेकिन प्रमाण से प्रयोजन की सिद्धि नहीं होती। सिद्धि होती है शुद्धनय से, प्रमाण से सिद्धि नहीं होती। इसलिए आगम का वचन तो ये है कि प्रमाण पूज्य नहीं है। प्रमाण की तो हम पूजा करते हैं, केवलज्ञान की पूजा करते हैं, मगर वो पूज्य नहीं है; अर्थात् वो उपादेय नहीं है, सम्माननीय नहीं है, अर्थात् उपादेय नहीं है अर्थात् वो अहम् करने लायक नहीं है, अर्थात् मैं द्रव्य–गुण–पर्याय स्वरूप हूँ – ऐसा नहीं, इस तरह अनुभूति नहीं होगी।**

मुमुक्षु :– मैं द्रव्य–पर्याय स्वरूप हूँ – ऐसे अनुभूति नहीं होगी ?

पूज्य बाबूजी :– ऐसे अनुभूति नहीं होगी। वो द्रव्य–गुण–पर्याय सबको उसमें मिलाया और फिर अनुभूति का विषय बनाया तो वो नहीं होगा; नहीं होगा, क्योंकि ध्रुव का स्वरूप ही न्यारा है न! वो जो ध्रुव का जो ध्रुवत्व है अनादि–अनन्त त्रैकालिक, वो तो ज्यों का त्यों रहता है।

प्रयोग–पद्धति

जिस प्रयोग–पद्धति में हम जाते हैं तो हमने उन द्रव्य और पर्याय का इस तरह विश्लेषण किया कि द्रव्य–गुण–पर्याय स्वरूप वस्तु है – ये तो पहले हमने प्रमाण में जाना। ये तो जानना जरूरी है, माने आवश्यक है। लेकिन ऐसा जानने के बाद ये देखा कि इनमें से एक तो है क्षणिक और विकारी और दूसरा है नित्य और शुद्ध। अब दोनों में से अवलम्बन किसका लेना ? उपादेय किसको बनाना ? अहम् किसमें करना ? ये प्रश्न पैदा हुआ। अगर ये चतुर है, कुशल है और वास्तव में आत्मा को चाहता

है तो इसको ये प्रश्न पैदा होगा कि अब ये तो दो विरुद्ध तत्त्व हैं और परस्पर विरुद्ध को एक ही साथ श्रद्धा का विषय बनाया नहीं जा सकता और बनायेंगे तो श्रद्धा मिथ्या होगी। इसलिए इनमें से उपादेय कौन है? तब उसने पर्याय की छानबीन की कि ये तो पकड़ने में आती ही नहीं है। अगर इसमें अहम् करूँ अर्थात् इसको सम्पूर्ण आत्मा मानूँ तो मैं इसके पीछे-पीछे कहाँ भागता फिरूँगा? ये तो चली जाएगी फिर अनन्तकाल में दोबारा वापिस आने वाली नहीं है। एक पर्याय जो गई फिर वो दोबारा अनन्तकाल में भी वापस नहीं आयेगी। इसलिए ये जो ध्रुव है वो हमेशा उपलभ्यमान है अर्थात् जब भी मैं चाहूँ तब ये उपलब्ध होता है, अर्थात् मैं कितनी भी गलती करूँ लेकिन ये मुझे क्षमा करता रहता है और मेरा साथ नहीं छोड़ता। नरक में भी ऐसा सोचकर इसने मेरा साथ नहीं छोड़ा कि कहीं ये भूला जाग जाए और मुझे ढूँढ़ने लगे, तो कहाँ ढूँढ़ेगा? इसीलिए वो ध्रुव है और ध्रुवत्व ही अवलम्बन के लायक, अहम् करने लायक होता है और वही उपलब्ध होता है।

'उपलभ्यमान' ऐसा शब्द आया है। उपलब्ध करने योग्य वो है - ध्रुव, क्योंकि वो वहाँ का वहाँ रहता है, जहाँ का तहाँ रहता है। जैसे अपने मकान में कोई खम्बा है, स्तम्भ। तो उसे क्या उपलब्ध करना है? उसे तो कभी भी उपलब्ध कर लो क्योंकि वो जहाँ का तहाँ है। और कोई चलने वाला चक्र है तो वो चक्र तो एक चक्र के बाद दूसरा, दूसरे के बाद तीसरा, वो चक्र फिर कहाँ आता है? वो तो गया, कभी आएगा नहीं। इसीलिए ये मैं हूँ - इस तरह से उसे अन्तिमरूप में विकल्प चलते हैं और यही ज्ञायक मैं हूँ तो फिर उसका गुणों से विचार करता हुआ अन्त में स्थिर हो जाता है तो वास्तविक अनुभूति हो जाती है।

मुमुक्षु :- और फिर द्रव्य अंशरूप नहीं दिखता, परिपूर्ण दिखता है?

पूज्य बाबूजी :- परिपूर्ण दिखता है, अंशरूप नहीं। नय की जो परिभाषा है वो तो यही है कि वो किसी अंश को विषय करता है,

लेकिन वहाँ अंश गायब हो जाता है, क्योंकि वो तो सम्पूर्ण है, क्योंकि मिथ्यात्व दशा में भी जिसका कुछ नहीं बिगड़ा और सम्यग्दर्शन होने पर जिसमें कोई सुधार और शुद्धता नहीं आई – ऐसा वो अत्यन्त शुद्ध-शुद्ध द्रव्य है, शुद्ध-शुद्ध वस्तु है। अब भले ही उसे कुछ भी कहें। द्रव्य कहें, अस्तिकाय के रूप में जीवास्तिकाय कहें, तत्त्व के रूप में जीव तत्त्व कहें, पदार्थ के रूप में आत्मपदार्थ कहें – कुछ भी कहें, नाम कुछ भी लें, लेकिन वो शुद्ध है और ध्रुव है और उपलब्ध करने लायक वही है और कोई नहीं है। जगत में अन्य भी द्रव्य हैं लेकिन वे तो हमारे हैं नहीं, इसलिए वो उपलब्ध करने लायक हैं ही नहीं। केवल यही उपलब्ध करने लायक है क्योंकि ये हर समय मिलता है। जैसे सातवें नरक में उसकी अज्ञानी की बुद्धि जागी, सुबुद्धि हुई और वो उसको आत्मा को ढूँढ़ने लगे और वो आत्मा गायब हो जाए तो ? तो किसका अनुभव करेगा ?

मुमुक्षु :– मगर वो कभी धोखा नहीं देता !

पूज्य बाबूजी :– वो धोखा नहीं देता कभी भी। वो इसके साथ ही रहता है हमेशा...ये बात ठीक है कि अभी इसका दिमाग खराब है, लेकिन कभी सुधर जाए तो फिर मुझे कहाँ ढूँढ़ेगा ? इसलिए कभी साथ नहीं छोड़ता।

वो पिता-पुत्री जैसा ही है। भाई ! इसको (पर्याय को) तो दिमागी बीमारी (mental ailment) है। तो ठीक है ये भी क्या करेगी ? जब ये बीमारी मिटेगी, ठीक होगी तब मेरी तरफ ही दौड़ेगी। तो मुझे उस समय उपलब्ध रहना चाहिए।

मुमुक्षु :– ये दौड़े न दौड़े मैं तो उपलभ्यमान हूँ !

पूज्य बाबूजी :– हाँ ! मैं तो उपलभ्यमान हूँ।

मुमुक्षु :– मतलब 'जागतो जीव उभो छे' (पूज्य बहनश्री चंपाबेन के बोल) ?

पूज्य बाबूजी :– हाँ! वही होता है सब कुछ – जो अनुभूति में आता है वो एकदम विद्यमान है, प्रगट है। प्रगट अनुभव में आता है। आँख बन्द करके कुछ भी चीज खाएँ अथवा आँख खोलकर खाएँ तो कोई फरक थोड़ी न पड़ता है। स्वाद में, आनन्द में थोड़ी न अन्तर पड़ता है, कुछ अन्तर नहीं पड़ता, इसलिए आत्मा के प्रदेश भले नहीं दिखाई देते, लेकिन प्रदेश नहीं दिखाई देने पर भी उसका स्वरूप अपन ने निर्णयात्मक ज्ञान में निश्चित किया है कि मैं चिन्मात्र तत्त्व हूँ और ये अन्य सारे के सारे इसके अतिरिक्त जितने भी हैं मेरी पर्याय समुदाय से लगाकर सारा लोकालोक, ये अन्य सब के सब पर हैं और इनमें ध्रुवत्व का कुछ भी नहीं है; सम्बन्ध का सर्वथा निषेध है। जब ऐसा जाना तो एकदम उछलता है कि मैं असहाय निरालम्ब तत्त्व हूँ, अपने बल पर खड़ा हुआ हूँ। अनादि से अपने बल पर खड़ा हुआ है अर्थात् किसी की भी सहायता की जरूरत नहीं है। जैसे पर्याय में तो निमित्त आदि का सहयोग कहा जाता है लेकिन इसमें तो किसी निमित्त का भी सहयोग नहीं है, किसी कर्म के उदय का भी सहयोग नहीं है। कैसा भी कर्म का उदय हुआ लेकिन शुद्धात्मा का कोई बिगाड़ नहीं हुआ और कर्म का क्षय हुआ तो शुद्धात्मा का सिद्ध दशा में भी कोई सुधार नहीं हुआ। कोई शुद्धता नहीं आई उसमें, इस तरह प्राचीनतम् पुरातन शुद्ध – ऐसा शुद्ध तत्त्व मैं हूँ और सम्पूर्ण हूँ, क्योंकि सम्पूर्ण अनन्त गुणों को लेकर बैठा हूँ, अनन्त शक्तियों का पिटारा हूँ एकदम! बस, फिर प्रसन्नता ही प्रसन्नता है।

किसी के पास पैसा होना, ये भी एक गुण माना जाता है कि नहीं? अब गुण तो क्या माना जाता है वो अपने आपको आसमान में मानता है। भले ही हस्ताक्षर भी नहीं करने आते हों, लेकिन गुण है कि नहीं एक तरह से? इसी तरह कोई वकील (advocate) है, कोई डॉक्टर है। तो वो उस विद्या में अगर पारंगत है, तो वो उसका गौरव करता है कि नहीं? तो जिसके पास ऐसे अनन्त गुण हों वो कैसा होगा?

वे गुण एक से एक विलक्षण स्वाद वाले हैं। तो वो कैसा होगा? महान है। इसलिए गुण को ये नहीं समझना कि सिर्फ शक्ति है! शक्ति है, वो तो सत् रूप है। जैसे द्रव्य सत् रूप है विद्यमान, इस तरह गुण भी सत् हैं एकदम विद्यमान। ज्ञान और आनन्द से लबालब भरा हुआ। बस, केवल अनुभूति का बटन दबाया और वो फव्वारा चलने लगा।

मुमुक्षु :– द्रव्य को अंशरूप नहीं देखना, परिपूर्ण रूप देखना है?

पूज्य बाबूजी :– हाँ! परिपूर्ण देखना, पूरा है वो। पूरा होने में कारण है न, हेतु है न! सुयुक्ति है कि द्रव्य और पर्याय दो ही तो हैं। अब दो मिलकर पूरा पदार्थ है – ये तो बात सही है! अब हमें तो अपना प्रयोजन सिद्ध करना है। द्रव्य और पर्याय दोनों को साथ लेकर प्रयोजन सिद्ध नहीं होता, इसलिए दोनों की हमने अपनी प्रयोगशाला (laboratory) में परीक्षा की। ये तो क्षणिक है और विकारी भी है। तो विकारी और क्षणिक ये मेरे काम का नहीं है, क्योंकि ये जो आज तक आकुलता रही उसका कारण ही यही है कि मैंने इस क्षणिक के साथ मोह किया।

मुमुक्षु :– ओहोहो! तो घर का चोर पकड़ा गया।

पूज्य बाबूजी :– बस! वो पकड़ा गया। तो फिर वो द्रव्य पर आ जाता है, क्योंकि ये ही उपलब्ध करने लायक है कि जो सदा उपलब्ध रहता है अर्थात् विद्यमान रहता है – तो ये निर्णय हो गया। वो अंश के रूप में नहीं हुआ क्योंकि जो श्रद्धा और ज्ञान है, उसने उसको अंश माना या पूर्ण माना? अगर अंश मानेंगे तो उधर जायेंगे ही नहीं। फिर हम क्या करेंगे टुकड़ों का? टुकड़ों का क्या करेंगे हम? हमें तो पूरा चाहिए। टुकड़ों का क्या करेंगे हम? जाएगा ही नहीं क्योंकि ये तो अपनी भी एक psychology (मनोविज्ञान) है कि हम टुकड़ों का क्या करेंगे? हमें तो पूर्ण चाहिए।

जैसे कोई नोट का एक टुकड़ा लाकर के अपने को दे दे तो अपन क्या करेंगे? चाहे वो 1000 रुपये का ही क्यों न हो! हमें तो पूर्ण चाहिए

और पर्याय स्वयं अपना स्वरूप जानती है कि मुझे तो मात्र देखना है। दर्शन करना है मुझे तो और करना क्या है? उसकी रचना नहीं करना है – द्रव्य में रचना कभी नहीं होती और ज्ञान भी रचना करता हुआ नहीं, पर रचना को दूर हटाता हुआ जानता है।

मुमुक्षु :– ये क्या कहा?

पूज्य बाबूजी :– कर्ता नहीं है न ज्ञान! ज्ञान कर्ता नहीं है। ज्ञान तो मात्र जानने वाला है न, ज्ञायक है न, इसलिए वो कर्ता नहीं है। अगर वो रचना करे तो कर्ता हो गया न! पर्याय अगर द्रव्य में कुछ रचना करे तो इसका अर्थ है कि वो अपूर्ण था और यदि वो अनादि से ही अपूर्ण है तो पूर्ण हो नहीं सकता और अपूर्ण कोई पदार्थ होता नहीं है क्योंकि आधा चेतन और आधा अचेतन कैसे होगा? उसका क्या स्वरूप होगा? इसलिए पूरा चेतन है।

मुमुक्षु :– न्यायों (logics) की बौछार लग गई है – एक के बाद एक, एक के बाद एक।

पूज्य बाबूजी :– पूरा चेतन है। पर्याय उसको पूरा देखती है। बस, हो गया ये। एक परिवार के दो सदस्य हैं, दोनों का धर्म पूरा हो गया। उसका धर्म है ज्यों का त्यों रहना और इसका धर्म है उसको वरमाला पहनाना।

मुमुक्षु :– द्रव्य का ज्यों का त्यों रहना और पर्याय का उसको वरमाला पहनाना।

पूज्य बाबूजी :– वरमाला पहनाना। भाई! पत्नी यही तो कहती है कि आप ही मेरे जीवन हैं। ये तो नहीं कहती है कि आधे तुम और आधी मैं। यद्यपि नाम उनके कुछ भी हों लेकिन ये ही कहती है न कि मेरे जीवन तो आप ही हैं।

❖❖❖

तत्त्वचर्चा : क्रमांक 6

(28 जनवरी 1999)

इस चर्चा में ज्ञान और प्रतिभास, अज्ञान में अज्ञान का विरोध, अप्रगट ज्ञायक का निर्णय, पर्याय से द्रव्य की सिद्धि, लब्धि और उपयोग, अनुभूति में मन की भूमिका आदि अनेक बिन्दुओं का मार्मिक स्पष्टीकरण किया गया है।

मुमुक्षु :– प्रतिभास का अर्थ क्या है?

पूज्य बाबूजी :– प्रतिभास माने ज्ञेय जैसा ज्ञान का आकार, उसका नाम प्रतिभास है और वो ज्ञानी और अज्ञानी दोनों को हर समय होता है। अज्ञानी को क्योंकि परपदार्थों के साथ एकत्व है इसलिए अज्ञानी को तो एकान्त परपदार्थ का ही प्रतिभास होता है। 17-18 गाथा में जो कहा था उस पर चर्चा अपन कर चुके हैं। 'मैं जानता हूँ' – ये सब जीव स्वीकार करते हैं। जानने को सब जीव स्वीकार करते हैं कि 'जानता हूँ अर्थात् मैं जानने वाला हूँ' – ये स्वीकार करते हुए भी जानना और जानने वाला, उनका स्वरूप स्पष्ट न होने के कारण वे पर के साथ एकत्व कर बैठते हैं। पर को आत्मा में मिला देते हैं। अज्ञान के अनेक प्रकार हैं – जैसे पर के साथ एकत्व करना, अहम् करना, पर को अपने में मिलाकर अनुभव करना, रागादि को अपने में मिलाकर अनुभव करना – इत्यादि। तो अज्ञानियों को तो एकान्त पर का ही प्रतिभास होता है।

ज्ञानी को जब स्वानुभूति होती है स्वसंवेदनज्ञान, निर्विकल्प समाधि होती है, उस समय तो स्व का अर्थात् ज्ञायक का प्रतिभास होता है। चिन्मात्र जो चैतन्य तत्त्व है, उसका जो स्वरूप पहले विचार दशा में निश्चित किया था, निर्णय किया था और उस निर्णय में कोई भी किसी तरह की कसर नहीं थी अर्थात् अत्यन्त स्पष्ट निर्णय था। उस निर्णय के

बाद चिन्तन चलते–चलते अन्त में उसकी महिमा बढ़कर चिन्तन रुक जाता है और अनुभूति हो जाती है। उस समय तो अकेले स्व का ही प्रकाशन होता है। **उस समय जो अतीन्द्रिय आनन्द का जन्म होता है, वो भी ज्ञान की सामर्थ्य से जानने में आ जाता है। इस तरह ज्ञानी को अनुभूति की दशा में स्व और पर दोनों का प्रतिभास होता है।**[1]

जिस समय ज्ञान स्वानुभूति में नहीं होता और उसका उपयोग बाह्य पदार्थों में होता है, तो बाह्य पदार्थों के साथ परत्व लिए पर का प्रतिभास होता है; स्व का प्रतिभास उस समय नहीं होता। इसलिए एक समय में एक का ही प्रतिभास, एक का ही जानना होता है।

जानना ही प्रतिभास है

मुमुक्षु :– प्रतिभास माने जानना ?

पूज्य बाबूजी :– हाँ जानना ही है, लेकिन वो आकार सहित है। आकार सहित अर्थात् जैसा उस स्वरूप का निर्णय किया वैसा। आत्मा के अमूर्त स्वभाव का और त्रैकालिक, अविनाशी, अक्षय, अनन्त गुणात्मक जो निर्णय किया, ठीक वैसा का वैसा चिन्मात्र तत्त्व ज्ञान में भासित होता है, उसको आकार कहते हैं। द्रव्य–गुण–पर्याय को अर्थ कहते हैं और अर्थ के प्रतिभास को आकार कहते हैं। **बाह्य पदार्थ में उपयोग के समय ज्ञानी को तो अकेले पर का ही प्रतिभास, उन पदार्थों के साथ परत्व लिए हुए होता है।**

मुमुक्षु :– ये परत्व लिए हुए माने क्या बाबूजी ?

पूज्य बाबूजी :– परत्व लिए हुए माने 'ये मेरे नहीं हैं' – ऐसा परत्व। ऐसा बोलना नहीं पड़ता, ऐसा विचार नहीं करना पड़ता लेकिन जिस समय अनुभूति हुई उस समय 'ये शुद्ध चैतन्य ही मैं हूँ' – बस

1. यह कथन उपयोग की अपेक्षा समझना चाहिये।

इतना! अनुभूति में सिर्फ इतना कि 'शुद्ध चैतन्य ही मैं हूँ' – ये भी लम्बी भाषा है, ये लम्बी भाषा है। माने चिन्मात्र बस! वहाँ तो ये अनुभूति में होता है। और ये 'चिन्मात्र हूँ, तो चिन्मात्र से अन्य जितने भी हैं वे सब पराये हुए। इस प्रकार अपनी शुद्ध-अशुद्ध पर्यायों सहित अन्य जितने भी हैं, वे सब पराये हुए।

उपयोग अनुभूति से बाहर बाह्य पदार्थों की ओर जाता है – ये व्यवहार भाषा में बोल रहे हैं। बाहर जाता है तो किस तरह जाता है, किस तरह जानता है – वो तो स्वपरप्रकाशक का प्रकरण न्यारा ही है। लेकिन जब उपयोग बाह्य पदार्थों की ओर होता है तो उस समय आत्मा की ओर उपयोग नहीं होता, तो उस समय अनुभव दशा नहीं होती, स्वसंवेदनदशा नहीं होती।

मुमुक्षु :– आनन्द नहीं होता।

पूज्य बाबूजी :– आनन्द नहीं होता, स्वसंवेदनदशा नहीं होती – ऐसा है।

मुमुक्षु :– बराबर! माने पर में परत्व लिए प्रतिभास होता है?

पूज्य बाबूजी :– पर में परत्व लिए होता है और अज्ञानी को पर में एकत्व लिए होता है। वास्तव में अज्ञानी को तो एकान्त है कि स्व का प्रतिभास होता ही नहीं है, क्योंकि **स्व का वास्तविक प्रतिभास हो तो उसी का नाम अनुभूति है, उसी का नाम स्वसंवेदन है और अज्ञानी को जो होता है तो एकान्त पर का ही प्रतिभास होता है। पर का होता है, लेकिन पर को स्व मानकर और स्व जानकर होता है।**

अज्ञान भी अज्ञान का विरोधी हो जाता है

ज्ञानी को अनुभूति के समय स्व-पर का विभाग अनुभव में आ गया, इसलिए इस मेरे चिन्मात्रतत्त्व के अतिरिक्त जितने भी जगत के भाव हैं....भाव माने अस्तित्वरूप तत्त्व। अपनी शुद्ध-अशुद्ध पर्यायें कर्म-

नोकर्म इत्यादि सारा जगत, सारा विश्व, वो पर की कोटि में जाता है और उसका जानना स्वतः ही परत्व लिए ही होता है क्योंकि ज्ञान में स्व–पर के विभाग की ऐसी सामर्थ्य प्रगट हो गई है जो अज्ञानदशा में नहीं थी। क्षयोपशम ज्ञान में स्व–पर के विभाग की जो सामर्थ्य है, वह अज्ञानदशा में नहीं थी। **यद्यपि अज्ञानदशा से ही ये सारा कार्य प्रारम्भ होता है लेकिन फिर वो अज्ञान पलट जाता है। अज्ञान भी करवट ले लेता है और स्वयं अज्ञान का विरोधी हो जाता है। अज्ञानदशा से ज्ञान दशा में जब पहुँचा, तब तो ज्ञायक का अनुभव हुआ और उसको पर्याय में ज्ञायकाकर प्रतिभास होता है।**

आनन्द दशा भी पुद्‌गल है

वो प्रतिभास कैसा होता है? कि जैसा उसने उस शुद्धात्मा का निश्चय किया था, चिन्मात्र तत्त्व का जैसा ज्ञान में निश्चय किया था, ठीक वैसा का वैसा प्रतिभास माने वैसा का वैसा ज्ञान अर्थात् वैसा का वैसा वेदन, स्वसंवेदन और वो आनन्द लिए हुए होता है। उस समय जो स्व है वो तो शुद्धातम तत्त्व है। उसके अतिरिक्त अन्य सब पर हैं – ये उसने निश्चय कर ही लिया है। इसलिए जो आनन्द दशा प्रगट हुई वो भी परतत्त्व है, परपदार्थ है, परद्रव्य है, पुद्‌गल द्रव्य है।

मुमुक्षु :– आनन्द दशा प्रगट हुई, वो पुद्‌गल द्रव्य है अर्थात् परद्रव्य है?

पूज्य बाबूजी :– वो पुद्‌गल द्रव्य है, परद्रव्य है क्योंकि ऐसा वचन है आगम का कि शुद्ध जीवास्तिकाय के अतिरिक्त अन्य जितने भाव हैं, वे सब पुद्‌गल द्रव्य के हैं। ऐसा जो तत्त्ववेदी स्पष्ट रूप से जानता है वो अपूर्व सिद्धि को प्राप्त करता है – ये तो ज्ञानी की बात है।

ज्ञानी को अभी चारित्र की कमजोरी है न! इसलिए अस्थिरता है। उस अस्थिरता के कारण स्व में टिक नहीं पाता, यद्यपि उसका मन वहीं

रहता है। रहता है माने ? मन वहीं लगा रहता है, यद्यपि उपयोग पर की ओर चला गया पर फिर भी मन वहाँ से हटा नहीं है क्योंकि सर्वोत्कृष्ट तत्त्व के पहले दर्शन हो चुके हैं। इसलिए मन में तो वो ही बसा है, कलेजे में तो वो ही बसा है लेकिन अस्थिरता के कारण ज्ञान पर में चला जाता है, वहाँ परत्व लिए पर का प्रतिभास होता है क्योंकि ज्ञान हमेशा ही हेय और उपादेयरूप परिणमन करता है। जो भी परिणाम होता है उसमें उपादेयत्व और हेयत्वरूप परिणमन होता है। हेयत्व को तो कहना नहीं पड़ता और ज्ञानी को परपदार्थों में उपादेयत्व तो है ही नहीं, इसलिए परपदार्थों में उपयोग के समय हर परिणमन उनके साथ हेयत्व लिए होता है और स्वानुभूति के समय स्व में उपादेयतारूप परिणमन होता है – ऐसा नियम है।

अनुभूति में आनन्द का ज्ञान

मुमुक्षु :- स्व में उपादेयतारूप परिणमन होता है, स्वानुभूति के समय ?

पूज्य बाबूजी :- स्वानुभूति के समय परपदार्थ जानने में नहीं आते, परभाव जानने में नहीं आते, रागादि जानने में नहीं आते। अपनी शुद्ध पर्याय भी जानने में आती है तो वो आनन्द के रूप में। जानने में आ जाती है, ज्ञानी को इसे जानना नहीं है; इसे तो केवल शुद्ध तत्त्व को, शुद्धात्म तत्त्व को ही जानना है और उसी की ओर एकाग्र रहना है क्योंकि उसने उसी में अपनत्व स्थापित किया है, स्वत्व स्थापित किया है, उपादेयता स्थापित की है। उसके अतिरिक्त उसके लिए अन्य सारा जगत मिट्टी है। अपनी शुद्धाशुद्ध पर्यायें भी चिन्मात्र के अतिरिक्त कोई अस्तित्व नहीं रखतीं। एक मात्र वही सर्वोच्च स्थान पर है। इसलिए चित्त में तो वो बैठ गया है, ज्ञान में तो वो सदा के लिए बैठ गया है। पर अस्थिरता के कारण उपयोग बाहर चला जाता है।

जैसे गर्मी के दिन हों, बहुत गर्मी के और उस समय कोई व्यक्ति अपने वातानुकूलित एयर कन्डिशन्ड (Air Conditioned) कमरे में बैठा है और उस समय बाहर से कोई आवाज देता है और अपना सुपरिचित है। तो इसको मन न होते हुए भी बिना मन के बाहर निकल कर जाना पड़ता है और उससे बातचीत करना पड़ता है। माने उस शीतलता से निकलकर गर्मी में जाना पड़ता और बातचीत करना पड़ता है, लेकिन मन शीतलता में ही बसा रहता है।

इसी तरह ज्ञानी अन्य को जानते समय अन्य को जानने में अन्तर्मग्न हो जाये – ऐसा कभी नहीं होता। जानना भी उसको उदासीनभाव से, उपेक्षित भाव से होता है, एकदम उपेक्षित भाव से होता है। मन ऐसा कहता है कि ज्ञान उधर जावे ही नहीं और इसी आनन्दघन तत्त्व में लगा रहे – ऐसा उसका मन बन गया है।

मुमुक्षु :– मन ये चाहता है कि ज्ञान उधर आवे ही नहीं, इसी ज्ञान तत्त्व में बँधा रहे ?

पूज्य बाबूजी :– उसी में ज्ञानघन में, आनन्दघन में लगा रहे, मन में तो ये बस गया है। वो बस गया है, मन में माने ज्ञान में। लेकिन फिर भी अस्थिरता के कारण चला जाता है क्योंकि अभी चारित्र की अस्थिरता बाकी है, साधक दशा है, तो उसमें शुद्ध और अशुद्ध दोनों दशायें एक साथ चलती हैं। **एक ही पर्याय में शुद्धता और एक ही पर्याय में अशुद्धता। इस तरह दो विभाग होते हुए भी वे दोनों मिलकर चलते हैं लेकिन एक नहीं होते। पर्याय एक है लेकिन उसके दो विभाग हैं, एक शुद्ध अर्थात् सुखरूप और एक अशुद्ध अर्थात् दुःखरूप, रागादिरूप। चारित्र की ऐसी दो दशायें चलती हैं।**

अनन्तानुबन्धी के जो रागादि हैं या क्रोध–मान–माया–लोभ हैं, वो तो रहे ही नहीं। अब तो कषाय की शक्ति ही पूरी तरह से टूट गई है। केवल इतना है कि जैसे किसी व्यक्ति के प्राण निकल गए हैं और उसे

श्मशान में ले जाकर जलाना है। अब ऐसा राग रह गया है कि उसके प्राण तो निकल चुके हैं क्योंकि जड़ तो समाप्त हो गई है और अब केवल थोड़े समय के लिए वृक्ष हरा दिखाई देता है लेकिन वो निश्चितरूप में सूखेगा।

ज्ञानी को सुख और दुःख एक साथ होते हैं

इसी तरह ज्ञानी को ये विश्वास है कि ये जो राग है, इससे घबराने की आवश्यकता नहीं है। प्रथम तो यह मेरे में है ही नहीं; परतत्त्व है। और यदि ये रहता भी है तो मुझे कोई फिकर नहीं क्योंकि निश्चितरूप में इसका प्राणान्त होने वाला है, इसलिए घबराने की बात नहीं है और मुझे घबराने की इसलिए भी आवश्यकता नहीं क्योंकि मेरा इससे कोई सम्बम्ध ही नहीं है। मैं तो एक चिन्मात्र हूँ, शुद्ध तत्त्व हूँ, सर्वोच्च हूँ। इस तरह अपने को मानता हुआ भीतर से सुखरूप परिणमन करता है और दुःख रूप भी परिणमन होता है। सुख और दुःख दोनों रूप परिणमन होता है।

मुमुक्षु :- भीतर से सुखरूप परिणमन होता है?

पूज्य बाबूजी :- सुखरूप माने जितना राग था और मिथ्यादर्शन था, तो उतना चला गया। तो उतनी जगह खाली हो गई क्या? वो जगह खाली थोड़ी रहेगी! वो शुद्ध पर्याय से भर गई। उतना शुद्ध अंश चारित्र में विद्यमान है और शेष रागादिरूप अशुद्ध अंश भी चारित्र की पर्याय में चलता है।

इसी तरह सुख गुण की पर्याय में सुख प्रगट हुआ। वो जो आनन्द था न, उस समय सुख प्रगट हुआ और अभी दुःख भी बाकी है क्योंकि उपयोग बाहर जाता है, तो विविध प्रकार का अनुभव होता है। कषायरूप अनुभव होता है, तो उसके फल में दुःख भी होता है और लौकिक सुख भी होता है - दोनों बात हैं। लौकिक सुख और दुःख माने दुःख; तो इस

तरह मिश्र वेदन वहाँ पर चलता है, अर्थात् उतना सुख तो सदा के लिए हो ही गया न! जो स्वानुभूति में प्रगट हुआ था वो सुख तो सदा के लिए हो गया और अब जो दुःख बाकी है उसी में से टूटता जा रहा है, उसी में से क्षीण होता है। पुनः पुनः आत्मा की ओर जाता है जैसी इसकी शक्ति है उस तरह से, दुःख टूटता है, कषाय टूटती है और राग टूटता है। राग का फल दुःख है तो वो टूटता है। इस तरह राग टूटकर वीतरागता का जन्म चारित्र में होता है और उधर दुःख टूटकर सुख का जन्म होता है, अर्थात् दोनों बढ़ते जाते हैं, जिसको निर्जरा कहते हैं अर्थात् शुद्धता में वृद्धि होती जाती है।

अप्रगट ज्ञायक का निर्णय कैसे करें

मुमुक्षु :– बाबूजी कल जो स्वरूप के बारे में चर्चा चली थी तो उसमें एक प्रश्न ये था कि जैसे लोक में हमको अपनी बच्ची की शादी करनी है तो हम लोग कितना ढूँढ़ते हैं। कैसा लड़का है? क्या करता है? उसकी आमदनी क्या है? कुटुम्ब कैसा है? और हर एक प्रकार का निर्णय करके बाद में हम नक्की करते हैं कि ये अपनी बच्ची के लिए योग्य है क्योंकि इसको वो प्रगट है। लेकिन अपना जो ज्ञायकभाव है वो तो अप्रगट है। तो उसको किस तरह से खोजें? किस तरह से उसका निर्णय करें क्योंकि वो तो अप्रगट है? तो अपन अपने ज्ञान में उसके स्वरूप को कैसे बिठायें?

पूज्य बाबूजी :– सबसे बड़ी भूल तो पहले यही है कि वो अप्रगट है।

मुमुक्षु :– पर्याय में प्रगट है क्या?

पूज्य बाबूजी :– पर्याय में प्रगट है तो वो प्रगट है। लेकिन हम ये नहीं मानें ये दूसरी बात है न! लेकिन ज्ञान का कभी अन्त नहीं होता, ज्ञान कभी अस्थिर नहीं होता। ज्ञान तो जितना भी है, उसका जितना विकास है उतना प्रतिसमय चलता है। चलता है न? तो ये जो ज्ञान चलता है ये कौन है?

पर्याय तब होती है जब उसके पीछे कोई वस्तु हो, तो पर्याय होती है। वस्तु ही अगर न हो तो परिणमन कैसे होगा? जैसे किसी का बच्चा ही नहीं हो तो वो स्कूल में प्रवेश (admission) कैसे करायेगा? करवा देगा? तो यहाँ वस्तु ही न हो तो परिणमन कहाँ से होगा? तो यह जो प्रतिसमय चलनेवाला ज्ञान है, ये जगत के अचेतन पदार्थों से एक विलक्षण तत्त्व है, उससे विरुद्ध तत्त्व है, तो ऐसा ही विरुद्ध तत्त्व एक द्रव्यरूप होना चाहिए, वस्तुरूप होना चाहिए। वो चिन्मात्रतत्त्व है, चैतन्यतत्त्व है, उसी की ये पर्याय है, वो पर्याय भी स्वतंत्र तत्त्व है, इसलिए विपरीत परिणमन होता है। उसे कहा जाए, समझाया जाए तो भी ना समझे। तीर्थंकर समझायें तो भी ना समझे। और एक सामान्य जो अनुभूति-सम्पन्न गृहस्थ है, उससे समझ जाए। उसे समझना स्वयं उसकी होनहार, काललब्धि और पुरुषार्थ पर निर्भर करता है। तो पुरुषार्थ से यदि वो समझ जाती है, पलट जाती है और ज्ञान निर्मल हो जाता है, अनुभव दशा प्रगट हो जाती है, इसलिए ये प्रगट है।

आपकी जो अप्रगट की बात थी न....तो वो ज्ञान की पर्याय प्रगट है कि नहीं? ज्ञान की पर्याय प्रगट अर्थात् प्रतिसमय अपने अनुभव में आती है और दूसरे के भी अनुभव में आती है। अपनी ज्ञान की पर्याय अपने अनुभव में आती है और दूसरे के अनुभव में भी आती है। दूसरे के अनुभव में नहीं आये तो वो कैसे अपने से बातचीत करे? लेकिन वो करता है न! जैसे एक प्रोफेसर है, वो बच्चों को पढ़ाता है। वो ये जानता है कि मैं तो ज्ञान में परिपूर्ण हूँ ही लेकिन ये भी ज्ञानवाले हैं इसलिए grasp (पकड़) कर रहे हैं, तो ज्ञान की पर्याय अन्य के अनुभव में भी आती है और अपने अनुभव में में भी आती है। अब अज्ञानी ये निश्चय नहीं कर पाता कि ज्ञान की जो पर्याय है, वही तो आत्मा है, क्योंकि आत्मा न हो तो वो ज्ञान कहाँ से आवे? अगर इतना निश्चय कर ले तो इतने में तो निहाल हो जाये! लेकिन ये निश्चय न करके वह पर में लुब्ध

रहता है और पर में लुब्ध रहता है तो इसको कष्ट ही कष्ट होता है और उसका भी कारण है, क्योंकि जगत की जो भी सत्तायें हैं, वो अत्यन्त स्वतन्त्र हैं, इसलिए किसी भी सत्ता के साथ एकत्व करना अथवा अपना स्वामित्व घोषित करना – ये विश्व का सबसे बड़ा अपराध है न ?

दो व्यक्ति हैं जैसे – एक है हिन्दुस्तानी Indian और एक है अंग्रेज। तो दोनों में झगड़ा हो जाये तो अदालत (court) चले जायेंगे और दोनों में से एक को सजा हो जाएगी; तो वो तो मामला निपट जाएगा। लेकिन अगर हिन्दुस्तान किसी दूसरे देश की एक इंच भूमि पर भी अधिकार करे तो वो मामला अदालत (court) में नहीं निपटेगा, वहाँ तो महायुद्ध होगा, क्योंकि वो बड़ा अपराध है। दूसरे की एक इंच भूमि पर भी कब्जा करना ये महान अपराध है। इसने सारे लोकालोक पर अपने मिथ्यादर्शन से कब्जा माना है, मानने की चेष्टा की है, हुआ नहीं है कब्जा, कब्जा होता नहीं है कभी। लेकिन कब्जा इसने घोषित किया है और माना है। तो इसकी जो नियत है वो महा-अपराधिनी नियत है और सजा कार्य की नहीं होती, नियत की होती है। अदालत में अभिप्राय (intention) की सजा होती है ।

जैसे कोई मर जाए तो भी वो बरी किया जाता है कि इसकी intention (अभिप्राय) नहीं थी। इसकी intention (अभिप्राय) खराब है सारे लोकालोक को हड़पने की। उस पर अपना स्वामित्व घोषित करता है। ये महान अपराध, ये केवल जैनदर्शन स्वीकार करता है। दूसरी जगह मिथ्यात्व नाम की चीज ही नहीं है।

परिणमन से सत्ता की स्वीकृति हो जाती है

मुमुक्षु :- तो परिणमन से सत्ता मात्र का स्वीकार आ जाता है कि वस्तु है तो परिणमन है ?

पूज्य बाबूजी :- बिल्कुल आयेगा, आयेगा न। हाँ ! जैसे यदि कोई

आँखों से नहीं देखता है, अंधा है और उसके मुँह में शक्कर रख दी गई तो वो कैसे जानेगा कि शक्कर है?

मुमुक्षु :- स्वाद से।

पूज्य बाबूजी :- मिठास से। मिठास का अनुभव होगा तो तुरन्त जान लेगा कि मेरे मुँह में शक्कर है। तो जो मिठासरूप परिणति है, उसके साथ में शक्कर नाम का द्रव्य पड़ा हुआ है। अगर वो न हो तो मिठास कहाँ से आएगी? दीपक न हो तो प्रकाश कहाँ से आएगा? इसलिए वो लक्षण है। हर पदार्थ के साथ उसका अपना-अपना लक्षण होता है और उस लक्षण से वो पदार्थ पहचाना जाता है, उस पदार्थ को लक्ष्य कहते हैं।

आत्मा के साथ ज्ञान है। जो ज्ञान है वो अपनी आत्मा को पहचानने के लिए है, दुनिया को पहचानने की बात दूसरे नम्बर पर है। पर इसने अनादिकाली से दूसरे नम्बर की बात को पहले नम्बर पर रखा है, तो इसने अन्य को जानने का इसने अहम् किया। लेकिन सचमुच अन्य को भी नहीं जानता क्योंकि अन्य की गिनती करना और जानना - इसको जानना नहीं कहते। जानने का जो मुख्य केन्द्रबिन्दु तो यह है कि उसे स्व-पर का विभाग है या नहीं।

जैसे एक व्यक्ति ये जानता है कि उसके मकान के सामने एक मकान है। तो उससे पूछा जाये कि ये क्या है? कि ये मकान है। लेकिन उसकी जो नियत है वो उस मकान को हड़पने की है। तो वो मकान कहता है - ये बात सच्ची है? या हड़पना चाहता है - ये बात सच्ची है? वो उसे मकान कहता है - ये ज्ञान सही है? या हड़पना चाहता है - ये ज्ञान सही है?

मुमुक्षु :- हड़पना चाहता है।

पूज्य बाबूजी :- हड़पना चाहता है - वो ज्ञान खोटा है और मकान

कहता है – उस ज्ञान की कोई कीमत नहीं क्योंकि लोक में भी स्व–पर के विभागपूर्वक ज्ञान की प्रवृत्ति होना चाहिए – इस तरह ज्ञान की स्व–पर के विभागपूर्वक प्रवृत्ति होती है।

जिस तरह अगर कोई सज्जन व्यक्ति है, सदाचारी व्यक्ति है तो वो सारे शहर में घूमेगा। लेकिन परत्व लिए घूमता है, अपनत्व लिए नहीं घूमता है। तो उसे सब लोग सदाचारी और सज्जन कहते हैं। ऐसी ही स्थिति यहाँ है कि भले ही ज्ञान सारे लोकलोक को जाने; लेकिन ये जाने कि ये मेरे नहीं हैं। मैं तो एक मात्र चैतन्य सत्ता अर्थात् चैतन्यमात्र हूँ – बस इतना जाने। तो वो सज्जन है, सदाचारी है। यहाँ भी सदाचार है। सत् का आचरण उसको सदाचार कहते हैं।

लब्धि और उपयोग का स्वरूप

मुमुक्षु :– बाबूजी लब्धि उपयोग में लब्धि द्रव्य शक्ति है या गुण शक्ति या पर्याय शक्ति ?

पूज्य बाबूजी :– लब्धि पर्याय शक्ति है और उपयोग माने प्रतिसमय जानन–क्रिया का होना। जानन–क्रिया में क्या है कि जैसे अपन सैनी पंचेद्रिय जीव हैं अर्थात् मन और पाँच इन्द्रियवाले जीव हैं। अपने को जो जानना होता है वो एक बार में किसी एक इन्द्रिय का अवलम्बन लेकर जानना होता है और बाकी चार इन्द्रिय और मन से सम्बन्धित ज्ञान लब्धरूप में रहता है। लब्ध माने क्षयोपशम। तो उतना ज्ञान तो लब्धरूप में यानि क्षयोपशम के रूप में रहता है और जितना ज्ञान प्रवर्त्तमान है तो वो किसी एक इन्द्रिय का होता है। स्पर्श का हो, रसना का हो – ये तो व्यवहार से कहना पड़ रहा है न! ये बात तभी समझ में आयेगी। वरना यदि भीतर से देखा जाए तो ज्ञान तो एक ही है, लेकिन घ्राण का हो, चक्षु का हो, कर्ण का हो अथवा मन का हो – इन छह में से एक बार में एक ही के अवलम्बन वाला ज्ञान प्रवर्त्तमान होगा और शेष लब्धरूप रहता है, क्योंकि उसका जो विकास है वो तो ज्यादा है। विकास तो अधिक है

लेकिन विकास के परिणमन की शर्त यह है कि सारा का सारा विकास एक ही समय में परिणमित नहीं होगा। उसमें से एक-एक का विकास हो - इस तरह चलेगा।

मुमुक्षु :- लब्ध अल्प पर्याय या पूर्ण पर्याय है?

पूज्य बाबूजी :- लब्ध जो है वह अल्प पर्याय है।

मुमुक्षु :- उपयोगरूप पर्याय क्या है?

पूज्य बाबूजी :- हाँ! ये जो लब्धि और उपयोग है, ये तो क्षयोपशम ज्ञान में होता है, इसीलिए वो पर्याय अल्प पर्याय है अर्थात् कम विकास वाली पर्याय है। केवलज्ञानरूप नहीं है न! इसलिए अल्प पर्याय है। उसे कम विकास वाली कहें कि उसमें विकास कम है।

जैसे चन्द्रमा है, दूज का चन्द्रमा..... तो बहुत थोड़ी चाँदनी है। फिर तृतीया का, चतुर्थी का..... तो ये चन्द्रमा तो पूरा है कि नहीं इस समय? चन्द्रमा तो इस समय पूर्ण है लेकिन पूर्ण होने पर भी उसका जो विकास है वो इस तरह चलता है। इस तरह ज्ञान छह प्रकार के क्षयोपशमवाला होने पर भी एक समय में केवल एक का ही सहारा लेकर के जाननेरूप प्रवर्तित होता है।

पाँच इन्द्रियाँ तो केवल पुद्गल में व्यवसाय करती हैं लेकिन वो भी एक-एक करके। स्पर्श को जाने, रस को जाने, गंध को जाने, वर्ण को जाने, एक समय में एक को ही जाने। और मन मूर्त और अमूर्त सब में व्यवसाय करता है। ये क्षयोपशम ज्ञान की दशा है और यही क्षयोपशम ज्ञान केवल मन का सहारा लेकर शुद्धात्मा के चिन्तन में लीन होता है और शुद्धात्मा की अनुभूति में पहुँच जाता है।

बाकी जो अन्य का जानना है न! बाकी जो दूसरे पदार्थों का जानना लब्धरूप रहता है और शुद्धात्मा का जानना उपयोगरूप होता है और जिस समय बाह्य पदार्थों का जानना उपयोगरूप होता

है तो उस समय शुद्धात्मा का जानना लब्धरूप होता है। एक समय में एक ही जानने में आता है।

मुमुक्षु :– तो ये मन और अमूर्त का सम्बन्ध किस तरह से होता है?

पूज्य बाबूजी :– मन जो है वो मूर्त और अमूर्त दोनों को जानता है और जो पाँच इन्द्रियाँ हैं उनका व्यवसाय केवल पुद्गल में होता है और मन का व्यवसाय मूर्त और अमूर्त दोनों में होता है। मन आत्मा के स्वरूप को जानता है कि नहीं? ये मन का ही तो सारा काम है। मन नहीं होता तो आत्मानुभूति नहीं होगी – पाँच इन्द्रियाँ केवल पुद्गल में जाननरूप व्यवसाय करती हैं।

आत्मानुभूति में मन की भूमिका

मुमुक्षु :– बाबूजी! आत्मानुभूति मन में होती है कि उपयोग में होती है?

पूज्य बाबूजी :– मन और उपयोग एक ही बात है क्योंकि वो मन वाला उपयोग है।

मुमुक्षु :– भावश्रुतज्ञान जो होता है न तो......

पूज्य बाबूजी :– भावश्रुतज्ञान माने शुद्धात्मानुभूति, वो मन के अवलम्बन से होती है। मन का अवलम्बन माने वो मन के अवलम्बन के बिना होती है, ये बात अधिक कही जाती है। मन के अवलम्बन से होती है ये बात गौण है, क्योंकि मन के अवलम्बन से तो विकल्प होते हैं, विचार होते हैं, तरंगें होती हैं और ये आत्मानुभूति तो स्थिरता रूप है, इसलिए वहाँ मन रहता है तो अनुभूति होती है, क्योंकि पहले मन के द्वारा ही आत्मा का सारा चिन्तन किया था न! आत्मा अमूर्त होने पर भी मन से उसके स्वरूप का चिन्तन किया था और उसी मन में निश्चय किया था। निश्चय के बाद जब महिमा जागी तो वो धारा अर्थात् चिन्तन–धारा चल पड़ी और चिन्तन–धारा चलते–चलते, शिथिल

होते–होते अन्त में पूरी रुक गई और अनुभूति प्रगट हो गई, शुद्धात्मानुभूति प्रगट हो गई – ऐसा होता है। एक समय में एक का ही जानना होता है।

मुमुक्षु :– मन पावै विश्राम – ऐसा भी आता है न ?

पूज्य बाबूजी :– 'मन पावै विश्राम' – उसका अर्थ बताया न कि अधिकता से तो ये कहा जाता है कि उस समय मन की परिणति नहीं होती। लेकिन मन होता है, द्रव्यमन होता है तभी तो भावमन होता है, भावमन की प्रवृत्ति होती है। दोनों में कोई कर्ता–कर्म भाव नहीं है, सम्बन्ध भी नहीं है। केवल उसका (मन का) होना, केवल उसका होना – ऐसा। यहाँ द्रव्यमन है न ! यहाँ जो वक्षस्थल है इसमें आठ पँखुड़ी के कमल के आकाररूप बहुत सूक्ष्म द्रव्यमन है।

जैसे ये अन्य इन्द्रियाँ हैं न ! जो स्पर्श इन्द्रिय है...तो यहाँ हमने कोई गरम चीज लगाई। वो गरम चीज यहाँ लगाते ही गरम का ज्ञान होता है – नहीं लगावें तो ज्ञान नहीं होगा न ! तो यहाँ लगाते ही तुरन्त ज्ञान होता है। यहाँ लगती है वो वस्तु माने उसका स्पर्श। यदि गर्मी पड़े तो गर्मी का स्पर्श यहाँ होता है न ! तो उसको तुरन्त ज्ञान होता है। इससे ज्ञान हुआ वो बात नहीं हैं, लेकिन केवल इसका होना आवश्यक है।

जैसे एक व्यक्ति गाता है लेकिन सितार के बिना नहीं गाता, पर सितार से नहीं गाता है। सितार गाना नहीं सिखाती है। पर अगर वो गाता है तो वहाँ पर सितार होती है और सितारपूर्वक ही वो गाता है। सितार कोई गाना नहीं सिखाती है, गाता तो वो स्वयं है। वो स्वयं गाता है, उसी का गौरव है वो। इसी तरह इन्द्रियाँ होती हैं।

जगत में निमित्त अनेक होते हैं न ! जैसे किसी व्यक्ति को देखकर किसी को क्रोध आया तो ये निमित्तता ही है। लेकिन मूल निमित्त कर्म है और इन बाह्य पदार्थों को नोकर्म कहते हैं।

मुमुक्षु :– भावमन और ज्ञान दोनों एक ही हुआ कि.... ?

पूज्य बाबूजी :- भावमन ज्ञान की पर्याय है। भावमन ज्ञान की पर्याय, स्पर्शन इन्द्रिय ज्ञान की पर्याय, रसना इन्द्रिय ज्ञान की पर्याय। इन्द्रिय नाम है क्योंकि वो इन पूर्वक होता है न। ये नहीं हों तो नहीं होता; लेकिन ये हों तो ही हो ऐसा आवश्यक नहीं है क्योंकि ये तो होती हैं। और केवल प्रवृत्ति एक ज्ञानरूप होती है। ये तो सब पड़े रहते हैं.....छहों पड़े रहते हैं और उनमें से किसी एक की प्रवृत्ति होती है।

इसका उदाहरण दिया न मोक्षमार्गप्रकाशक में जैसे किसी व्यक्ति को गाँव जाना है तो शर्त ये है कि वो इस तरह जाए। चार आदमी को साथ लेकर जाए और वो आदमी रूठ जायें तो वो नहीं जा सकता। इसी तरह इन्द्रिय रूठ जाये तो फिर ज्ञान भी नहीं होता। कोई अंधा हो जाए तो दिखता नहीं मगर उस रूप क्षयोपशम तो रहता है। क्षयोपशम होने पर भी, लब्धरूप होने पर भी उसकी प्रवृत्ति नहीं होती अर्थात् उसकी पर्याय नहीं होती। माने अंधा हो जाने पर चक्षु से देखनेवाला जो विकास था, विकास का अंश, वो ज्ञान में से निकल नहीं जाता। लेकिन वो प्रवृत्ति नहीं होती इसलिए उसे लब्ध कहते हैं।

मुमुक्षु :- बहुत सुन्दर!

पूज्य बाबूजी :- देखो एक विद्यार्थी है, उसको एक कविता (poetry) की पुस्तक पूरी याद है। अब उसको कहते हैं कि तुम्हें पूरी पुस्तक याद है? कि हाँ! पूरी याद है। तो कहते हैं कि सारी सुनाओ। तो सारी तो नहीं सुना सकता, एक-एक पृष्ठ करके सुनाऊँगा, एक-एक कविता (poetry) सुनाऊँगा। क्यों ऐसा क्यों है जब सारी याद हैं तो? एक कविता (poem) जिस समय सुना रहा है तो उस समय उसको सारी याद हैं या नहीं? सारी याद हैं लेकिन उन बाकी में प्रवृत्ति नहीं हो रही। वो सारी उसके भण्डार (stock) में पड़ी हैं। इस तरह ज्ञान भण्डार (stock) में पड़ा है और उसका जो परिणमन है वो एक-एक का अवलम्बन लेकर होता है।

प्रमाण चाहिए क्या ? इसमें बहुत भ्रम है कि वो दोनों साथ होते हैं, क्योंकि वो 17वीं गाथा का जो अर्थ होता है न 17-18 गाथा का, उसमें हम थोड़ा भूल जाते हैं, गलती कर बैठते हैं। उसमें ऐसा लगता है कि वो ज्ञायक का तो हर समय प्रतिभास हो रहा है। वो गलत है बात, सही नहीं है।

'हर समय प्रतिभास हो रहा है' - यदि हर समय प्रतिभास हो तो अन्तर्मुहूर्त में तो केवलज्ञान होता है। तो कितना विरोध आता है आगम से। यदि उसका प्रतिभास हो तो वो तो अनुभूति हुई और ज्ञान के दो टुकड़े तो होते नहीं है कि कुछ ज्ञान तो भीतर ही भीतर चलता रहता हो और कुछ ज्ञान बाहर चलता हो। भीतर ही भीतर चलता नहीं है, वो लब्धरूप माने क्षयोपशमरूप रहता है और प्रवृत्ति होती है वो पर्याय कहलाती है, उपयोग कहलाती है। ये बहुत अच्छी तरह समझने की बात है।

इसमें बहुत भूल है कि एक समय में स्व और पर दोनों जानने में आते हैं - ये भूल है। उपयोग एक समय में या तो आत्मा पर रहता है या वो परपदार्थ पर रहता है। यहाँ क्षयोपशम ज्ञान की बात है, केवलज्ञान की बात नहीं है।

प्रतिभास भी ज्ञान का परिणमन है, मात्र शक्ति नहीं

मुमुक्षु :- प्रतिभास सामर्थ्यरूप नहीं है न बाबूजी ? प्रतिभास को सामर्थ्यरूप नहीं लेना ?

पूज्य बाबूजी :- सामर्थ्यरूप नहीं ! सामर्थ्यरूप नहीं ! प्रतिभास जो है वो परिणमनरूप है। प्रतिभास तो तभी होगा कि जब ज्ञान का परिणमन होगा। तभी तो उसमें तस्वीर दिखाई देगी। अन्यथा बिना परिणमन के कहाँ से होगा ? फिर तो अगर सामर्थ्यरूप लें तो सारे लोकालोक का प्रतिभास होगा।

देखो ये धवला का सर्वोत्कृष्ट प्रमाण है। पहले तो प्रश्न किया कि **शंका** – अपने आपके संवेदन से रहित आत्मा की तो कभी भी उपलब्धि नहीं होती है ? जैसे अपन लोग जो शंका करते हैं न, ठीक वैसी की वैसी शंका है कि अगर आत्मा का वेदन नहीं है तो फिर वो आत्मा की उपलब्धि कहाँ रही उसको ? आत्मा के वेदन से वो बाहर चला गया तो उसे आत्मा की उपलब्धि कहाँ रही ? वो तो आत्मा को छोड़ गया। ऐसी शंका होती है तो उसका उत्तर देते हैं कि नहीं ! उसे आत्मा उपलब्ध है। उपलब्ध होने पर भी उसमें उपयोग की परिणति नहीं है। उसमें उपयोग उसकी ओर नहीं है, परपदार्थों की ओर है लेकिन फिर भी आत्मा उसको उपलब्ध है। तो उपलब्ध क्यों है ? क्योंकि पहले अज्ञानदशा में तो अपने क्षयोपशम में भी आत्मा उपलब्ध नहीं था। अपने ज्ञान का जो विकास था न ! वो केवल परपदार्थों को जानने जितना था। अब क्या है कि उसमें ये शुद्धात्मा और जुड़ गया। तो ये सबसे ऊँचे सिंहासन पर बैठ गया, सर्वोच्च सिंहासन पर। वो तो रहेगा, वो लब्धरूप तो रहेगा न। जो जाना है वो तो नहीं चला जाएगा न। लेकिन उसको जानने की जो उपयोग की परणति है, वो हर समय नहीं रहती क्योंकि चारित्र में कमजोरी है, इसलिए वो फिसल जाता है।

जैसे एयर कन्डीशन (AC) का उदाहरण दिया था न ! कि उसे जाना पड़ेगा कि नहीं बाहर ? नहीं तो वो व्यक्ति झगड़ा करेगा कि इतना घमण्ड है क्या तेरे को, एयरकन्डीशन्ड (वातानुकूलित) का ?

मुमुक्षु :– मिलने भी नहीं आया बाहर ?

पूज्य बाबूजी :– हाँ ! बाहर बात ही नहीं कर सका दो मिनट के लिए। तो इसी तरह आत्मा का है कि वो रहना आत्मा में ही चाहता है – ये तो पहली बात। पर आत्मा में रहना चाहने पर भी अभी कमजोरी इतनी है कि बाह्य पदार्थों में उसका उपयोग चला जाता है। उस समय

बाह्य पदार्थों का ज्ञान होता है लेकिन परत्व लिए हुए होता है। अपनत्व लिए हुए नहीं होता।

यहाँ जो प्रश्न है, अपन लोगों की जो शंका होती है कि स्व और पर एक साथ जानने में आते हैं। अपने आपके संवेदन से रहित माने अपने संवेदन से माने आत्मानुभूति से रहित, आत्मा की तो कभी भी उपलब्धि नहीं होती है? स्वसंवेदन हो तभी हम आत्मा की उपलब्धि मानेंगे और स्वसंवेदन नहीं हो तो आत्मा तो छूट गया। तो कहते हैं कि ऐसा नहीं है – उसका उत्तर देते हैं। ये तो धवला है माने सर्वोत्कृष्ट प्रमाण! जिसको कोई challenge (चुनौती) नहीं कर सकता।

समाधान :– नहीं, क्योंकि, बहिरंग पदार्थों की उपयोगरूप अवस्था में अंतरंग पदार्थ का उपयोग नहीं पाया जाता है। फिर से। उत्तर है कि नहीं, क्योंकि जब उपयोग बाह्य पदार्थों में हो, तब उपयोगरूप अवस्था में अंतरंग पदार्थ माने शुद्धात्मा का उपयोग नहीं पाया जाता है अर्थात् उसका वेदन स्वसंवेदन नहीं पाया जाता। धवला का है, note (लिखना) करना हो किसी को (तो) धवला (पुस्तक 1) 1,1,133. (पृष्ठ) 386।

मुमुक्षु :– प्रवृत्ति एक समय में एक में ही होगी?

पूज्य बाबूजी :– एक में ही, स्व या पर ऐसे दो विभाग करना।

मुमुक्षु :– बहिर्मुख प्रवृत्ति के समय उसको हम 'ज्ञानी' नाम किस अपेक्षा से देंगे?

पूज्य बाबूजी :– उसे ज्ञानदशा हो चुकी है; क्योंकि अब स्व और पर का विभाग हो चुका है, तो जिसके ज्ञान में स्व और पर का विभाग निश्चित होकर स्वानुभूति हो चुकी है और उस स्वानुभूति में उसने जाना कि यही मैं हूँ, अन्य मैं नहीं हूँ – इस तरह स्व–पर का विभाग निश्चित हो गया न! तो वो ज्ञानी है। वो विभाग सदा रहता है, हमेशा रहता है।

हम बाजार में चलते हैं तो क्या हर एक मकान को पहले यूँ कहते

हैं कि ये दूसरे का है या मैं इसको दूसरे का ही जानता हूँ - ऐसी पागलपन की भाषा बोलते हैं क्या ? बस देखते हैं, तो दूसरे का है वो तो भीतर पड़ा है, क्योंकि जो अपना बंगला है, उसके प्रति अपनत्व पड़ा है तो दूसरे के लिए परत्व हो गया। उसमें कहने की या विचार करने की आवश्यकता नहीं होती। वो परत्व लिए हुए ही होता है। ज्ञान की सामर्थ्य ऐसी है न कि उसमें स्वत्व और परत्व आ गया है। इसलिए वो परत्व लिए हुए ही प्रवर्तित होता है। उसमें विचार की जरूरत नहीं आती।

मुमुक्षु :- लब्ध सामर्थ्य की अपेक्षा ?

पूज्य बाबूजी :- लब्ध माने सामर्थ्य !

ज्ञेयाकार भी ज्ञानाकार ही है

मुमुक्षु :- ज्ञान जिस समय ज्ञेयाकार है उस समय ज्ञानाकार भी है न ?

पूज्य बाबूजी :- वो ज्ञानाकार ही है। ज्ञानाकार है माने क्या ? वो तो ज्ञेयाकार जिसे कहते हैं वो वास्तव में ज्ञेय का आकार नहीं पर वो ज्ञान का ही आकार है। ज्ञान का ही आकार माने वो ज्ञान ही है। उसमें ज्ञेय का अंश बिल्कुल भी नहीं है, कुछ भी नहीं है। जिसे ज्ञेय का आकार कहते हैं, उसमें यदि थोड़ी भी विशेषता उसे लगे तो वो मिथ्यादृष्टि अज्ञानी है।

मुमुक्षु :- तो फिर स्व-पर आकार नहीं रहते ? ज्ञान स्व का आकार - ऐसा ही रहा न ?

पूज्य बाबूजी :- अनुभूति के समय एक स्व का आकार और वो जो आनन्द आया.... ।

मुमुक्षु :- जो सामान्य लक्षण उपयोग ज्ञान है, वो कैसे आया ?

पूज्य बाबूजी :- बस ! ये जो प्रतिसमय ज्ञान चलता है, वो भी प्रतिभासरूप है, जाननभावरूप है।

पर्याय में सामान्य विशेष

मुमुक्षु :– विशेषरूप ज्ञान ?

पूज्य बाबूजी :– वो भी प्रतिभासरूप है। विशेष ही तो है क्योंकि सामान्य तो गुण होता है। सामान्यज्ञान माने ज्ञान गुण, ज्ञान शक्ति और दूसरा पर्याय का सामान्य और विशेष। एक तो पर्याय में हमेशा विशेष ही होता है। ये बात याद रखनी है कि उसमें किसी न किसी का प्रतिभास अवश्य होगा, स्व का अथवा पर का। अब वो जो प्रतिभास है वो जिस पदार्थ जैसा प्रतिभास है, वो पदार्थ वहाँ नहीं है लेकिन वहाँ ज्ञान ही है। इसलिए वो कुल मिलाकर वो सारे प्रतिभास एक ज्ञान ही है अर्थात् ये पर्याय का सामान्य है।

मुमुक्षु :– स्व–पर दोनों आ गये। प्रतिभास दोनों का होता है तो ऐसा समझना कि ज्ञान में स्वपरप्रकाशक शक्ति है तो स्व और पर..... स्वच्छत्व होने से स्व और पर दोनों का प्रतिभास ?

पूज्य बाबूजी :– वो अलग बात है। उसमें क्या है कि वो पर का तो प्रतिभास....पर का प्रतिभास होता है – ऐसा कहा जाता है। पर का प्रतिभास नहीं है वो, वो तो ज्ञानाकार ही है। इसलिए एक मात्र ज्ञान ही जानने में आता है, लेकिन व्यवहार जो दशा है, उस व्यवहार दशा में व्यवहार के बिना नहीं समझा जा सकता।

ये जो आकार हैं ज्ञान में, तो ये क्यों बनते जा रहे हैं ? क्योंकि ज्ञान को तो एक मात्र सपाट होना चाहिए – ज्ञानमात्र। जैसे हमारा दर्पण है। तो हम चाहें कि दर्पण में कोई न आवे, तो ऐसा होगा क्या ? उसमें तो कोई न कोई पदार्थ प्रतिसमय दिखाई देगा ही देगा। तो इस तरह ज्ञान में कोई न कोई ज्ञेय, स्व अथवा पर – वो भास्यमान होता ही है और उसका आकार द्रव्य–गुण–पर्याय सहित होता ही है। तो उसको कहते हैं प्रतिभास और वो प्रतिभास ज्ञान ही है अर्थात् ज्ञानाकार ही है और ज्ञानाकार वो

ज्ञान ही है; और जो ज्ञान है वो ज्ञायक ही है, आत्मा ही है। इस तरह अनुभूति होती है।

मुमुक्षु :– कुछ लोग ऐसा कह रहे हैं कि प्रतिभास दो का होता है और जानना एक का होता है ?

पूज्य बाबूजी :– गलत है वो ! वो गलत है। दो का प्रतिभास होता है वो गलत है। प्रतिभास स्वयं ज्ञान की पर्याय है। इसलिए प्रतिभास दो का हो और ज्ञान एक का हो, ऐसा अगर माना जाए तो प्रतिभास एक अलग किसी दूसरे गुण की पर्याय हुई; लेकिन प्रतिभास तो ज्ञान की पर्याय है।

मुमुक्षु :– वो लक्ष की बात है। प्रतिभास दो का और लक्ष एक का – ऐसा कुछ है ?

पूज्य बाबूजी :– नहीं ! नहीं, ऐसा नहीं है। ऐसा नहीं है। प्रतिभास ज्ञान है, सबसे पहले यह निश्चय करिये। प्रतिभास ज्ञान है और दर्शन है। तो दर्शन की तो अपन चर्चा कर नहीं रहे हैं। वो तो निर्विकल्प होता है। लेकिन ये साकार ज्ञान की बात अपन कर रहे हैं, प्रतिभासरूप जिसमें ज्ञेयाकार जैसे ज्ञानाकार होते हैं। वो ज्ञान है प्रतिभास – ये पहले निश्चय कीजिये। प्रतिभास ज्ञान से कोई दूसरी चीज नहीं है – ऐसा।

अर्थ–विकल्प को प्रतिभास कहते हैं। बताऊँ ? प्रवचनसार की 124 गाथा है। अर्थ–विकल्प (अर्थात् स्व–पर पदार्थों का भिन्नतापूर्वक युगपत् अवभासन) [ज्ञानं] वह ज्ञान है; [जीवेन] जीव के द्वारा [यत् समारब्धं] जो किया जा रहा हो [कर्म] वह कर्म है, [तद् अनेकविधं] वह अनेक प्रकार का है; [सौख्यं वा दुःखं वा] सुख अथवा दुःख [फलं इति भणितम्] वह कर्मफल कहा गया है।।124।।

अब उसकी टीका :– प्रथम तो, अर्थविकल्प वह ज्ञान है। वहाँ, अर्थ क्या है ? स्व–पर के विभागपूर्वक अवस्थित विश्व वह अर्थ है। स्व–पर

के विभागपूर्वक अवस्थित जो विश्व है, स्व और पर का विभाग जिसमें स्वतः है अर्थात् जो पर है, वो पर है। वो पर है माने अपनी आत्मा के अतिरिक्त अन्य अनन्त आत्मायें और पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये सब पर और अपना जो निजात्मा है वो स्व। इस प्रकार ये विश्व इसतरह से अवस्थित है। ये सम्यग्दर्शन का विषय है, क्योंकि इसमें स्व-पर का ही विभाग किया है। छह पदार्थरूप नहीं किया, छह द्रव्यरूप नहीं किया। उसके आकारों का अवभासन वह विकल्प है।

मुमुक्षु :- बाबूजी स्पष्ट कीजिए आकारों का अवभासन...।

पूज्य बाबूजी :- सुनिए पहले खूब अच्छी तरह से, ध्यान से। प्रथम तो, अर्थविकल्प वह ज्ञान है। अर्थ का विकल्प वो ज्ञान है। अर्थ का अर्थात् पदार्थ का जानना, वो ज्ञान है।

अर्थ क्या है? स्व-पर के विभागपूर्वक अवस्थित विश्व वह अर्थ है। उसके आकारों का अवभासन वह विकल्प है। तो ये पहले ज्ञान कह दिया न - ये ध्यान में रखने की बात है। प्रथम तो, अर्थविकल्प वह ज्ञान है। अब अर्थ-विकल्प का अर्थ करते हैं कि अर्थ माने तो पदार्थ और विकल्प माने उनका प्रतिभास, **तो दूसरा प्रतिभास कहाँ से लायेंगे हम ज्ञान के अतिरिक्त? उसके अतिरिक्त दूसरा प्रतिभास नहीं होता है और जो स्वच्छत्व-प्रकाशकत्व जो शक्ति है, वो भी सब ज्ञान के ही विकल्प हैं, अर्थात् ज्ञान के भेद हैं।**

और दर्पण के निज विस्तार की भाँति (अर्थात् जैसे दर्पण के निज विस्तार में स्व और पर आकार एक ही साथ प्रकाशित होते हैं, उसी प्रकार) जिसमें एक ही साथ स्व-पराकार अवभासित होते हैं, ऐसा अर्थविकल्प वह ज्ञान है। ये केवलज्ञान की अपेक्षा लिया है, क्योंकि केवल यही कह देते कि एक में प्रतिभास हो तो वहाँ केवलज्ञान का परिहार हो जाता है। केवलज्ञान में तो सब स्व और पर एक ही साथ प्रतिभासित होते हैं।

विश्व है न, विश्व। विश्व तो सारा ही केवलज्ञान का विषय होगा न! ये समस्त पदार्थ, द्रव्य-गुण-पर्याय - ये विश्व। लब्धि का भी जो अपन सोचते हैं न! प्राय: सुनने में भी आता है कि लब्ध पर्याय अलग चलती है। जो लब्धि और उपयोग है - वो दोनों पर्याय के ही धर्म हैं। लेकिन (उनका कहना है कि) अगर पर्यायरूप हो तो फिर लब्ध में और उपयोग में फरक ही नहीं रहता है क्योंकि उपयोग तो परिणमनरूप चलता है और जो लब्ध है वो भंडार (stock) में पड़ा रहता है। वो भंडार (stock) में पड़ा रहता है तो फिर भेद कहाँ रहा अगर लब्ध की भी पर्याय चलती हो?

मुमुक्षु :- तो फिर उसमें और लब्धि में फेर कहाँ रहा?

पूज्य बाबूजी :- लेकिन उपयोग में जैसे लब्ध अर्थात् क्षयोपशम है, तो वो तो बहुत है और जानना बहुत कम पदार्थ का माने एक-एक के सहारे जानना होता है। लेकिन वो जो पूरे ज्ञान की प्रवृत्ति है वो उपयोग है। **ऐसा नहीं है कि वो केवल स्पर्शन इन्द्रिय का ही एक अंशरूप ज्ञान प्रगट हो रहा है और बाकी लब्ध है - ऐसा नहीं है। वो पूरे ज्ञान की प्रवृत्ति है, पूरे ज्ञान की प्रवृत्ति है। जितना विकास है न! वो पूरा ज्ञान केवल उस समय एक को, स्व को या पर को जाननेरूप प्रवर्त हो रहा है - ऐसा। इसका कोई अलग अंश पड़ा हो ज्ञान का और उसमें से थोड़ा सा अंश जाननेरूप अर्थात् पर्यायरूप परिणमित हो रहा हो - ऐसा नहीं है।**

मुमुक्षु :- पूरा ज्ञान! माने एक इन्द्रिय का व्यापार जब चलता हो तो पूरा ज्ञान का...।

पूज्य बाबूजी :- पूरा ज्ञान, पूरा ज्ञान।

जैसे वो विद्यार्थी (student) कविता (poem) सुनाता है। तो वो बाकी ज्ञान उसने धर रखा है क्या भण्डार (stock) में? बाकी पुस्तक की बाकी जो कविताएँ (poems) हैं, उसका ज्ञान उसने भण्डार (stock)

में रख रखा है और थोड़े ज्ञान से वो प्रवृत्ति कर रहा है – ऐसा नहीं। पूरे ज्ञान से वो एक कविता (poem) सुना रहा है। तो दूसरी कविता (poem) भी पूरे ज्ञान से सुनायेगा। फिर तीसरी भी पूरे ज्ञान से सुनायेगा – इस तरह।

मुमुक्षु :– बाबूजी ! सामान्य ज्ञानस्वभाव में यदि स्व–पर का प्रतिभास न हो तो फिर एक समय में स्व की संवेदन शक्ति कैसे रहेगी ?

पूज्य बाबूजी :– यही तो अभी प्रश्न था और उसी का उत्तर था कि संवेदन हर समय नहीं रहता। संवेदन तो जिस समय स्व की ओर उपयोग हो उस समय संवेदन होता है, स्वसंवेदन और जिस समय पर की ओर उपयोग हो तो उस समय स्व का वेदन नहीं होता है। तो उस समय वो आनंद नहीं होता है। उस समय दुःखरूप भी दशा होती है – लौकिक दुःखरूप और लौकिक सुखरूप दशा; और उधर एक अतीन्द्रिय सुखरूप दशा भी चलती है, चला करती है उधर। तो उतना दुःख कम हो गया। कहना चाहिए कि दुःख की तो जड़ ही उखड़ गई।

राग कहाँ होता है ?

मुमुक्षु :– बराबर ! गुरुदेव कहते हैं राग और ज्ञान भिन्न है। तो राग में मन की अवस्था लेना या ज्ञान दोनों एक साथ में चल रहे हैं ? राग किसमें होता है फिर ? जिस समय ज्ञान हो रहा है उस समय राग भी हो रहा है, तो राग मन में होता है या किसमें होता है ?

पूज्य बाबूजी :– राग मन में नहीं होता। राग तो सारे जगत के जीवों को होता है – राग और द्वेष। वो तो एक इन्द्रिय जीव को भी होता है, उसके मन कहाँ है ? मन (भावमन) तो ज्ञान की पर्याय है। और राग जो है वो चारित्र का विकल्प है, चारित्र का विकारी भाव है।

दोनों के स्वरूप में बहुत अंतर है। ये जो राग है वो परस्पर भिन्न पदार्थों को जोड़ता हुआ प्रगट होता है और जो सम्यग्ज्ञान है वो परस्पर

अभिन्न किये हुए अर्थात् अज्ञान में अभिन्न किये हुए पदार्थों को तोड़ता हुआ प्रवर्तित होता है।

ये मेरा है, अच्छा है, बुरा है – ये विकल्प हैं न! ये विकल्प राग-द्वेष हैं या नहीं? बुरा है – ये विकल्प द्वेष, अच्छा है – ये विकल्प, ये तो राग है। ये अच्छा और बुरा है – उसने जोड़ा न पर को अपने साथ? भले ही वो चला गया हो, मिथ्यादर्शन चला गया हो तो भी राग का काम तो यही है; राग की कोई भाषा बदलेगी नहीं। राग की तो भाषा ही यही है। राग मूर्ख है। उसमें ज्ञान नहीं है। इसलिए वो तो मूर्खता की बातें करता है, चाहे ज्ञानी का हो तो भी। पर अपन तो कहते हैं कि ज्ञानी को राग होता ही नहीं क्योंकि उसने उसे पर मान लिया। लेकिन वो कदाचित् राग को स्वीकार किए बैठा है लेकिन राग में ज्ञान नहीं है। वो तो मूर्ख है। तो जो भी उसकी पर्याय होगी वो सारी पर के साथ सम्बन्धरूप ही होगी। लेकिन ज्ञानी को भीतर से सम्बन्ध से इन्कार है और जो अज्ञानी है वो तो पर के साथ एकाकार है।

मुमुक्षु :- भीतर से जो इन्कार है वो ज्ञान में है और जो राग हो रहा है वो मन में नहीं लेकिन वो चारित्र गुण का परिणमन है?

पूज्य बाबूजी :- राग तो चारित्र गुण की विकारी पर्याय है।

मुमुक्षु :- वो मन में नहीं है?

पूज्य बाबूजी :- हाँ! जिस समय अज्ञानदशा है तो राग चारित्र गुण की मिथ्या पर्याय है, मिथ्याचारित्र है। और वो चले जाने पर, मिथ्यात्व चले जाने पर वो राग चारित्र गुण की कमजोरी के कारण विकारी पर्याय है – विकार है, कमजोरी है। राग जो है वो भावमन में जाना जाता है, लेकिन उसमें आता नहीं है। **भावमन माने ज्ञान – वो ज्ञान तो सदा ही राग रहित है। ज्ञान तो राग रहित हैं न! जब तक ज्ञान मिथ्या है तब तक तो राग के साथ जुड़ा हुआ है, राग के साथ एकाकार है;**

लेकिन फिर भी, वो एकाकार होने पर भी एकाकार दिखता है, एकाकार हो नहीं जाता। ज्ञान ज्ञान रहता है और राग राग रहता है और राग का प्रतिभास ज्ञान में होता है। राग का प्रतिभास माने ज्ञान, राग नहीं।

सारे ही जो पाप और पुण्य के परिणाम हैं उनमें ज्ञान नहीं है। उनमें तो ज्ञान नहीं है लेकिन ज्ञान के अतिरिक्त जितने गुण हैं उनमें भी ज्ञान नहीं है। श्रद्धा में ज्ञान नहीं है, चारित्र में ज्ञान नहीं है, सुख में ज्ञान नहीं है और जितने भी अनंत गुण हैं, उनमें किसी में ज्ञान नहीं है, और क्यों हो? विभाग इतना सुंदर है न।

ये जो Office है, जो कार्यालय है, इस कार्यालय में हर एक अपना-अपना काम इतनी चतुराई से करता है कि वो अपने कार्य को कभी छोड़ता ही नहीं और कार्य सारा पूरा होता है। इस तरह का स्वयं सिद्ध विभाग है।

मन का मर जाना क्या है?

मुमुक्षु :- बाबूजी! मन का मर जाना किसे कहते हैं?

पूज्य बाबूजी :- मन का मर जाना माने मन के जो विकल्प होते थे, उनका टूट जाना। मन में जो विकल्प अर्थात् ज्ञान के विकल्प होते हैं और उधर जो राग के विकल्प होते हैं....तो मन के विकल्पों का तो टूट जाना और राग के जो विकल्प हैं, उनका जानने में नहीं आना और केवल शुद्धात्मा में लग जाना। उस समय राग के विकल्प हैं लेकिन जानने में नहीं आते, क्योंकि राग कहाँ चला जायेगा? पूरा रीता (खाली) तो नहीं हुआ अभी, इसलिए उस समय राग की परणति होती है और राग की ओर उपयोग है ही नहीं। इसलिये जो राग है वो जानने में नहीं आता और परपदार्थ जानने में नहीं आते; केवल शुद्धात्मा ही जानने में आता है।

विचार दशा में जो चंचल मन हैं, वो अनुभूति के समय में नहीं है।

इसलिए मन मर गया है – ऐसा कहते हैं। मन को कहते हैं न कि मन की गति है वो सीमातीत है। वो अभी अलोकाकाश में पहुँच जाए।

मुमुक्षु :– अभी आलोकाकाश में पहुँच जाये। बराबर!

पूज्य बाबूजी :– पहुँच नहीं जाता है लेकिन है अलोकाकाश में। अलोकाकाश है। जिनवाणी के आधार पर ऐसा ज्ञान में आता है कि नहीं?

मुमुक्षु :– मन में विकल्पों का नहीं होना और राग होने पर भी..

पूज्य बाबूजी :– मन में ज्ञान के विकल्प नहीं होना और राग (लब्धरूप) साथ रहता है लेकिन उसका जानने में नहीं आना – दोनों बातें हो तो स्वानुभूति हुई।

शुद्धात्मा की ओर ही एकाग्र होना और यदि वो अन्तर्मुहूर्त हो जाए तो उसका नाम ध्यान; परिणति अन्तर्मुहूर्त हो। अन्तर्मुहूर्त होती ही है, एक समय की थोड़ी ना होती है अनुभूति। वो तो अन्तर्मुहूर्त की होती है, मध्यम अन्तर्मुहूर्त की – उसका नाम ध्यान। एकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानम् – मोक्षशास्त्र अधिकार 9, सूत्र 27, जिसको कहते हैं। एकाग्र चिंता – चिंता का अर्थ चिन्तवन नहीं! चिंता का अर्थ – ज्ञान का एक वस्तु में एकाग्र होना। एक वस्तु में यहाँ तो सम्यक् ध्यान की बात है। सम्यक् ध्यान में शुद्धात्मा में एकाग्र होना होता है और जो दुर्ध्यान हैं – आर्त और रौद्र, उनमें पर में एकाग्र होता है।

मुमुक्षु :– बहिर्मुख ज्ञान मतलब इन्द्रियज्ञान, बराबर? तो उसको भ्रान्ति बोला जाता है?

पूज्य बाबूजी :– नहीं! भ्रान्ति नहीं बोला जाता। भ्रान्ति टूट जाये तो भी वो तो होता है, क्योंकि वह ज्ञानी को भी होता है। प्रथम बात तो ये है कि ये इन्द्रियज्ञान होता ही नहीं है, क्योंकि ज्ञान की इन्द्रिय कहाँ है? इसलिए हर ज्ञान, निगोद से लगाकर केवलज्ञान तक जो भी है वो

इन्द्रियातीत है ज्ञान। लेकिन उस इन्द्रियातीत ज्ञान के दो भेद – एक इन्द्रियज्ञान और एक अतीन्द्रियज्ञान। एक तो जो पर में प्रवर्त रहा है वो इन्द्रियज्ञान। जो शुद्धात्मा में प्रवर्त रहा है वो अतीन्द्रियज्ञान।

मुमुक्षु :– इन्द्रियातीत ज्ञान के दो भेद हैं?

पूज्य बाबूजी :– हाँ! अतीन्द्रियज्ञान के दो भेद हैं – एक इन्द्रियज्ञान और एक अतीन्द्रियज्ञान। तो इन्द्रियज्ञान तो कहा जाता है – उसका नाम व्यवहार है। जैसे सितार वाला आदमी!

कुछ प्रश्न अच्छे-अच्छे लाया करो तो उतनी चर्चा अच्छी होगी।

मुमुक्षु :– बहुत अच्छी चर्चा होती है बाबूजी! इसमें मूलभूत स्वरूप का पूरा सत्त्व आ जाता है, बाबूजी!

पूज्य बाबूजी :– पूरी आ जाती है। जिनवाणी जो है वो logic (तर्क) के बिना चलती नहीं है। अपने स्व-पर के सम्बन्ध में बिना logic (तर्क) के ये चीज नहीं चलती है ये। जितने भी स्वतत्त्व और परतत्त्व हैं, उसमें बिना logic (तर्क) के जिनवाणी नहीं चलती है। जहाँ उनके जानने में वो प्रवर्त होता है तो उसमें हर बात में logic (तर्क) होता है। बिना logic (तर्क) के आत्मानुभूति होती ही नहीं है। सुयुक्ति कहा न इसलिए? मैं अपने स्वरूप को दर्शाऊँगा (समयसार गाथा 5)। तो आचार्य ने स्वरूप को दर्शाने में युक्ति का अवलम्बन लिया या नहीं?

मुमुक्षु :– बाबूजी! ये पहली बार हमने सुना कि अतीन्द्रियज्ञान के दो भेद हैं। ये पहली बार आज हमने सुना।

पूज्य बाबूजी :– वैसे अतीन्द्रिय संज्ञा शुद्धात्मानुभूति की ही है, लेकिन फिर भी जो इन्द्रिय ज्ञान है, वो कोई ज्ञान नहीं है, वो तो जड़ है क्योंकि ज्ञान तो एकेन्द्रिय को भी, निगोदिया को भी होता है तो इन्द्रिय से निरपेक्ष होता है।

❖❖❖

तत्त्वचर्चा : क्रमांक 7

(31 जनवरी 1999)

इस चर्चा में ध्रुव का प्रतिभास, अनुभूति की पराकाष्ठा, विचारों की मर्यादा, ज्ञायक नाम में पर का प्रकाशन आदि विषयों का मार्मिक स्पष्टीकरण किया गया है।

ध्रुव में ध्रुव का प्रतिभास

मुमुक्षु :– गुरुदेव के 320 गाथा के प्रवचन में आया है कि ध्रुव में ध्रुव का प्रतिभास हो गया.....तो ध्रुव का प्रतिभास ध्रुव में कैसे होता है? कृपया स्पष्टीकरण कीजिए। ध्रुव में ध्रुव का प्रतिभास हो गया इसका क्या आशय है?

पूज्य बाबूजी :– हाँ! यह उसी अपेक्षा से है कि जो अनुभूति की पर्याय है, अपने को अनुभूति नहीं जानती हुई अपने को ध्रुव ज्ञायक जानती है। उपयोग की पर्याय जो शुद्धात्मा की ओर ढली – ये निर्णय तो पहले से ही था कि मैं ध्रुव हूँ, ज्ञायक हूँ, चिन्मात्र तत्त्व हूँ – ऐसा उस पर्याय को था निर्णय था न! विकल्पदशा में भी यही थी बात कि ध्रुव का ही आविर्भाव था और अन्य सब जो विचारश्रेणी, चिंतन-शृंखला थी, उसका तिरोभाव था।

पर्याय स्वयं अपने आपको अनुभूति नहीं मानती, संवेदन नहीं मानती पर ध्रुव मानती है। इस प्रकार पर्याय जो है वो ध्रुव हो गई। ध्रुव के लक्ष से पर्याय ध्रुवत्व का अनुभव करती हुई ध्रुव हो गई है तो ध्रुव में ध्रुव का प्रतिभास हो गया। है पर्याय में प्रतिभास। पर्याय कोई ध्रुव नहीं बनती लेकिन पर्याय ने अपना गोत्र बदल लिया। गोत्र जानते हो? सरनेम (Surname), वो बदल लिया। पहले उसका नाम पर्याय था, अब उसका नाम द्रव्य हो गया, क्योंकि अब वहाँ पर्याय

है ही नहीं वो तो बाहर निकल गई और उसने सारा ध्रुव अपने में पसार लिया।

मुमुक्षु :- पर्यायपना छोड़ दिया अपना? अपना पर्यायत्व छोड़ दिया?

पूज्य बाबूजी :- अपना पर्यायपना भूल गई।

मुमुक्षु :- विसर गई तो दूसरा प्रश्न है कि ध्रुव में ध्रुव का प्रतिभास कैसे होता है?

पूज्य बाबूजी :- हाँ! ऐसे हो गया न कि जो अपना उपयोग है, उसने पहले जो सद्गुरु से शुद्धात्मा का, चैतन्य का, ध्रुव का, ज्ञायक का प्रतिपादन सुना और उसने हृदय से बड़े प्रमुदितभाव से स्वीकार किया कि यही सर्वोच्च है और ये तू ही है। तो उसकी चिन्तनधारा महिमा-पूर्वक चल पड़ी और अन्त में उस चिन्तन को विराम देकर अनूभूति प्रगट हुई। वो जो अनुभूति है कि वह भी स्वयं अपने आपको अनुभूति नहीं जानती।

शुरू में जो ज्ञान विचारात्मक था, वो विचारात्मक ज्ञान भी अपने आपको विचार नहीं जानता था लेकिन ध्रुव के लक्ष से ध्रुव का ही वेदन हो रहा था कि 'मैं ज्ञायक हूँ, मैं चिन्मात्र हूँ'। मैं ऐसा विचार कर रहा हूँ - ऐसा थोड़े ही होता था। **'मैं ध्रुव का विचार कर रहा हूँ' - ऐसा नहीं होता, इसलिये उसको सविकल्प संवेदन कहा क्योंकि वो जो निर्विकल्प स्वसंवेदन होता है, वो होता तो ठीक उसी ढंग का है लेकिन यहाँ विकल्पात्मक है और वहाँ निर्विकल्प होता है।** लेकिन होता इसी रूप में है कि मैं ध्रुव हूँ, मैं ज्ञायक हूँ, मैं परमानन्द स्वरूप हूँ इत्यादि; इत्यादि जो आत्मा के विशेष हैं उनको लेकर वो उस ज्ञायक का ही विचार करता है। मैं हूँ, मैं हूँ, मैं हूँ - ऐसा विचार करता है। तो विचार को जब विराम मिला तो उसकी दिशा कोई दूसरी थोड़े ही हो

जाएगी। अनुभूति में भी वो का वो ही हुआ। तो जैसे विचार अपने आपको ध्रुव जानता था, उसी तरह अनुभूति अपने आपको ध्रुव जानती है – तो ये तो पर्याय का ध्रुवत्व हो गया। अब इस ध्रुव में ही उस ध्रुव का, ज्ञायक का, जो कि वास्तव में ध्रुव है, उसका प्रतिभास हो गया और अनुभूति हो गई।

मुमुक्षु :– माने पर्याय शुरू से, विचार से ही ध्रुवत्व को स्वीकृत करती हुई चली ?

पूज्य बाबूजी :– उसकी चिन्तनधारा ध्रुवत्व को स्वीकार करती हुई ही चल रही है। तभी तो उसको सविकल्प स्वसंवेदन कहते हैं, क्योंकि वह उस जैसा ही है न!

उसका जो विषय है वो वैसा ही है। और उसकी जो चिन्तनधारा है, उसका जो स्वर है वो भी अनुभूति जैसा ही स्वर है। लेकिन चूँकि यहाँ चिन्तन है, तरलता है, चंचलता है इसलिए इसे वास्तविक संवेदन नहीं कहते। पर विकल्पदशा का संवेदन वो निर्विकल्पदशा के संवेदन से मिलता-जुलता सा होता है। मिलता-जुलता सा!

मुमुक्षु :– मिलता-जुलता सा! मिलता-जुलता नहीं होता ?

पूज्य बाबूजी :– मिलता-जुलता नहीं होता है। वो वास्तविक है और ये अवास्तविक है।

अनुभूति की पराकष्ठा

मुमुक्षु :– तो विचारधारा में स्वसंवेदन होने पर भी ध्रुव का ध्रुव में प्रतिभास नहीं होता था ?

पूज्य बाबूजी :– हाँ! नहीं होता था। वो विषय था, अभी अनुभूति ने भी उसी को विषय बनाया लेकिन इस रूप में बनाया कि अपना सर्वस्व समर्पण करके, अपने को अदृश्य करके, अपने को अत्यन्त तिरोभूत करके और ध्रुव को आविर्भूत करके पूरी तरह से अपनी गोदी

में पसार लिया। वहाँ अनुभूति रही ही नहीं उस समय। अनुभूति की पर्याय में अनुभूति के लिए स्थान नहीं रहा, उसमें ज्ञायक फैल गया। अनुभूति की पर्याय का कोना-कोना ज्ञायक से भर गया। ये अभेदता है - अनन्यत्व है।

मुमुक्षु :- वाह! ये अभेदता है, ये अनन्यत्व है। माने अनुभूति की पर्याय में अनुभूति के लिए स्थान ही नहीं रहा तब अनन्यत्व बन गया?

पूज्य बाबूजी :- नहीं रहा, तब अनन्यत्व हो गया। ये अनन्यत्व की पराकाष्ठा है कि जहाँ दो में से एक रह जाये - ऐसा अर्थ है। तब आनन्द का जन्म होता है क्योंकि ये घनत्व हो गया है न एकदम! अब इससे आगे कोई चरण (step) नहीं है। ये पराकाष्ठा है!

मुमुक्षु :- तो बाबूजी! सविकल्प स्वसंवेदन और निर्विकल्प स्वसंवेदन दोनों में फर्क इतना है कि वहाँ आनन्द का वेदन नहीं है और यहाँ आनन्द का वेदन है। वो ही फर्क न?

विचार में गन्तव्य नहीं है

पूज्य बाबूजी :- हाँ! वो ही फर्क है। वो चंचल है, स्थिर नहीं है। ध्रुव में उसकी बिल्कुल स्थिरता नहीं है। वो तो ऐसा होता है न! जैसे अपन किसी कार्य के लिए विचार करते हैं। तो विचार तो चलता हुआ है। उसका मार्ग जो है वो चक्रीय होता है, चक्रीय। चक्र जैसे चलता है, उस तरह का विचार का मार्ग चक्रीय होता है। तो उसमें गति (Speed) तो बहुत होती है लेकिन गन्तव्य (Destination) नहीं होता।

शुद्धात्मा विचार से नहीं मिलता है; विचार का विराम होता है और अनुभूति का जन्म होता है। जब महिमा की पराकाष्ठा हो जाती है और वो जो ज्ञान के विकल्प हैं वो अत्यन्त शिथिल हो जाते हैं, अत्यन्त शिथिल। अत्यन्त शिथिल होकर फिर वो समाप्त हो जाते हैं, तब

अनुभूति का जन्म होता है। विचार भी मैं ध्रुव हूँ – इस तरह किया जा रहा था न! तो अनुभूति भी 'मैं ध्रुव हूँ' – इस तरह का विचार करती है। इस तरह का वेदन करती है, विचार नहीं करती, वेदन करती है। गलत हो गया वो कि विचार करती है। वेदन करती है; तो वेदन इसरूप में होता है – 'मैं चिन्मात्र ज्ञायक तत्त्व हूँ, चैतन्य हूँ'। इसलिए दो प्रश्नवाचक-चिन्ह (interrogation) लगाए हैं उसमें।

मुमुक्षु :– हाँ! दो प्रश्नवाचक-चिन्ह (interrogation) लगाए हैं। ध्रुव में ध्रुव का प्रतिभास....।

पूज्य बाबूजी :– नहीं! पुस्तक में दो प्रश्नवाचक-चिन्ह (interrogation) हैं। इसमें नहीं हैं। ध्रुव मैं ध्रुव का प्रतिभास हो गया यह आश्चर्य की बात है – ऐसा। पर्याय कोई ध्रुव नहीं हो गई! लेकिन पर्याय अपने आपको ध्रुव अनुभव न करे, तब तक अभेदता और अनन्यता नहीं होती। तब तक अनुभूति नहीं होती है। दो का एक हो जाता है, ऐसी अभेदता हो जाती है, होते दो हैं लेकिन दिखाई एक देता है। द्रव्य और पर्याय का भेद ही नहीं दिखता, भेद अस्त हो गया है।

मुमुक्षु :– बाबूजी! जैसे चार द्रव्य हैं – धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय, आकाश, काल, उनका स्वाभाविक परिणमन है। पुद्गल का भी, वैसे पुद्गल को परमाणु की अपेक्षा से देखें तो स्वाभाविक परिणमन है। स्कन्ध की अपेक्षा से देखें तो वो विशेष है। इसी तरह जीव द्रव्य के स्वाभाविक परिणमन की स्थिति कौनसी है?

पूज्य बाबूजी :– ये ही है, जो अपन ने अभी बातचीत की। जो उसका स्वभाव है, बस उस स्वभाव का परिणमन; जैसा स्वभाव है, शक्तियाँ हैं, गुण हैं। तो जैसे गुण हैं शुद्ध और निर्मल गुण हैं, ठीक वैसा का वैसा उसका परिणमन है। जैसे सुख गुण है, तो सुख गुण में ये अनुभव करे कि मैं सुखी हूँ, मैं सुखमात्र हूँ, मैं आनन्दमात्र हूँ, मैं ज्ञानमात्र हूँ – ऐसा अनुभव करे तो वो परिणमन हो गया। तो वो परिणमन उसके

अनुरूप हुआ न। जैसा सुख गुण है, वैसा शुद्ध परिणमन पर्याय में हुआ – इसे स्वाभाविक कहते हैं। इसके विपरीत जो होगा वो विकारी होगा।

सभी पर्यायें ज्ञान सागर में मिल जाती हैं

मुमुक्षु :– अच्छा! मतलब क्या स्वाभाविक परिणमन हर समय की स्थिति नहीं है?

पूज्य बाबूजी :– स्वभाव का अनुशीलन करने वाला परिणमन। स्वभाव को ध्येय बनाकर उसका अनुशीलन करने वाला परिणमन। स्वभाव जैसे शुद्ध है, तो वैसे ही अपने स्वर में शुद्ध ही बोलने वाला परिणाम, कि मैं शुद्ध हूँ – ऐसा बोलने वाला परिणाम, वो स्वाभाविक परिणमन है। श्रद्धा भी शुद्ध बोलती है, ज्ञान भी शुद्ध बोलता है और चारित्र का भी अपने ढंग से शुद्ध ही बोलना है। माने सिद्धों की हर पर्याय अपने आपको शुद्ध बोलती है। वो सारी जो अनन्त पर्यायें हैं, वो केवल एक ही द्रव्य में जाकर समुद्र की नदियों की तरह उसमें समाहित हो जाती हैं। अनन्त गुणों की अनन्त पर्यायें, सिर्फ ज्ञान की नहीं, पर अनन्त पर्यायें ही उस द्रव्य में जाकर, मिलकर, द्रव्य के साथ अनुभूति की तरह, द्रव्य पर समर्पित होकर उसमें एकाकार होकर, फिर एक अनुभूति होती है कि मैं चिन्मात्र हूँ क्योंकि सारे गुण चिन्मात्र हैं, चैतन्य सब में पसरा है। इसलिए एक अनुभूति, सिर्फ एक। अलग-अलग अनुभूति तो होती नहीं है। गुण तो रहते ही हैं, लेकिन पर्यायें भी सारी की सारी उस ज्ञानसागर में जाकर एक हो जाती हैं। अब उसको नदियाँ कौन कहेगा? समुद्र में जो मिली तो अब उसे नदी कौन कहेगा? वो तो सागर हो गया।

उसमें नदियों का जल अलग-अलग है, ऐसा होने पर भी वो सागर हो गया। सागर की हर बिन्दु अपने में सिन्धु का अनुभव करे, तब तो वो सुखी रहेगी। सुखी रहेगी माने? तब तो वो बूँद बनी रहेगी सागर में

और अगर वो अपने आपको बूँद अनुभव करे तो वो भाप बनकर उड़ जाएगी, खतम हो जाएगी, इसलिए हर बिन्दु सिन्धु का अनुभव करे।

परिवार के पाँच सदस्य हैं, उसमें से हर सदस्य बोलता है कि मैं करोड़पति हूँ। दूसरे से पूछो तो मैं करोड़पति हूँ। तीसरे से पूछो तो मैं करोड़पति हूँ। हर सदस्य बोलता है कि मैं करोड़पति हूँ। रुपया एक करोड़ ही है; बोलते पाँच हैं एक करोड़। तो पाँच करोड़ नहीं हैं, एक ही करोड़ है लेकिन सबका है। इस तरह सारी पर्यायें ज्ञायक में समाहित होती हैं।

मुमुक्षु :- तो स्वानुभूति के समय भी कहा जाता है कि ये जीव का स्वाभाविक परिणमन है?

पूज्य बाबूजी :- स्वानुभूति के समय? नहीं! ऐसा नहीं है। स्वानुभूति के समय भी कहा जाता है और जो पर्यायें शुद्ध हो चुकीं तो उनका सदैव स्वाभाविक परिणमन ही रहता है। श्रद्धा की पर्याय सम्यग्दर्शन - वो शुद्ध हो चुका। उसका स्वाभाविक परिणमन हुआ। जैसे क्षायिक सम्यक्त्व हो गया तो उसका अनन्तानन्त काल तक स्वाभाविक परिणमन रहेगा। ज्ञान का भी स्वाभाविक परिणमन, चारित्र के जितने अंश हैं उनका स्वाभाविक परिणमन, जितनी पर्यायों में शुद्धता आयी उनका स्वाभाविक परिणमन और पूर्णता हो जाने पर पूरा स्वाभाविक परिणमन।

ज्ञायकपने की प्रसिद्धि में पर प्रकाशन

मुमुक्षु :- 'ज्ञायकपने प्रसिद्ध है' ऐसा छठवीं गाथा में जो भाव लिया है 'ज्ञेयाकार होने से उस भाव को ज्ञायकपना प्रसिद्ध है'; कौनसी स्थिति है?

पूज्य बाबूजी :- वो उसको समझने की बात है कि उसको ज्ञायक क्यों कहते हैं? क्योंकि वो ज्ञेयाकार होता है इसलिए उसे ज्ञायक कहते हैं - उसका अर्थ है ऐसा है कि ज्ञेयाकार होने से उसको ज्ञायकता प्रसिद्ध

है, उसका अर्थ कि वो ज्ञेयाकार होता है, इसलिए उसे ज्ञायक कहते हैं। **ज्ञेयाकार होकर अर्थात् ज्ञानाकार होकर वो सारे जगत को जान लेता है क्योंकि सारे जगत का प्रतिभास उस ज्ञानाकार में है, इसलिए उसने सारे जगत को जान लिया। तो परप्रकाशक हो गया कि नहीं ? कि कहीं भाग गया परप्रकाशक ? किसी भी तरह जाना हमने, घर में बैठकर जाना या बाहर निकल कर जाना – जान तो लिया न!** तो इसने अपने घर में बैठकर जान लिया। बाहर निकलने की जरूरत ही नहीं पड़ी। जब घर में बैठकर जानने में आ जाए तो बाहर निकलने वाला पागल है ? केवलज्ञान की एक ही पर्याय में सारा लोकालोक, वो प्रतिभास्यमान है। अलग–अलग भी है और शामिल भी है।

कैवल्य कला

केवलज्ञान भी एक पर्याय है न ? तो एक ही पर्याय में सब हैं। तो एक ही पर्याय, हर पदार्थ को एक ही पर्याय जानती है, वो पूरा जानती है। तो इसी तरह से जितने भी अनन्त पदार्थ हैं उनको वो एक ही पर्याय, सारा का सारा उनके आकारों सहित जानती है द्रव्य–गुण–पर्याय सहित। तो सब उस एक में ही शामिल हो गए न ? मिल भी गए हैं और बिल्कुल न्यारे–न्यारे भी हैं। अलग–अलग होकर भी एक हैं और एक होकर भी अलग–अलग हैं क्योंकि सब एक हो जायें ऐसा संभव नहीं है, लेकिन चूँकि एक ही पर्याय है तो एक ही पर्याय में जैसे सारा मेला लगा है।

अलग–अलग स्थान नहीं कि कोई इस स्थान पर जाना जा रहा है, केवलज्ञान के इस प्रदेश में और कोई उस प्रदेश में – ऐसा नहीं है। सम्पूर्ण ! केवलज्ञान जो है वो सारा असंख्य प्रदेशी है। तो असंख्य प्रदेशों से पूरा जानता है और उसमें भी संपूर्ण प्रतिभास होता है। बल्कि जो बीत चुकी हैं और जो आने वाली हैं उन पर्यायों का भी प्रतिभास – ऐसी ज्ञान की सामर्थ्य है। अनन्तानन्त पर्यायें आगे पड़ीं हैं, अनन्तानन्त। उनका

सबका बिल्कुल स्पष्ट प्रतिभास ज्ञान में है – ऐसी ज्ञान की अद्भुत सामर्थ्य है। **वर्तमान में असत् होने पर भी वो उनको सत् रूप जानती है। सत् रूप जानती है अर्थात् जानने में जो परिणमन हो रहा है वो ज्ञान का सत् रूप परिणमन है। वो पर्याय तो असत् है। वो ज्ञान जानता उसी तरह है कि उस समय होगी वो पर्याय – केवलज्ञान जानता तो यही है। द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव सब से जानता है न! तो वो पर्याय कब होने वाली है – ये सारे विशेष उस ज्ञान में भास रहे हैं।**

मुमुक्षु :– वो पर्याय कब होने वाली है, वो सारे विशेष उसमें भास रहे हैं ?

पूज्य बाबूजी :– ज्ञान में प्रत्यक्षवत् हो गया न! उस आगे की पर्याय को ज्ञान जान रहा है न! तो ज्ञान में तो वर्तमान में ही प्रत्यक्ष हो रहा है। लेकिन वर्तमान में प्रत्यक्ष होने का अर्थ ये नहीं कि वो पर्याय वर्तमान में है – ऐसा नहीं है। वो पर्याय तो जब है, तब ही है। मगर ज्ञान में वर्तमान में जानने में प्रत्यक्ष है।

मुमुक्षु :– वर्तमानवत् जानेगा! पर वर्तमान में है – ऐसा कैसे जाने ?

पूज्य बाबूजी :– हाँ! वर्तमानवत्! जानेगा तो वो वर्तमान में ही जान लेता है। होने वाली आगे है लेकिन वर्तमान में ही जान लेता है। अपना श्रुतज्ञान जानता है कि नहीं ? कुछ आगे–पीछे की बातें जानता है कि नहीं श्रुतज्ञान ? जैसे जातिस्मरण में आ जाती हैं पहले की बातें, आगे की बातें भी जानता है बहुत सारी, ऐसी विलक्षण सामर्थ्य होती है, तो श्रुतज्ञान जानता है न! तो केवलज्ञान सम्पूर्ण को नहीं जानेगा ? हम कुछ जानेंगे, तो जब ज्ञान पूरा हो जाएगा तो सब जानेगा।

इसलिए जितना कुछ सत्–असत् रूप ज्ञेय है....असत् रूप माने जो पर्यायें अभी आईं नहीं और चली गईं हैं, वह सब वर्तमान में असत् रूप ज्ञेय। तो उस असत् को भी ज्ञान में सत् जैसा जानता है।

वो पर्याय उस समय सत् नहीं हो जाती। वो तो उसी समय आनेवाली है। तो जिस समय वो आएगी उस समय वो वर्तमान जानी जाएगी - केवलज्ञान ऐसा विलक्षण है। केवलज्ञान की ऐसी असीम सामर्थ्य है। लेकिन उसकी विधि नहीं भूलना चाहिए कि केवलज्ञान का स्वरूप क्या है? कैसा है? कि एक पर्याय, जैसे अपनी श्रुतज्ञान की एक पर्याय है। तो उसमें सारे के सारे जितने कुछ अनन्त ज्ञेय हैं वे सब अपने-अपने को उसमें पटक देते हैं, समर्पित कर देते हैं जैसे। समर्पित करते हैं तो वो केवलज्ञान की एक ही पर्याय अपने पूरे ज्ञान में सबको पसारती है। परमाणु भी उसी तरह पसरा है जैसे कि सुमेरु पर्वत।

परमाणु को जाना तो वो पर्याय जानती है कि परमाणु इतना है। तो ये पूरी पर्याय ने केवलज्ञान में ऐसा जाना। वहाँ परमाणु नहीं पसरता। परमाणु पसरे तो कितनी बाधा आती है। ज्ञेय ज्ञान में जानने में आता है, इसमें बाधा कितनी आती है? कि परमाणु की जो काय है, वो तो है एक प्रदेशी, छोटी सी है। वो अगर केवलज्ञान में आवे तो वो तो जरा सी जगह में बैठ जाएगी।

उसको तो जरा सी जगह चाहिए अगर आवे तो। पर आती नहीं है। वहाँ सिर्फ ज्ञान ही वर्तन करता है कि ये परमाणु है, एक प्रदेशी। बस! हो गया उसका आकार-प्रकार, द्रव्य-गुण-पर्याय सब जान लिया।

इसी तरह सब पदार्थों का जानना है। सुमेरु को जानेगा तो सुमेरु इतना है। अब ज्ञान तो सुमेरु जितना होता ही नहीं है; किसी का भी ज्ञान कभी भी नहीं होता। 525 धनुष से बड़ी तो काया होती नहीं है किसी की, वो भी बाहुबली की थी; बाकी सबकी 500-500 धनुष की थी। तो उससे बड़ी नहीं होती है न! और सुमेरु है 100,000 योजन तो ज्ञान कैसे जानेगा? अगर वो सुमेरु उसके ज्ञान के भीतर आएगा, तो कैसे आएगा? ज्ञेय अगर आयेगा तो उसके लिए जगह ही नहीं है। लेकिन ज्ञान कैसे जानता है कि एक लाख योजन ऊँचा है। एक लाख योजन

ऊँचा है, बस हो गया। उतना का उतना सिर्फ जाननभावरूप जान लिया। सारे ज्ञेय ज्ञान में आकर ज्ञान बन जाते हैं।

मुमुक्षु :- उसी समय वो पर्याय आत्मलीन कैसे है?

पूज्य बाबूजी :- वो सभी पर्यायें आत्मलीन हैं। उसमें क्या है कि वो सारे जितने भी विशेष हैं, वो सब विशेष तो सदा से ही गौण होते हैं, क्योंकि उनमें कोई विशेषता नहीं है। इसलिये उनको गौण करके वो तो ज्ञान ही है, 'ज्ञान ही हूँ मैं तो' - ऐसा निश्चय किया था न। तो 'ज्ञान ही हूँ मैं' - ऐसा जो निर्णय हुआ, वो निर्णय केवलज्ञान तक पहुँचता है, क्योंकि सब ज्ञान ही है, वो अपने में ही डुबकी लगाए रहता है। ये तो ज्ञान ही है। ज्ञेय का इसमें कुछ भी नहीं है। प्रतिभास हैं वो भी मेरे ही हैं, तो मेरे को उनसे भी मतलब नहीं है। मतलब हो जाये तो मिथ्यादर्शन हो जाये।

ज्ञान सामान्य में प्रतिभासों की मुख्यता होना ज्ञेयनिष्ठता है

प्रतिभासों के साथ कोई मतलब हो जाये तो मिथ्यादर्शन हो जाएगा, क्योंकि वो उन प्रतिभासों में सामान्य होने पर भी विशेषता जान लेगा। ज्ञानमात्र होने पर भी उसमें कोई विशेषता देखी तो भगवान सिद्ध भी नीचे आ जाएँगे अगर ऐसा हो जाये तो। यहाँ तो किसी का भी लिहाज़ नहीं है।

मुमुक्षु :- एक समय में चला गया न वो?

पूज्य बाबूजी :- हाँ! विशेषता लगी उसको वहाँ। जब वो ज्ञानमात्र है सारा का सारा तो उसको ज्ञान से अधिक कुछ नहीं लगना चाहिये। और अगर वो उसमें रुका और उसे ज्ञेय में कुछ अधिकता देखकर उसको विस्मय हुआ, आश्चर्य हुआ, उसको कुछ प्रसन्नता हुई तो इसका अर्थ है कि ये इस आकार जैसा जो पदार्थ है, उसमें निष्ठा है उसकी, अर्थात् वो ज्ञेयनिष्ठ है।

मुमुक्षु :- तो क्या ज्ञान में ज्ञान के ही विशेषों की अगर कुछ अधिकता हो गई, तो ज्ञेयनिष्ठ बन गया ?

पूज्य बाबूजी :- हाँ ! उसको अगर वर्चस्व दे दिया तो ! उसको अगर अधिकता दे दी तो ! उसको विशेषता लगी, तो विशेषता तो ज्ञान से अधिक तो कुछ है ही नहीं। ये तो ज्ञान ही है न सामान्य और उसने उसे ज्ञान से अधिक देखा, इसका अर्थ कि ज्ञेय देखा, क्योंकि ज्ञान से अधिक तो बाहर वही है। ज्ञान से बाहर तो ज्ञेय ही पड़ा है, इसलिए उसने उसको ज्ञान जान लिया।

मुमुक्षु :- माने ज्ञान-सामान्य से अधिक अगर ज्ञान में ज्ञान का ही विशेष ज्ञात हुआ, तो ज्ञेयनिष्ठ हो गया ?

पूज्य बाबूजी :- हाँ ! वो ज्ञेयनिष्ठ हो गया, क्योंकि ज्ञान तो जितना है उतना ही है। अब इसमें बाकी और भी जोड़ा, विशेषता जोड़ी न ! तो वो किसकी जोड़ी ? वो तो अन्य पदार्थ की जुड़ी न ? क्योंकि ये तो इतना ही था पूरा आत्मा, वो तो अन्य पदार्थ की जुड़ी। तो अन्य पदार्थ की जुड़ी तो वो ज्ञेयनिष्ठ हो गया, उसकी निष्ठा ज्ञेय में हो गई। उसने ज्ञेय का अस्तित्व अपने भीतर ज्ञान की विशेषता में मान लिया।

ये रागी-द्वेषी अज्ञानी जीवों के कर्म हैं कि जो कभी तो ज्ञेय को बुलाना चाहते हैं और कभी उनको निकालना चाहते हैं कि अच्छी-अच्छी चीज़ें आवें और जो खोटी-खोटी हैं वो नहीं आवें। और आई हों तो चली जायें, तो निकालने की कोशिश करता है। जब निकालने की कोशिश करता है तो खुद की मौत हो जाती है क्योंकि वो ज्ञान को निकालता है। वहाँ ज्ञेय तो था ही नहीं।

मुमुक्षु :- ज्ञानाकारों की निष्ठा नहीं होगी ?

पूज्य बाबूजी :- ज्ञानाकारों की निष्ठा क्यों करेगा ? अभी पर्यायों से मोह नहीं छूटा क्या ? जो ज्ञानाकारों की निष्ठा करेगा ? शुरू से ही जो

लक्ष बनाकर चला है ये, जब तक वहाँ नहीं पहुँचेगा तब तक बीच में रुकेगा नहीं। रुकेगा तो भी मन वहाँ ज्ञायक पर रहेगा। सिर्फ ध्येय पर मन रहेगा।

मुमुक्षु :– रुकेगा फिर भी मन ज्ञायक पर रहेगा..तो ये रुकना कैसा होगा बाबूजी ?

पूज्य बाबूजी :– विचार में रुकना यही रुकना है, ये विचार की रुकावट ही तो है। ये जो बीच का रास्ता है, ये वास्तव में साधक नहीं है बाधक है। साधक कहा जाता है, उसका नाम व्यवहारनय ! ये साधक कहा जाता है कि जब तक ये विचार नहीं आयेंगे तब तक अनुभूति नहीं होगी। लेकिन वास्तव में ये विचार आते रहेंगे तो अनुभूति नहीं होगी और जब इनको साधन मान लेगा तो ये विचार आते ही रहेंगे और अनुभूति नहीं होगी।

विचार भी बाधक हैं

वास्तव में बाधक मानता है और साधक जानता है अर्थात् साधक कहता मात्र है। जानता है माने कहता है। कहता है अर्थात् भीतर से उनको गौण भाव से जानता है – तो उसका नाम व्यवहारनय। साधक कहता है – इसका नाम व्यवहारनय। है वास्तव में बाधक – इसका नाम निश्चयनय। क्योंकि वो तो बीच का अन्तराय है न ! इधर तो ध्येय पड़ा है और इधर जो है वहाँ से शुरू किया उसने चलना। तो ये बीच का मार्ग जो है वो अनुभूति में व्यवधान है कि नहीं ? अगर ये कट हो जाए और वो सीधा अनुभूति में पहुँच जाए तो उसका मन तो ऐसा है कि ऐसा हो जाये; लेकिन ये विचार आए बिना रहता नहीं। बीच के स्टेशन आए बिना रहते ही नहीं हैं। ये बीच के स्टेशन हैं। लेकिन वो घबराता नहीं है क्योंकि ये तो आने ही वाले हैं। ये अपना स्थान कहाँ छोड़ेंगे ? इसलिए बिल्कुल निश्चिन्त रहता है और प्रसन्नता से बढ़ता रहता है।

मुमुक्षु :– क्योंकि शुरू से उसने चिन्मात्र मैं हूँ – ऐसा लिया है इसलिए ?

पूज्य बाबूजी :– ऐसा निर्णय लिया है शुरू से। निर्णय में फर्क हो तो फिर आगे बीच में कहीं न कहीं झगड़ा पड़ ही जाएगा, क्योंकि वो पक्ष में अटक जाएगा।

मुमुक्षु :– माने कौनसा निर्णय होना चाहिए कि जिस निर्णय में पक्ष नहीं होगा ?

पूज्य बाबूजी :– निर्णय ये कि मैं चिन्मात्र ज्ञायक हूँ। बस! और कुछ नहीं माने इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं। न इसमें कुछ जोड़ना और न इसमें से कुछ घटाना (minus) करना। कुछ घटाना नहीं – ऐसा। इतना ध्रुव एकदम त्रैकालिक और संपूर्ण, अनन्तशक्तिमय।

जहाँ ये अनन्तशक्तिमय कहता है वहाँ तो आसमान में उछल पड़ता है। फिर धरती पर पैर ही नहीं रहते। अनन्तशक्ति और वो भी अचिन्त्य! एक-एक शक्ति अनन्त! अनन्त काल की अपेक्षा नहीं, भाव की अपेक्षा। काल की अपेक्षा तो है ही सही, भाव की अपेक्षा भी अनन्त। ज्ञान कितना ? सुख कितना ? अपार बेहद है।

मुमुक्षु :– तो बाबूजी जो ज्ञेयाकारों की निष्ठा है वो ज्ञेय की लुब्धता है ? ज्ञानाकारों की निष्ठा वो पर्यायों की लुब्धता है ?

पूज्य बाबूजी :– ज्ञानाकारों की लुब्धता, वो ज्ञेयनिष्ठता है। ज्ञेयाकारों की लुब्धता तो ज्ञेय की निष्ठा है ही सही। लेकिन यहाँ ज्ञानाकारों में भी अगर वो लुब्ध है, तो वो भी ज्ञेयाकार में और ज्ञेय में लुब्ध है, ज्ञेयनिष्ठ है वो। वो तो अज्ञानी हो गया।

यद्यपि अज्ञान अभी भी चल रहा है, अभी भी ज्ञान नहीं है, लेकिन ज्ञान ने करवट बदल ली है और संकल्प लिया है कि उसको लेकर रहूँगा, पाकर रहूँगा। ऐसे दो रूप उस अज्ञान के ही

बन जाते है। तब हमें उस अज्ञान को अज्ञान कहने में शर्म लगती है क्योंकि वो जात्यान्तर होने जा रहा है न, जात्यान्तर होने जा रहा है न! तो शर्म लगती है।

भाई! जो दूल्हा बनने जा रहा है तो उसको 'ओ लड़के', 'ओ लड़के', 'ओ छोरे' - ऐसा कौन बोलता है? 'दूल्हे-राज' 'दूल्हे-राजा' ऐसे पुकारते हैं। अभी विवाह नहीं हुआ, फिर भी, लेकिन जल्द ही होने वाला है।

मुमुक्षु :- क्या इसे सविकल्प स्वसंवेदन कहें?

पूज्य बाबूजी :- हाँ इसे आचार्य सविकल्प स्वसंवेदन कहते हैं अर्थात् स्वसंवेदन जैसा ही है।

ज्ञान और ज्ञेय की एकता

मुमुक्षु :- जानने वाला और जानने में आनेवाला - ये दो पर्याय हैं या एक ही पर्याय है?

पूज्य बाबूजी :- स्वयं एक ही पर्याय है! क्योंकि वहाँ दूसरा कोई नहीं है। तो एक ही पर्याय में जब वो जानने वाला है तो फिर यहाँ जानने में आने वाला भी तो होना चाहिए न! जानने वाला दूसरा तो है नहीं और दूसरी पर्याय भी वहाँ नहीं आ सकती है, दूसरे पदार्थ की बात तो बहुत दूर रही।

दूसरी पर्याय भी वहाँ नहीं आ सकती, इसलिए वो पर्याय ही जानने वाली है और वही जानने में आने वाली है; इसे भी विकल्प..... कहते हैं, आचार्य ने तो कहा कि इस क्लिष्ट कल्पना से भी क्या साध्य है? मैं तो ज्ञायक हूँ!

मुमुक्षु :- तो क्या चिन्मात्र ही अनुभव में आ रहा है?

पूज्य बाबूजी :- नहीं! सोचने में नाम कुछ भी दें, क्योंकि नाम तो सब हैं उसके, लेकिन उसके भाव में फर्क नहीं पड़ना चाहिए। भाव माने

चिन्मात्र। चाहे जीवतत्त्व कहो, जीवास्तिकाय कहो, जीव पदार्थ कहो – कुछ भी कहो, लेकिन है वो चिन्मात्र।

मुमुक्षु :– और वो जो जाननेवाला है वो सामान्य है। वो पर्याय का सामान्य है – ऐसा लेना है?

पूज्य बाबूजी :– हाँ! पर्याय का सामान्य माने सामान्य बना ली उसने, तो सामान्य हो गया। माने विशेष का तिरोभाव कर दिया तो फिर सामान्य हो गई पर्याय, माने ज्ञान ही हो गई। ज्ञानाकार हो गई अर्थात् ज्ञान ही रह गया; ज्ञान रह गया माने आत्मा ही रह गया। ये अंश में नहीं अटकता है। इसकी तो तूफ़ानी चाल है। तो जो-जो हेय हैं, उन सबको छोड़ता जा रहा है। स्वयं पुरुषार्थपूर्वक ये सारा कार्य हो रहा है लेकिन इसमें भी हेयबुद्धि है।

पुरुषार्थरूप पर्याय में भी हेय बुद्धि

मुमुक्षु :– ये क्या कहा बाबूजी?

पूज्य बाबूजी :– स्वयं पुरुषार्थपूर्वक ये कार्य, ध्येय की ओर जाने का हो रहा है, लेकिन इसमें भी उसे हेयबुद्धि है क्योंकि उपादेय तो वहाँ पड़ा है और उनसे ये मिलता नहीं है, क्योंकि इसमें चंचलता है और वो अकंप है, निष्कंप है। इसलिए इनमें मिलान नहीं है और इसने उसको चिन्मात्र को अपनत्व दिया है तो इनको अपनत्व नहीं दे सकता। जिनको अपनत्व नहीं देगा वो सब हेय हैं।

मुमुक्षु :– माने पुरुषार्थ, पुरुषार्थ को भी अपनत्व नहीं दे सकता?

पूज्य बाबूजी :– अपनत्व पर्याय मात्र में ही नहीं है। पर ये जो धारा है इसमें भी हेय-उपादेय है कि ये जो धारा चल रही है, सारी हेय-धारा है ये।

अनुयोगों में हेय-उपादेय

अनुयोगों की अपेक्षा अपन कहें ... बात तो बहुत बड़ी हो जाती है।

लेकिन चार अनुयोगों की अपेक्षा तीन अनुयोग हेय तत्त्व हैं और एक केवल द्रव्यानुयोग उपादेय है और भगवान की वाणी है। द्रव्यानुयोग का आत्मा है!

मुमुक्षु :- द्रव्यानुयोग का आत्मतत्त्व ?

पूज्य बाबूजी :- द्रव्यानुयोग ही उसे कहते हैं जो द्रव्य में सौदा (deal) करता है, जिसकी dealing (सौदेबाजी) ही द्रव्य में होती है। तत्त्व समझ में आवे तो उसमें ऊँची-ऊँची, बड़ी-बड़ी बातें बोलने में साहस भी होता है। भगवान आपकी ही तो वाणी है, इसमें क्या है ?

आप से अन्यथा तो एक शब्द ही हम नहीं बोलते हैं। हम तो आपके चरण-चंचरीक हैं। ऐसा कैसे हो सकता है कि आप को बदनाम कर दें किसी तरह ? अथवा अपने आपको हम आपसे बड़ा मान लें ये कैसे हो सकता है ? वो तो चरणों का दास होता है, तो उसमें भी इतनी हिम्मत होती है।

द्रव्य भक्ति और भाव भक्ति

द्रव्य-भक्ति में भी जो उपासक है वो उपास्य बन जाता है और उपासक जो है वो प्रलीन हो जाता है, वो अदृश्य हो जाता है। वो तो विकल्पात्मक होती है। उसमें तो उपासक और उपास्य का भेद होता है।

भाव भक्ति में तो उपासक-उपास्य का भेद नहीं होता। भाव-भक्ति शुद्धात्मा की अनुभूति है; वो अनुभूति भी ध्रुव होकर ध्रुव का प्रतिभास करने लगी - ऐसी अभेदता हो गई। ये है वास्तविक भाव-भक्ति! लेकिन द्रव्य-भक्ति में भी ऐसा होता है - ऐसा ही होता है कि जैसे अरिहंत का चिन्तन कर रहा है, धर्म-ध्यान में आता है न! जैसे पदस्थ, रूपातीत वगैरह; अरिहन्त का चिन्तन कर रहा है तो मैं अरिहंत हूँ, बस! जैसे मैं कोई पुरुष हूँ, ऐसा हूँ, मेरा नाम ये है अथवा मैं कोई बहुत गरीब हूँ। 'मैं अरिहंत' - ऐसा उस ज्ञान में प्रतिभास होता है। ये तो हुई द्रव्य-

भक्ति जो मोक्ष की कारण नहीं है बल्कि मोक्ष की बाधक है। भाव-भक्ति की तो महिमा ही कितनी है! वो तो वास्तविक है।

मुमुक्षु की पात्रता

मुमुक्षु :- तो फिर मनिदर से छुट्टी ले लेगा?

पूज्य बाबूजी :- मन्दिर से छुट्टी तो इसलिए नहीं ले सकता क्योंकि वहाँ गए बिना तो काम होता ही नहीं है, इसलिए नहीं ले सकता। जब मंदिर मिला है और सम्यग्दर्शन का साधन मिला है, तो फिर जो **सम्यग्दर्शन और उस शुद्धात्मा को प्राप्त करना चाहे, वो मन्दिर से यदि छुट्टी ले ले, तो वो तो नरकगामी है क्योंकि उसे साक्षात् साधन मिला है, वो उससे दूर रहना चाहता है - इसका मतलब वो संसार में रहना चाहता है, तो रह ले अभी आराम से क्योंकि फिर वहाँ से आना तो होता नहीं है वापस। इसलिए कई लोग ऐसे होते हैं कि जल्दी क्यों करें? वापस तो आते नहीं वहाँ से, इसलिए पहले यहाँ का भोग लें।**

मुमुक्षु तो उसे कहते हैं जिसको इसी समय कह दिया जाये कि तैयार हो? तो कहे कि हाँ! तैयार हैं। ऐसा नहीं है कि घर होकर आता हूँ और बोले अब तुम सब सुखी रहना बाल-बच्चे सब। और वो इतने काम बाकी हैं जो वो कर लेना, मैं जा रहा हूँ। तो भगवान कहते हैं कि इतनी फुर्सत नहीं है। तेरे को अभी चलता हो तो मेरे साथ चल!

इतनी तड़फ हो! तू तो अभी पूछने जा रहा है तो तेरा ममत्व तो वहाँ पड़ा है। मुक्ति में ममत्व तेरा कहाँ है? साक्षात् व्यवसाय में ऐसा कोई ग्राहक आ जाये कि जिसमें एक लाख रुपये का फायदा हो रहा हो, तो वो ऑफिस में या दुकान पर बैठा हो और ये कहता है कि ठहर जाओ! मैं मेरी पत्नी से पूछ कर आता हूँ - ऐसा करते हैं क्या? वहाँ तो पत्नी बुलाती हो तो इन्कार हो जाये कि अभी कोई टाइम नहीं है। अभी ठहर जा। चिन्मात्र तो हमेशा ही तैयार है, वो तो पर्याय अनाचारिणी निकल

गयी – ऐसा होता है। क्या हो ? कोई शादी ऐसी ही हो जाए कि तलाक देना ही पड़े। तो इसका (पर्याय का) तलाक जब तक नहीं हो उधर से (परद्रव्य से), तब तक ये पतिव्रता बन नहीं सकती।

मुमुक्षु :– जब द्रव्य–भक्ति में उपासक और उपास्य का फर्क नहीं रहता, तो यहाँ तो किसी का भेद भी नहीं है।

पूज्य बाबूजी :– यहाँ तो पराकाष्ठा है, भाव–भक्ति है, उसमें वहीं अभेद हो जाता है, लेकिन द्रव्य भक्ति में परद्रव्य का चिन्तन है न! अरिहन्त का चिन्तन भी तो परद्रव्य का चिन्तन है। फिर वो अनुभव करने लगता है कि मैं अरिहंत, मैं अरिहंत, मैं अरिहंत – ऐसा अनुभव करने लगता है, लेकिन सब विकल्पात्मक है।

पर्याय, द्रव्य जैसा बनकर ही अनुभूति करती है

मुमुक्षु :– और निज के अरिहंत की भक्ति करे तो निर्विकल्प हो जाता है ?

पूज्य बाबूजी :– हाँ! वहाँ निर्विकल्प हो जाता है, क्योंकि द्रव्य निर्विकल्प है न! तो निर्विकल्प द्रव्य को जिस पर्याय ने स्वीकार किया वो निर्विकल्प होकर ही स्वीकार कर सकती है। वो अकर्ता है, तो वो पर्याय भी अकर्ता बनकर ही उसको स्वीकार कर सकती है। वो अपरिणामी है तो ये पर्याय भी अपरिणामी बनकर ही उसे वर सकती है। उसका वरण कर सकती है। पर्याय को वैसा ही बनना पड़े ठीक वैसा जैसा वो है। उसमें जरा भी कसर नहीं होनी चाहिए।

बस! इसका स्वरूप बदलना है, इसमें जो है वो चलता रहेगा, लेकिन इसे बनना वैसा (द्रव्य जैसा) पड़ेगा, ठीक वैसा। मैं अकर्ता हूँ, अपरिणामी हूँ, शुद्ध चिद्रूप हूँ, चिदानन्द हूँ, अनन्तशक्ति सम्पन्न हूँ – **ये स्वयं ऐसा बोले और ये जितना होता है वो परिणमन में हो रहा है**

कि नहीं ? लेकिन हर परिणमन में 'ज्ञायक', हर परिणमन में 'ज्ञायक' है। हो रहा है परिणमन पर्याय का, लेकिन हर परिणमन में 'ज्ञायक' 'ज्ञायक' 'ज्ञायक' - चिन्मात्र, बस।

पर्याय कहीं चली जाये तो फिर वो अनुभव कौन करेगा ? वो रहती है लेकिन उसको वहाँ याद करना ही उसको बिगाड़ देता है। **पर्याय को याद किया और वो सारा जितना पुरुषार्थ था वो सब पानी में गया, अगर बीच में पर्याय को याद कर लिया तो। बस केवल ध्रुव की रटन होती है, एकमात्र शुद्ध की रटन होती है** और पर्याय को याद किया तो काम पर्याय का ही बिगड़ता है, द्रव्य का तो कुछ बिगड़ता नहीं।

ये जैनदर्शन की अलौकिकता है। लोगों की तो द्रव्य-भक्ति में पराकाष्ठा हो जाती है - जहाँ वो एकदम अभेद हो जाता है बस! भगवान राम का और भगवान कृष्ण का ही, बस वही अनुभूति। ऐसा लगता है जैसे हम वही बन गए हों। बस! हो गया।

अब जैन-दर्शन का प्रारम्भ इससे इन्कार करके होता है, क्योंकि ये मार्ग नहीं है क्योंकि यहाँ तो जो द्वैत था, वास्तव में द्वैत था उसमें तुमने अद्वैत का अनुभव किया है और यहाँ तो अद्वैत ही है - द्रव्य और पर्याय, स्वयं के। वहाँ तो दो द्रव्य थे, तो भक्ति में दो द्रव्य में अद्वैत का अनुभव किया।

अद्वैत अनुभूति की प्रक्रिया

मुमुक्षु :- तो ज्ञेयों की लुब्धता हो गई वो ?

पूज्य बाबूजी :- न भी हो। वो कोई जरूरी नहीं है कि हो, लेकिन वो एक तरीका है। ज्ञायक पर एकाग्र होने का एक तरीका है - पिंडस्थ, पदस्थ, रूपस्थ, रूपातीत इत्यादि जो ध्यान के प्रकरण में, लेकिन उसको पढ़ते ही कोई शुरू न कर दे। पहले तो अपने चित्त को तोले, अपनी परिणति को तोले कि मेरी परिणति में एकाग्रता कितनी है। इसके पहले

तो वो एक अरिहंत–सिद्ध की माला फेरकर देखे कि कितनी एकाग्रता है। अगर वास्तव में एकाग्र हो जाता है तो वह पिंडस्थ–पदस्थ में जाए, क्योंकि वहाँ भी उसमें अरहंत–सिद्ध का स्वरूप देखता है कि जो वास्तव में अभी मैं बना नहीं हूँ। अभी केवल विकल्पदशा है, वहीं ये स्थिति है कि जैसे मैं आनन्द में अभिभूत हो जाता हूँ, आनन्दमय हो जाता हूँ, तो वास्तविक में क्या होता होगा ? लेकिन फिर भी विकल्पात्मक है। तो जो विकल्पात्मक तक रुककर और अपने दर्शन की पराकाष्ठा कर चुके हैं, उनसे इन्कार करके जैनदर्शन का प्रारम्भ होता है कि वो मार्ग ही नहीं है। विकल्प से कभी भी निर्विकल्प की सिद्धि नहीं होती क्योंकि वहाँ दो हैं, उपासक और उपास्य का भेद है वहाँ।

वहाँ तो भक्ति का जो प्रवाह है, वो इतना ऊर्ध्वगामी है कि उसे वो एक लगता है। एक अनुभव करता है। यहाँ तो दोनों अद्वैत ही हैं – द्रव्य और पर्याय, एक ही पदार्थ के हैं। तो ये पर्याय द्रव्य में अद्वैत हो जाती है। फिर वह द्वैत का अनुभव नहीं करती – न द्रव्य, न पर्याय। बस ! वो अद्वैत है। दो दिखायी नहीं देते। बस 'चिन्मात्र हूँ' इतना अनुभव होता है।

मुमुक्षु :– बाबूजी ! इतनी सरल बात कठिन (difficult) क्यों हो गई है ? कितनी सरल बात है बाबूजी ! कितनी सरल बात है वैसे सोचें तो, इसमें करना कुछ नहीं है !

पूज्य बाबूजी :– करना कुछ नहीं है न ! 'करना कुछ नहीं है' – वो ये करके करना चाहता है, जिसमें कुछ नहीं करना है.... तो इसको करने की आदत पड़ी है, करने की झूठी वासना पड़ी है। तो ये उसको करके करना चाहता है और वहाँ करना कुछ नहीं है।

अनुभव करना है माने ? तुझे अर्थात् ज्ञान को क्या करना है ? क्या करना है बता ? कि आत्मा का अनुभव करना है, तो कहा कि नहीं होगा तेरे को ! क्योंकि अभी तो तेरे को करना है न ! आत्मा जो विद्यमान तत्त्व है अकर्ता, जिसमें कुछ करने की गुंजाइश नहीं है वो तू है – ये वचन

बोल। ये स्वर भर तू अपनी सितार से। अनुभूति की सितार में स्वर ये होने चाहिये कि 'मैं चिन्मात्र ज्ञायक'।

मुमुक्षु :- अनुभूति स्वरूप तो हूँ ही ?

पूज्य बाबूजी :- अनुभूति स्वरूप है, ये उससे आगे की बात है। चिन्मात्र! ये तो अनुभूति ही है वास्तविक। वो अनुभूति स्वरूप - वो तो अनुभूति को उत्पन्न करने का एक तरीका है।

मुमुक्षु :- बराबर! बराबर! कुछ न करने का डर ऐसा लगता है निकम्मा नहीं बन जायें ?

पूज्य बाबूजी :- निकम्मा बन जाये ऐसा लगता है लेकिन जब कुछ नहीं करना है तो क्या फिर कोई परिश्रम ही नहीं है? बिना परिश्रम (पुरुषार्थ) के होगा क्या ? वो सब परिश्रम वगैरह सब साथ चलते हैं, लेकिन चूँकि आनन्द ही आनन्द होता है इसलिए तुझे भेद नहीं मालूम पड़ता, क्योंकि जहाँ कुछ उपलब्धि होने वाली है वहाँ परिश्रम में दुःख नहीं लगता है, वो परिश्रम सुखदायक होता है।

है न जैसे, first class first (प्रथम श्रेणी उत्तीर्ण) जो लड़का होता है, वो तीन घंटे लिखता है लेकिन उसको कितना मजा रहता उसका क्योंकि first class first (प्रथम श्रेणी) वो तो जैसे उसका जन्मसिद्ध अधिकार है जैसे, इतनी प्रतिभावाला है। तो तीन घंटे लिखने का परिश्रम करता है, लेकिन वो आनन्दमय होता है सारा का सारा; first class first (प्रथम श्रेणी में) मैं आने वाला हूँ। इसी तरह जो अनुभूति है, उसमें भी उसके कदम बहुत प्रसन्नता से बढ़ते हैं। वह बहुत उछलकर चलता है। जैसे Polo (पोलो का खेल) के मैदान में घोड़े उछलते हैं, ऐसे उछलता हुआ चलता है।

मुमुक्षु :- पुरुषार्थ होने पर भी पुरुषार्थ नहीं लगता ?

पूज्य बाबूजी :- विपथ से सुपथ पर आया हो और जैसे वो गाँव

के नजदीक आ गया हो, फिर उसकी प्रसन्नता देखो फिर। भले ही धूप में खड़ा हो मगर देखो उसकी प्रसन्नता। 'वो आ गया', 'ये आ गया', 'आ गया', 'आ गया' – ऐसा, ये करणलब्धि की दशा कि 'आ गया', 'आ गया'।

मुमुक्षु :– चिन्मात्र का स्वीकार बस! इसके अलावा कुछ बात ही नहीं होनी चाहिए!

पूज्य बाबूजी :– चिन्मात्र में भी भाव, 'चिन्मात्र' शब्द नहीं। पकवान खाते समय हम उस शब्द को याद नहीं करते। केवल पकवान के स्वाद में मशगूल एकदम, उसमें ही तन्मय रहते हैं।

मुमुक्षु :– बाबूजी पता कैसे चले कि ये खाली (केवल) शब्द नहीं है बल्कि भाव हैं? कि ये जो है चिन्मात्र, चिन्तन में जो चलता है 'मैं चिन्मात्र हूँ' 'चिन्मात्र हूँ' – उसका पता कैसे चलेगा कि ये मात्र शब्द नहीं है बल्कि ये भाव है? या तो ये मात्र शब्द है, भाव नहीं है – ये पता कैसे चलेगा?

पूज्य बाबूजी :– ऐसा आनन्द ही नहीं आयेगा। ऐसा आएगा जैसा आता रहा है कि जो चला जाता है, समाप्त हो जाता है, फिर उसका कोई स्थायित्व नहीं होता क्योंकि ये आनन्द उत्पन्न होता है तो इस आनन्द के साथ में जो सुख उत्पन्न हुआ वो स्थायी है, सदा रहनेवाला है। तो उसकी तो काया ही पलट हो जाती है, उसका तो पुनर्जन्म होता है वास्तव में। सम्यग्दृष्टि का तो ये नया जन्म है। काया ही पलट गयी उसकी तो! वो जो आनन्द है, वो प्रथम तो पहचान में आता है कि ऐसा आनन्द.....जगत के अनन्त पदार्थों का मैंने सेवन किया लेकिन उनमें मिला नहीं ये। ऐसा आनन्द नहीं मिला है, ऐसा स्वाद कभी आया ही नहीं। इससे पहचान लेता है कि ये शब्द को रट रहा है या भाव को।

मुमुक्षु :– परसों आपने बताया था कि 'मैं ज्ञायक हूँ' – ये विकल्प भी है, राग भी है, पर्याय का स्वरूप भी है, ज्ञायक का स्वरूप भी है।

विकल्प और ज्ञान के स्वर एक से हैं

पूज्य बाबूजी :– हाँ! विकल्प भी है। विकल्प है, वो तो ज्ञान का विकल्प है। उसके साथ में राग का जन्म होता है क्योंकि अनुभूति नहीं है, इसलिए विचार दशा में राग का जन्म होता है और जो पर्याय है वह स्वयं ज्ञायक बन गई है, इसलिए ज्ञायक है और अभेदता से ज्ञायक ही अनुभव में आ रहा है।

मुमुक्षु :– उस समय राग का विषय कौन होता है?

पूज्य बाबूजी :– उस समय राग का विषय आत्मा ही होता है। जिस समय ज्ञान आत्मा के चिन्तन में धारावाहिक होता है, उस समय जो राग के विकल्प होते हैं, उनका विषय भी आत्मा ही होता है। वो भी बोलते वही हैं, पर समझते नहीं हैं।

जैसे हारमोनियम है न! तो हारमोनियम बजाने वाला जो बजाता है, जो शब्द–उच्चारण करता है वही स्वर हारमोनियम में से निकलते हैं। अपन समझ जाते हैं न कि इसमें से ये स्वर निकल रहा है। तो वो तो मुँह से बोल रहा है और ये स्वर इस हारमोनियम में से निकल रहे हैं, लेकिन ये हारमोनियम जानता नहीं है। ये स्वयं जो है वो उसकी तरह गा नहीं सकता है। ये राग है ये, और वो ज्ञान है; वो जानता है और स्वर दोनों का एक ही है।

जैसे बहुत बड़ी सभा हो न! तो उसमें जैसे कोई Lecture (भाषण) हो रहा है अथवा मान लो कोई कवि–सम्मेलन हो, उसमें कविता–पाठ हो रहा है। तो अच्छे–अच्छे लोग भी होते हैं, जो आगे बैठे हुए होते हैं समझदार। तो वो तो समझते हैं उसके (कवि के) भाव को क्योंकि वे प्रतिभाशाली होते हैं; तो उस कविता के भाव को समझते हैं। अब कुछ जो पीछे की भीड़ होती है तो उनमें सब तो इस तरह के होते नहीं। लेकिन जब कोई विशेष बात आती है तो आगे के लोग ताली बजाते हैं, तो सारे हॉल में ताली बजती है। तो वो सब मूर्खता की ताली है, स्वर

तो एक ही है ताली का, लेकिन एक स्वर होते हुए भी वो मूर्ख हैं, वो समझे नहीं हैं। वो समझे नहीं, वो तो देखा-देखी बजा रहे हैं और इन्होंने जो है समझकर बजायी है। इस तरह ज्ञान समझकर काम कर रहा है और विकल्प नासमझी से ही 'मैं ज्ञायक हूँ' - ऐसा बोलता है, पर समझता नहीं है, उसकी ज्यादा कीमत नहीं है, क्योंकि वो भी तो ज्ञान के साथ चलता है न! ज्ञान बहिर्मुख हो तो विकल्प भी बहिर्मुख होता है।

मुमुक्षु :- बाबूजी! एक अन्तिम प्रश्न है, last कि जो आपने बोला कि वो आनन्द का वेदन तो उसको जब अनुभूति होगी तभी होगा। तो ये आनन्द के वेदन की तुलना किसके साथ करेगा अनुभव के पहले? कि वो वैसा ही है। ये जैसे भाव-भासन की बात हुई कि ये चिन्मात्र शब्द नहीं होना चाहिए, भाव-भासन होना चाहिए। लेकिन उसको आनन्द तो है नहीं, तो वो तुलना कैसे करेगा?

पूज्य बाबूजी :- तुलना की अलग से आवश्यकता नहीं पड़ती। वो जो स्वाद आया, वो स्वाद ही ऐसा है कि वो अद्भुत है और अपूर्व है; तो हो गई तुलना। इसमें तुलना नहीं हुई? हो गई न! सारी तुलना हो गई न इसमें कि ऐसा पहले आया ही नहीं। पर ये बोलना नहीं पड़ेगा उसे, क्योंकि वो तो स्वाद में है न। इसलिए उसे तुलना-वुलना नहीं करना पड़ेगा, पर तुलना हो गई।

जैसे स्व को जाना तो सारा जगत ज्ञेय में (पर में) चला गया - पर है ये सारा जगत - जब स्व को जाना तब ये कहने की जरूरत नहीं पड़ती है । उस समय स्व-पर का वास्तविक विभाग हुआ। पहले विभाग विकल्प में था, ज्ञान के विकल्प में विभाग था, लेकिन अब अनुभूति के समय वास्तविक विभाग हो गया है।

❖❖❖

तत्त्वचर्चा : क्रमांक 8

(1 फरवरी 1999)

इस चर्चा में श्रद्धा का महत्त्व और स्वरूप, पर्याय का वेदन, पर्याय का ज्ञायक, ज्ञान की मध्यस्थता, ज्ञेयाकार में नय विवक्षा, ज्ञान निर्विषय है, पर प्रकाशन में स्व प्रकाशकता आदि विषयों का मार्मिक स्पष्टीकरण किया गया है।

मुमुक्षु :– प्रश्न है बाबूजी ! त्रिकाली ध्रुव भगवान आत्मा कूटस्थ-निष्क्रिय है और वेदन पर्याय में होता है। तो एक है दृष्टि का विषय और एक है ज्ञान का विषय, इसमें मुख्य-गौण कैसे होता है और ज्ञान का स्वरूप कैसा है ? कृपया समझाइये।

पूज्य बाबूजी :– जो त्रैकालिक ध्रुव आत्मतत्त्व है, वो तो कूटस्थ निष्क्रिय और सम्पूर्ण है। अनन्त शक्तियों का पिण्ड एक चिन्मात्र तत्त्व है और उसका वेदन पर्याय में होता है। वेदन पर्याय में होता है माने ज्ञान की पर्याय में वेदन होता है, अनुभव में आता है और जो ज्ञान की पर्याय में अनुभव में आता है, वही दृष्टि का विषय होता है।

'यही मैं हूँ' ऐसे अहम् रूप में वेदन होता है। दृष्टि में भी अहम् रूप में प्रतीति में आता है, श्रद्धा में आता है और ज्ञान में भी अहम् रूप में ही वेदन होता है। श्रद्धा में ज्ञान नहीं है, लेकिन श्रद्धा में भी वो अहम् रूप में प्रतीति में आता है, श्रद्धा में आता है, विश्वास में आता है और ज्ञान में भी अहम् रूप में उसका वेदन, संवेदन अर्थात् आत्मानुभूति होती है। इसलिए श्रद्धा और ज्ञान दोनों का विषय एक ही है।

दृष्टि भी उसी को विषय करती है और ज्ञान भी उसी को विषय करता है और दोनों का स्वर एक है। ज्ञान में इस रूप में वेदन नहीं होता कि ये शुद्धात्मा मेरा है। इसमें तो space (जगह) हो जाती है, अन्तर

हो जाता है। लेकिन 'यही मैं हूँ' – ऐसा कहकर ज्ञान और श्रद्धा दोनों अदृश्य हो जाते हैं। आत्मानुभूति की पर्याय भी अदृश्य हो जाती है क्योंकि स्वयं आत्मानुभूति की पर्याय, वो आत्मानुभूति का विषय नहीं है। श्रद्धा की पर्याय सविकल्पदशा में ज्ञान का विषय होती है और निर्विकल्पदशा में जो ज्ञान का विषय शुद्धात्मा अर्थात् 'मैं यही शुद्ध चिन्मात्र हूँ'; और दृष्टि का विषय भी यही होता है कि 'यही चिन्मात्र मैं हूँ'।

श्रद्धा की उपयोगिता

विश्वास अर्थात् श्रद्धा। इसमें और ज्ञान में जो अन्तर है वो समझ में आना चाहिए क्योंकि कभी-कभी ऐसा भीतर से प्रश्न उठता है कि जब ज्ञान सारा काम कर लेता है तो फिर श्रद्धा की क्या जरूरत है? लेकिन ये हमारे प्रगट अनुभव की बात है कि श्रद्धा की पर्याय लोक में भी अलग से चलती है और ज्ञान की पर्याय अलग से चलती है। भले ही दोनों साथ-साथ चलें और दोनों का विषय भले ही एक हो, लेकिन दोनों का स्वरूप न्यारा-न्यारा है। सिद्धि करें इसकी?

मुमुक्षु :- हाँ जी बाबूजी! कीजिए न!

पूज्य बाबूजी :- जैसे लोक में हमें बहुत सी बातों का ज्ञान नहीं होता। तो वहाँ केवल श्रद्धा से ही काम चलता है। सारे लोकालोक की बातों का ज्ञान हमको नहीं होता। नहीं होता है न? तो श्रद्धा से ही काम चलता है।

जैसे साक्षात् भगवान की वाणी में भी जो करणानुयोग का विषय है, गणित Mathematics; वो हमारे ज्ञान का विषय नहीं होता है। इतना ही क्षयोपशम है न अपना! अल्प विकास है तो वो ज्ञान का विषय नहीं होता, लेकिन भगवान सर्वज्ञ की वाणी है ऐसा विश्वास अवश्य होता है। होता है न? अज्ञानी को भी होता है। ज्ञानी को तो ज्ञानपूर्वक श्रद्धान होता

है। ज्ञानी को ऐसा नहीं है कि वो श्रद्धा अँधी होती हो; तो उसे ज्ञानपूर्वक होता है और अज्ञानी को तो भगवान की वाणी है इस प्रकार विश्वास होता है।

और लोक में देखिए कि हम किसी डॉक्टर के पास जाते हैं। तो हम कहते हैं कि डॉक्टर साहब ! हमको तो आपका ही विश्वास है। अब वो जो हमारी व्याधि को देखकर जो निदान करता है, diagnosis करता है और diagnosis करके औषधि देता है, लेकिन हमें उस बात का कुछ पता नहीं है कि इस औषधि में क्या है ? वो किसकी बनी हुई है और क्या बनी हुई है ? हम तो केवल विश्वास पर उसको लेते हैं। उस डॉक्टर ने क्या जाना ये भी हमको पता नहीं है। लेकिन हमको बता दिया गया है कि तुम्हें ये व्याधि है और तुम ये दवा लो। तो वहाँ ज्ञान नहीं होने पर भी केवल विश्वास काम किया करता है। इसलिए विश्वास की अर्थात् श्रद्धा की कीमत है और श्रद्धा माने अहम् रूप। इसप्रकार जो श्रद्धा की पर्याय ज्ञान से अलग सिद्ध होती है और हमारे इस लोकोत्तर जीवन में भी श्रद्धा की पर्याय अलग चलती है और ज्ञान की पर्याय अलग चलती है।

आत्मानुभूति के समय दोनों का विषय एक ही होता है और अलग-अलग स्वर में होता है। जैसे श्रद्धा भी आत्मा को जानती है - इस शब्द का प्रयोग गलत है। श्रद्धा जानती नहीं है; श्रद्धा प्रतीति करती है, अहम् करती है और ज्ञान भी अहम् करता है, लेकिन वो जानता हुआ अहम् करता है।

श्रद्धा बिना जाने अहं करती है

अब, ये कैसे होता है ? श्रद्धा जब जानती नहीं है तो ज्ञान ने जिस आत्मा का निर्णय किया और उस आत्मा में ज्ञान ने अहम् रूप प्रवृत्ति की अर्थात् उसका वेदन किया, उसकी अनुभूति की, तो श्रद्धा वहाँ कैसे चली गई ? उसमें तो ज्ञान नहीं था। तो कहें कि ऐसा होता है, क्योंकि

ये सब एक ही परिवार के सदस्य हैं सारे के सारे! इसलिए परिवार के एक सदस्य ने जो search light (खोजबत्ती) दिखा दी, तो सारे उसके पीछे-पीछे चल देते हैं। इसलिए जो श्रद्धा है वो ज्ञान के साथ चलती है।

अपन एक उदाहरण से स्पष्ट करेंगे तो अच्छी तरह समझ में आ जाएगा। हमारे सारे शरीर में देखनेवाली आँखें हैं। और कोई है देखनेवाला? और किसी के हाथ के या पैर के, किसी के भी आँख है? नहीं है। लेकिन आँख देखती हैं और पैर चलते हैं और पैरों के आँख नहीं है। तो पैर कैसे चलते हैं बिना आँख के? क्योंकि देखने का काम आँख ने कर लिया और शरीर एक अभेद तत्त्व है न; लौकिक दृष्टि से शरीर एक अभेद तत्त्व है। तो उसके जो सारे अवयव हैं, वो उस आँख के साथ-साथ चलते हैं। तो आँख ने देख लिया और पैर चल पड़े। अगर आँख बन्द हो जाए तो पैर लड़खड़ा जायेंगे, हाथ लड़खड़ा जायेंगे और सारा मनुष्य ही लड़खड़ा जाएगा।

आँख तो ज्ञान के स्थान पर हुई और बाकी जो अंग हैं, वो श्रद्धा के स्थान पर हुए। हम जो भोजन करते हैं तो हाथ के आँख नहीं है। नहीं है न? लेकिन ये जो हाथ है, ये मुँह को कैसे टटोल लेता है? निवाला सीधा मुँह में जाता है। और आँख, वो मुँह को देखती नहीं है लेकिन फिर भी चला जाता है क्योंकि ये एक ही परिवार के सदस्य हैं। इसलिए परिवार का एक सदस्य जो समझदार है, तो अन्य में समझ की आवश्यकता भी नहीं है और वो सब उसके पीछे-पीछे चलते हैं।

मिथ्यादर्शन में भी यही स्थिति है और सम्यग्दर्शन में भी यही स्थिति है।

अब, ज्ञान के विषय में मुख्य-गौण कैसे होता है? वो मुख्य-गौण ऐसे होता है - जिस समय आत्मानुभूति हो रही है, उस समय आत्मा मुख्य है और बाकी दूसरे सारे पदार्थ, सारा जगत उसमें गौण है और

जिस समय ज्ञान बाह्य पदार्थों को देख रहा है उस समय देखने में, केवल देखने में वो पदार्थ मुख्य हैं और आत्मा उस समय गौण है। गौण है माने चला गया है, ऐसा नहीं। लेकिन उस समय उसे देखने का काम नहीं हो रहा, जगत को देखने का काम हो रहा है। इसलिए उसको मुख्य कहते हैं और उसको गौण कहते हैं। यह प्रतिपादन की भी एक पद्धति है। तत्त्वार्थसूत्र में आया है **अर्पितानर्पितसिद्धेः** (अधिकार 5 सूत्र 32; अर्थ – प्रधानता और गौणता से पदार्थों की सिद्धि होती है।) जो हमारा विषय है उसे अर्पित कहते हैं। जो ज्ञान में चल रहा है वो तो है अर्पित, और शेष विषय ज्ञान में हैं तो सही लेकिन उस समय ज्ञान उनको जान नहीं रहा है; उनका प्रतिपादन नहीं हो रहा और जान नहीं रहा है, तो वो हैं अनर्पित। अनर्पित माने वे गौण हैं – इस तरह ज्ञान में मुख्य गौण होता है।

श्रद्धा में मुख्य और गौण नहीं होता। श्रद्धा में तो मुख्य ही होता है। मिथ्यादर्शन में भी मुख्य और सम्यग्दर्शन में भी मुख्य। मिथ्यादर्शन में जगत मुख्य है, श्रद्धा का आत्मा वही है और सम्यग्दर्शन के समय केवल शुद्धात्मा ही मुख्य है और श्रद्धा में गौण की व्यवस्था नहीं है। ये ज्ञान और श्रद्धा का विश्लेषण हुआ। और कुछ पूछना है?

वेदन पर्याय का होता है या द्रव्य का

मुमुक्षु :– पर्याय में पर्याय का वेदन होता है या द्रव्य का वेदन होता है?

पूज्य बाबूजी :– वेदन पर्याय में पर्याय का ही होता है, लेकिन उस समय क्योंकि वो उस द्रव्य के साथ द्रव्य के आकार बन गई है, ज्ञायकाकार बन गई है; तो स्वयं को ज्ञायकाकार अनुभव करती है। वो इस तरह अनुभव करती है कि 'मैं मात्र ज्ञायक हूँ' – इस तरह अनुभव करती है तो अभेद हो गई। ये अभेदता हो गई न! अगर वो यूँ कहे कि

'मैं ज्ञायक का अनुभव करती हूँ', तो पर्याय न्यारी रही और वो जो ज्ञायकाकार है वो न्यारा रहा है। वो अलग-अलग रहा।

अपन कहते हैं न कि 'ज्ञान में ज्ञान ही जानने में आता है' - ये विकल्प दशा है। इस तरह 'मैं आत्मा का अनुभव करती हूँ' - ये भी विकल्प दशा है। 'मैं तो शुद्धात्मा ही हूँ' - बस इस तरह पर्याय में पर्याय का वेदन होता है और वो ज्ञायकाकार होती है तो उसको ज्ञायक का वेदन होता है और आनन्द होता है, क्योंकि जो व्यवस्था है वो यही है कि एक गुण दूसरे गुण में नहीं जाता और द्रव्य भी गुण में नहीं जाता। तो जो द्रव्य है, ध्रुव-शुद्धात्मा वो अपनी जगह रहता है और पर्याय उसका (द्रव्य का) सारा का सारा चित्र अपने में अपनी सामर्थ्य से उतारकर उसमें एकाकार हो जाती है। वही ज्ञाता और वही ज्ञेय, हो गया! माने पर्याय में वो ज्ञायक ही ज्ञाता और ज्ञायक ही ज्ञेय हो गया।

मुमुक्षु :- बराबर! पर्याय में ज्ञायक ही ज्ञाता और ज्ञायक ही ज्ञेय?

पूज्य बाबूजी :- जब हम इस तरह बोलते हैं कि 'वो ज्ञायक का अनुभव हो रहा है', तो द्रव्य पर हमारा ध्यान जाता है न! तो वो व्यवहार हो जाता है।

मुमुक्षु :- पर्याय को पर्याय में वेदन होता है?

पूज्य बाबूजी :- पर्याय में होता है - ये निश्चय है।

मुमुक्षु :- द्रव्य का अनुभव हो रहा है, वह व्यवहार कैसे बन गया?

पूज्य बाबूजी :- वो व्यवहार हो जाएगा न! क्योंकि निश्चय तो ये है, सम्यग्दर्शन तो इस समय हुआ न! वो द्रव्य तो पहले भी विद्यमान था, लेकिन सम्यग्दर्शन तो अब हुआ न! जब पर्याय ने ज्ञायक का आकार अपने भीतर, ज्ञायक का चित्रांकन अपने भीतर किया और फिर उसमें अभेद हो गई अर्थात् 'मैं हूँ, ये ही मैं हूँ'.... तो 'ये ही मैं हूँ' इसमें ज्ञाता

भी वही और ज्ञेय भी वही। इस तरह ज्ञाता-ज्ञेय अभेद, पर्याय में अभेद हो गया और वो शुद्धात्मा अपने स्थान पर ज्यों का त्यों स्तम्भ की तरह, स्तूप की तरह खड़ा है, क्योंकि यहाँ principle (सिद्धान्तों) का खण्डन नहीं होता है, principle (सिद्धान्तों) में फर्क नहीं पड़ता है। अगर यहाँ हम फर्क डाल देंगे तो सारे जगत में फर्क पड़ जाएगा और पर-पदार्थ आत्मा में प्रवेश करने के अधिकारी हो जायेंगे।

ज्ञायक पर्याय से भिन्न तत्त्व है, भिन्न माने परस्पर विरुद्ध स्वभाववाले तत्त्व हैं। वो नित्य है और ये अनित्य है। अगर नित्य अनित्य में आ गया, तो फिर अन्य पदार्थ और अन्य सारा जगत चिल्लायेगा कि तुमने कानून भंग कर दिया। इसलिए अब तुम्हारा दरवाजा खोल दो। अब अचेतन भी चेतन में आएगा और चेतन अचेतन में जाएगा। लेकिन कुदरत का जो संविधान है वो कभी भंग नहीं होता है, चाहे अपने ऊपर apply (लागू) करो या दूसरे पर apply (लागू) करो।

पर्याय का ज्ञायक

मुमुक्षु :- पर्याय ने अपना ज्ञायक बना लिया, इसका क्या अर्थ है बाबूजी?

पूज्य बाबूजी :- बना लिया न! पर्याय ज्ञायक नहीं बनावे तो फिर क्या किया उसने? उस समय क्या कमाल हुआ फिर? उसमें क्या कमाल हुआ? सामने वस्तु जो है, वो देख ली, और फिर पर्याय का सत् क्या हुआ?

मुमुक्षु :- यदि ऐसा न हो तो?

पूज्य बाबूजी :- तो फिर पर्याय तो खाली ही रही, वो तो केवल देखनेवाली रही। पर्याय ने अपना ज्ञायकाकार बनाया कहाँ? वो तो खाली रही और उसको ज्ञायक को देखती रही, लेकिन ऐसा होता नहीं है, क्योंकि वो ज्ञायक में जा नहीं सकती है, पहुँच नहीं सकती है। तो

इस तरह जानना होता है कि वो अपने रस से, स्वरस से ज्ञायक का स्वतंत्र आकार बनाती है और उसी में लीन हो जाती है।

वह पर्याय भी सत् है न! वो भी समर्थ है, बहुत सामर्थ्य है उसकी। उसी समय सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्ययक्चारित्र तीनों एक साथ अविनाभावीरूप से जन्मते हैं। इस प्रकार निश्चय रत्नत्रय की उपलब्धि होती है। यदि वह खाली रहेगी तो उसके भीतर क्या रहा?

पर्याय तो हर समय प्रतिभास से भरी हुई होना चाहिये। हमने दूसरे के तो प्रतिभास से इन्कार कर दिया और जहाँ अपना नम्बर आया तो वहाँ हमें सिद्धान्त से इन्कार हो गया। वहाँ हमने उसके विरुद्ध वो बात स्वीकार कर ली कि – नहीं! **ज्ञायक का ही अनुभव हो रहा है। यदि ज्ञायक का अनुभव हो रहा है, तो ध्रुव का अनुभव अनित्य में कैसे होगा? ध्रुव अनित्य में कहाँ से आयेगा? और ये अनित्य है, ये ध्रुव में कहाँ से जाएगा? इसलिए ये पर्याय अपना ध्रुव तैयार करती है अर्थात् वह द्रव्याधीन नहीं है।**

मुमुक्षु :– यही सत् की अहेतुकता है?

पूज्य बाबूजी :– हाँ, क्योंकि वह द्रव्य के आधीन नहीं है, नहीं तो वह परतन्त्र बन जाती न!

जब हम अपने द्रव्य में भी इस तरह का थोड़ा भी लिहाज नहीं करते तो पर में कैसे लिहाज करेंगे? हम तो अपने द्रव्य–गुण–पर्याय में ही लिहाज नहीं करते हैं कि ये भी स्वतन्त्र सत् हैं और सभी अपने–अपने कार्यक्षेत्र में अपना–अपना काम करते हैं। यहाँ किसी का लिहाज नहीं है, जैनदर्शन तो इतना बेलिहाज है! बस! स्वतन्त्रता की हद है।

मुमुक्षु :– बाबूजी! ज्ञायक का कितना अकर्तापना रहता है! निर्मल पर्याय हो तो भी वो तो वहाँ का वहाँ, वैसा का वैसा ही रहता है?

पूज्य बाबूजी :- वैसे का वैसा ही रहता है। वो तो ध्रुव है न! स्तूप है स्तूप बिल्कुल। ज्ञायक जो है वो स्तूप है। ज्ञान का काम उसे उपादेयरूप से जानना है। तो वो उपादेयरूप से जानकर 'यही मैं हूँ' बस, यही उसका स्वर है और यही श्रद्धा का स्वर है। पर दोनों का काम न्यारा-न्यारा है। श्रद्धा का काम न्यारा है, कि अहम् करना और ज्ञान भी यहाँ अहम् ही कर रहा है। स्वर दोनों का एक होने पर भी काम दोनों के न्यारे-न्यारे हैं क्योंकि ये ज्ञान अन्य में भी व्यवसाय कर सकता है। अन्य को भी जानता है, लेकिन श्रद्धा में ये नहीं होगा। श्रद्धा के सामने अगर कोई अन्य होगा तो फिर उसका नाम मिथ्यादर्शन होगा। जिस समय ज्ञायक की श्रद्धा हुई, ज्ञायक में अहम् हुआ तो फिर उसके अतिरिक्त फिर पूरे जीवन में, अनन्तानन्तकाल में भी अगर श्रद्धा के सामने कोई दूसरा आ गया तो मिथ्यादर्शन हुए बिना नहीं रहेगा। श्रद्धा ने किसी दूसरे को विषय बना लिया तो मिथ्यादर्शन हो जाएगा। भले ही अन्य पदार्थ हों लेकिन ज्ञायक में अहम् के पश्चात् कोई दूसरा उसका विषय बनता नहीं है।

मुमुक्षु :- ज्ञान भी उपादेयरूप से जानता है?

पूज्य बाबूजी :- सब उपादेयरूप से ज्ञात होता है। श्रद्धा ने भी उपादेयरूप से ही जाना। इसने भी उपादेयरूप से ही प्रतीति की है। जाना नहीं है, प्रतीति की है।

मुमुक्षु :- ज्ञान में उपादेयरूप से जानना वही ज्ञान का सही स्वरूप है?

पूज्य बाबूजी :- हाँ! उसमें तो हेय-उपादेय दोनों कोटि होती हैं मगर श्रद्धा में तो एक ही कोटि है। केवल उपादेय अर्थात् अहम्।

मुमुक्षु :- ये ज्ञान का अहम् कैसे होता है बाबूजी?

पूज्य बाबूजी :- बस वैसा का वैसा ही। 'यही मैं' - बस! हो गया।

मुमुक्षु :- वो तो एकत्वरूप से परिणमन होता है?

पूज्य बाबूजी :- हाँ! तो एकत्वरूप परिणमन है, लेकिन स्वर तो वही है न! माने बात तो वही है न एकदम! वो भी उसी तरह वेदन कर रहा है और वो भी उसी तरह प्रतीति कर रही है।

ज्ञान भी कहता है 'यही मैं' - सारे गुण ऐसा कहते हैं। सारे गुणों का स्वरूप ऐसा ही है क्योंकि सभी ज्ञायक में ढल जाते हैं न! जिस समय आत्मदर्शन-सम्यग्दर्शन होता है, तो उस समय सारे ही गुण आत्मा की ओर ढल जाते हैं और अपने-अपने योग्य उनकी पर्याय में शुद्धता प्रगट होती है। जैसे चारित्र में किंचित् शुद्धता प्रगट हुई और श्रद्धा और ज्ञान ये दोनों पूरे शुद्ध हो गए। केवलज्ञान की अपेक्षा कमी है वो एक अलग बात है। पर दोनों पूरे हो गए और उधर चारित्र में कमी है, सुख में कमी है और-और बहुत गुण हैं।

ज्ञान की मध्यस्थता

मुमुक्षु :- बाबूजी! यहाँ ज्ञान की मध्यस्थता कहाँ हुई? ज्ञान की मध्यस्थता कौनसे चरण (stage) पर होती है?

पूज्य बाबूजी :- ज्ञान की मध्यस्थता माने सारे जगत के प्रति मध्यस्थ हो गया हो - ये मध्यस्थता। सारे जगत में मेरा कोई नहीं है, सब एक पंक्ति में हैं। एक ओर मैं और एक ओर सारा जगत - ये मध्यस्थता हुई। उसे कोई राग और कोई द्वेष नहीं - ये मध्यस्थता है। जैसे शुद्धात्मा को, अपनी सत्ता को अंगीकार कर लिया तो अन्य जितने भी हैं, वो ज्ञेय-कोटि में चले गए। उसी का नाम मध्यस्थता अर्थात् किसी के प्रति राग और किसी के प्रति द्वेष - ये समाप्त हो गया।

मुमुक्षु :- अन्य को ज्ञेय-कोटि में डाल देने के बाद न किसी के ऊपर राग और न किसी के ऊपर द्वेष?

पूज्य बाबूजी :- कुछ नहीं है। ज्ञान तो निर्णायक है न! ये न्यायाधीश है। Supreme Court (उच्चतम न्यायालय) का न्यायाधीश है, इसका

निर्णय फिरता नहीं है। इसलिए सबके प्रति अत्यन्त मध्यस्थ है। नहीं कोई इष्ट और नहीं कोई अनिष्ट। कोई राग का विषय नहीं और कोई द्वेष का विषय नहीं। राग और द्वेष ही मेरे नहीं तो उनके विषय का क्या काम? सबके प्रति मध्यस्थ! अपनी पर्यायों के प्रति भी मध्यस्थ।

मुमुक्षु :- कोई पर्याय 100 प्रतिशत शुद्ध हो गई और कोई पर्याय कम होवे, ज्ञान को कोई तकलीफ नहीं?

पूज्य बाबूजी :- हाँ! कैसा भी हो! ज्ञान को उनसे मतलब ही नहीं। उसको एकमात्र उस चिन्मात्र से मतलब रह गया है। श्रद्धा भी उसी की ओर बार-बार जाने का प्रयत्न करती है और ज्ञान भी प्रयत्न करता है।

श्रद्धा के लिए तो वो सार्वकालिक और सार्वदेशिक हो गया। अब अगर जैसे क्षायिक सम्यक्त्व है तो ये तो अनन्तानन्त काल तक केवल एक मात्र उस ज्ञायक को विषय करती रहेगी। बस ज्ञान में है ये बात, क्योंकि उसके विषय अनेक हैं, वो सविकल्प है। **श्रद्धा निर्विकल्प होती है। ज्ञान सविकल्प होता है अर्थात् उसमें पदार्थ भेद-प्रभेद सहित अनुभव में आता है। दर्शन निर्विकल्प होता है, तो उसमें भेद-प्रभेद सहित उसका देखना नहीं होता। उसमें केवल सत् रूप में देखना होता है, हर वस्तु केवल सत्, अपना आत्मा भी मात्र सत् रूप में दिखता है।**

मुमुक्षु :- श्रद्धा में तो once and for all (हमेशा के लिए), बस।

पूज्य बाबूजी :- बस! श्रद्धा में तो हमेशा के लिए हो गया। उसमें फरक नहीं पड़ेगा। ज्ञान अन्तर-बाह्य, अन्तर-बाह्य इस तरह से व्यवसाय करता रहता है।

मुमुक्षु :- इसमें सर्वथा लगता है?

पूज्य बाबूजी :- हाँ! श्रद्धा में सर्वथा लगता है।

ज्ञेयाकार में निश्चय-व्यवहार

मुमुक्षु :- प्रश्न है कि स्वपरप्रकाशक ज्ञान की पर्याय का ज्ञेयाकार और ज्ञानाकार धर्म स्वाभाविक है। फिर से, स्वपरप्रकाशक ज्ञान की पर्याय का ज्ञेयाकार और ज्ञानाकार धर्म स्वाभाविक है, तो ज्ञेयाकार धर्म को स्वीकारने से अनुभव होता है कि निषेधने से अनुभव होता है? कृपया समझाईये।

पूज्य बाबूजी :- ज्ञान की जो स्वपरप्रकाशक पर्याय है, वो तो वास्तव में तो स्वप्रकाशक है। वास्तव में जब हम उसका अच्छी तरह से विश्लेषण करते हैं तो वो स्वप्रकाशक ही सिद्ध होती है। **अब स्वप्रकाशकता में जो प्रतिभास होता है, उसे ज्ञेयाकार भी कहते हैं और ज्ञानाकार भी कहते हैं। असल में ज्ञेयाकार नहीं है क्योंकि जो ज्ञेयाकार है, वो तो ज्ञेय के पास रहता है। वो ज्ञान के पास नहीं आता, लेकिन उसे ज्ञेयाकर इसलिए कहते हैं कि जैसा ये ज्ञेयाकार अर्थात् ज्ञानाकार, ज्ञान के भीतर हो रहा है, ठीक ऐसा ही ज्ञेय और ज्ञेयाकार बाहर पड़ा हुआ है।** इसलिए इसको ज्ञेयाकार कहने से दोनों प्रकार की सिद्धि हो जाती है, निश्चय की भी और व्यवहार की भी। लेकिन पहले निश्चय को जाने। पहले ये जाने कि ये ज्ञेयाकार नहीं बल्कि ज्ञानाकार है। ज्ञानाकार अर्थात् ज्ञान है और मैं हूँ – पहले विकल्प दशा में ये ऐसा निर्णय कर ले! तो फिर उसको ज्ञेयाकार कहने में कोई दिक्कत नहीं है और ज्ञेयाकार कहना चाहिए मगर मानना नहीं चाहिए। उसे ज्ञेयाकार मानना मिथ्यादर्शन और आत्म दर्शन के बाद ज्ञेयाकार कहना व्यवहारनय।

मुमुक्षु :- बहुत सुन्दर! Condition (शर्त) – आत्मदर्शन होने के बाद!

पूज्य बाबूजी :- आत्मदर्शन होने के बाद ही! वरना वो मिथ्यादर्शन

है। वो ज्ञेयाकार ही मानता है, ज्ञेय ही मानता है। ज्ञेयाकार और ज्ञेय में कोई फरक नहीं मानता, ज्ञेय ही मानता है।

अधिकांश जिनवाणी में भी ज्ञेयाकार शब्द का प्रयोग हुआ है। लेकिन एक बार कह दिया, फिर बार-बार कहने की आवश्यकता नहीं पड़ती। जैसे रेडियो चलता है न तो वो कहते हैं 'हम दिल्ली से बोल रहे हैं'। अब वो कोई इस बात को दस बार नहीं दोहरायेगा। बीच में एक-आध बार और कह देगा। इस तरह एक बार वो नियम जान लिया कि सचमुच पर का प्रवेश होता ही नहीं है, इसलिए ज्ञानाकार ही है और ज्ञान ही जानने में आता है। ये जितने प्रतिभास हैं वो सब ज्ञान हैं। ज्ञान हैं और वो सभी प्रतिभास जाननभावरूप हैं। वो केवल चित्र नहीं हैं, वो पदार्थों के चित्र नहीं हैं लेकिन वो जाननभावरूप हैं। तो वही जान रहा है और वही जानने में आ रहा है। वो प्रतिभास जो है, वही जान रहा है और वही जानने में आ रहा है, वो ज्ञान ही ज्ञान है।

मुमुक्षु :- ये बात दोहराई जाये बाबूजी कि प्रतिभास जो है.....।

पूज्य बाबूजी :- वो स्वयं ज्ञानरूप है और वही जान रहा है और वही जानने में आ रहा है। इसलिए स्वयं ही जानने में आता है, अपनी पर्याय ही जानने में आती है और प्रतिभास वो ज्ञान की पर्याय है। तभी तो हम कह सकेंगे कि ज्ञान की पर्याय ही जानने में आती है।

मुमुक्षु :- प्रतिभास है वो जानन स्वभावरूप है?

पूज्य बाबूजी :- जाननभावरूप है। अपने श्रुतज्ञान में भी पर्याय तो अखण्ड है - एक अखण्ड पर्याय प्रतिभास वाली है, जिसमें अर्थात् जानने में एक तरह से पूरा का पूरा ज्ञेय फैला है। जैसे अणु को जाना या सुमेरु पर्वत को जाना। तो जाना तो सुमेरु पर्वत है। सुमेरु पर्वत है - ये जो वचन है, ये वचन ज्ञान की ओर से देखें तो ज्ञान है। और सुमेरु पर्वत

की ओर से कहें तो वो व्यवहार कि सुमेरु पर्वत दिखाई दे रहा है – ये व्यवहार हो गया। 'सुमेरु पर्वत है' ज्ञान में ऐसा विकल्प आया, तो ये सुमेरु पर्वत है या ज्ञान है?

मुमुक्षु :– ज्ञान है।

पूज्य बाबूजी :– दोनों में से क्या है? ज्ञान है! लेकिन सुमेरु पर्वत की ओर से अगर अपन कहें, क्योंकि उसकी विद्यमानता है न! अब अपन ये दूसरे विकल्प पर (परप्रकाशकता के विकल्प पर) जाते हैं; तो ये परप्रकाशकता इस तरह सिद्ध हो जाती है कि 'सुमेरु पर्वत है'। **ये बात हमने निश्चय में तो इस तरह जानी कि ये तो ज्ञान ही है, ज्ञानाकार ही है। लेकिन 'सुमेरु पर्वत है' इससे ये भी सिद्ध हुआ कि सुमेरु पर्वत नाम की कोई चीज बाहर है और वो जानने में आ रही है, इसका नाम व्यवहार अर्थात् परप्रकाशकता। तो जो परप्रकाशकता है वो स्वप्रकाशकता की ही पर्याय है; माने वो स्वप्रकाशक पर्याय ही है जिसका नाम पर-प्रकाशकता है। अलग से कोई चीज नहीं है। अलग से कोई चीज नहीं है।**

दो पर्याय नहीं होती हैं कि एक पर को जान रही हो और एक स्व को जान रही हो – इस तरह दो नहीं होती हैं। उसी के दो विकल्प हैं, स्वप्रकाशकता के ही दो विकल्प (भेद) हैं।

परप्रकाशन भी स्वप्रकाशन ही है

मुमुक्षु :– परप्रकाशक है, वही स्वप्रकाशक है।

पूज्य बाबूजी :– वो स्वप्रकाशकता की पर्याय है, जिसे हम ज्ञेय की तरफ से परप्रकाशकता कहते हैं और कहना भी चाहिए; अगर नहीं कहें तो अन्य पदार्थ का लोप होता है क्योंकि निश्चय में तो हम ये कहेंगे कि 'ज्ञान ही जानने में आ रहा है'। उसका तो एक ही स्वर रहेगा आदि से अन्त तक। क्या जान रहे हो? कि मैं तो ज्ञान ही जान रहा हूँ, **ज्ञान ही**

जान रहा है ऐसा अगर एकान्त निश्चय रखेगा और उधर व्यवहारनय का जो विषय है कि जगत भी है, तो उसकी सिद्धि कैसी होगी ? तो फिर सर्वज्ञता पर आँच आयेगी, सर्वज्ञ की वाणी पर आँच आयेगी, द्वादशांग पर आँच आयेगी, सब पर आँच आयेगी। इसलिए जो ज्ञानाकार है, असल में जो प्रतिभास है, उस प्रतिभास को ज्ञेय का नाम देना चाहिए और कहना चाहिए, लेकिन मानना नहीं चाहिए।

उसे ज्ञेय मानेगा तो मिथ्यादर्शन हो जायेगा और कहेगा तो व्यवहारनय होगा, वो भी आत्मदर्शन होने की बाद।

मुमुक्षु :- बराबर! एकदम स्पष्ट! प्रतिभास को ज्ञेयाकार का नाम देना चाहिए!

पूज्य बाबूजी :- देना चाहिए! इसलिए देना चाहिए कि पदार्थ तो अनेक हैं न। और हर पदार्थ का भिन्न-भिन्न प्रतिभास होता है और अपन केवलज्ञान को लें तो ज्ञान की पर्याय एक अखण्ड है।

जैसे अनन्तानन्त पदार्थ हैं और सबका भिन्न-भिन्न प्रतिभास है, क्योंकि सब भिन्न-भिन्न हैं न! सबका एक ही पर्याय में भिन्न-भिन्न प्रतिभास होता है - इसका अर्थ ये है कि वो एक ही पर्याय सारे पदार्थों के स्वरूप को जान रही है। ये परमाणु है, ये मेरु है, ये घड़ा है, ये कपड़ा है - एक ही पर्याय सबको जान रही है। तो ये घड़ा है, ये कपड़ा है, ये सब प्रतिभास अर्थात् सबके आकार हैं। मानो एक ही ज्ञान पर्याय में अनन्त आकारों का मेला लग गया है; तो वो ज्ञान की पर्याय किस समय कौन से पदार्थ को जान रही है - ये निर्णय कैसे होगा ? क्योंकि एक ही पदार्थ अनेक तरह से होता है। जैसे परमाणु अनेक हैं।

इसी प्रकार निश्चय-व्यवहार पदार्थ में थोड़ी न होता है! ये तो यहाँ अपने ज्ञान में होता है। वहाँ निश्चय-व्यवहार थोड़े ही है। यहाँ

तो स्वयमेव स्वतः ज्ञान की सामर्थ्य से अलग-अलग, सब जानने में आ रहा है - अलग-अलग भी और सब सम्मलित और एक भी। पर्याय की ओर से देखें तो एक और ज्ञेयों की ओर से देखें तो न्यारे-न्यारे, सब अलग-अलग, इसतरह जानने में आ रहे हैं।

अपन जब स्वपरप्रकाशकता का निर्णय करते हैं तो अपने को निश्चय-व्यवहार प्रगट होता है। ज्ञान ही जानने में आता है - ये निश्चय; और ज्ञान का विषय उस समय कौन है - इसका नाम व्यवहार क्योंकि असल में ज्ञान को कोई विषय नहीं होता।

भाई! ज्ञान का क्या होगा? ज्ञान का तो ज्ञान ही है न! ज्ञान का कोई सम्बन्ध है क्या किसी से? क्योंकि ज्ञान का विषय कहने से सम्बन्ध प्रगट होता है न? तो क्या ज्ञान किसी के साथ कोई सम्बन्ध वाला है? नहीं है। **इसलिए पहले तो ये मानकर चलो कि ज्ञान का कोई विषय नहीं है। वह स्वयं ही उसका विषय है - ये भी व्यवहार है।**

वो तो ज्ञायक ही है, अन्त में तो वहाँ जाना है। इसलिए उसको नाम देना बहुत आवश्यक होता है क्योंकि जैसे किसी ने प्रश्न किया कि भाई! अपने ज्ञान में, श्रुतज्ञान में कौन जानने में आ रहा है? तुम्हारे यहाँ पर जो है सामने 50 घड़े हैं। उन 50 घड़ों में से कौनसा घड़ा जानने में आ रहा है? तो ज्ञान में वो बात निश्चित होना चाहिए न! क्योंकि 50 जानने में आ रहे हैं तो उनमें से वो 50 वाँ कौनसा है? **इसलिए वो जो ज्ञान की पर्याय है, उसमें हम point out (अंकित) कर देते हैं कि ये है वो; ये घड़ा है वो जो ज्ञान में है। इसका नाम व्यवहार हो गया, परप्रकाशकता हो गया और सिद्धि हो गयी कि बाहर भी 50 घड़े हैं और ज्ञान में भी वैसे के वैसे 50 घड़े बन रहे हैं।**

मुमुक्षु :- निगोद के जीव का भी ज्ञान....।

पूज्य बाबूजी :– निगोद के जीव का भी ज्ञान ऐसा का ऐसा ही है। वो भी ऐसे ही जानता है, लेकिन मिथ्या जानता है कि 'देह मैं हूँ'।

मुमुक्षु :– उसे ज्ञेयों का ज्ञान हो जाता है क्या?

पूज्य बाबूजी :– हाँ! क्यों नहीं होगा? ये देह मैं हूँ – उसे ये मान्यता रात और दिन है न! उसके पास निरन्तर यही तो है और है भी क्या? कोई परिग्रह नहीं है उसके पास, तो भी निष्परिग्रह नहीं है, महापरिग्रही है।

मुमुक्षु :– मतलब बाबूजी! ये पूरा जाननभावरूप ही है।

पूज्य बाबूजी :– पूरा जाननभावरूप ज्ञान ही है। आचार्यों ने आत्मा को तो ज्ञानमात्र ही कहा है न! क्योंकि वह ज्ञान ही है और फिर उसका analysis (विश्लेषण) भी किया, उसका स्पष्टीकरण भी किया कि आत्मा को सिर्फ एक ज्ञान गुणवाला नहीं मान लेना। हाँ! ये ज्ञान के साथ लिहाज नहीं कर रहे हैं हम। अनन्त गुणवाला है लेकिन ज्ञान ही है ऐसा कहने में जो आत्मा के अनन्त गुण हैं वो भी ज्ञान में ही प्रतिभास्यमान होते हैं। इसलिए सिर्फ ज्ञान को देख लो या अन्य गुणों को देख को या जगत को देख लो, किसी को भी देख लो। सिर्फ ज्ञान देख लो, ज्ञान की एक पर्याय देख लो, बस।

मुमुक्षु :– या तो अन्य गुणों को देख लो या तो समस्त विश्व को देख लो?

पूज्य बाबूजी :– सबको देख लो। सिर्फ एक ज्ञान की पर्याय को देख लो, इसमें सब कुछ आ गया। अपने अनन्त गुणों का प्रतिभास, अपनी अनन्त पर्यायों का प्रतिभास, अपने द्रव्य का प्रतिभास और सारे जगत का प्रतिभास एक अखण्ड पर्याय में होता है। उन प्रतिभासों के कारण ज्ञान खण्डित नहीं होता क्योंकि ज्ञान तो जाननरूप है। वो सारा प्रतिभास ही जाननरूप है; जाननेरूप है और ज्ञेय भी स्वयं ही है।

मुमुक्षु :- तो बाबूजी! परप्रकाशकपना मात्र पर के अस्तित्व की सिद्धि करता है, बस इतना ही मानें क्या?

पूज्य बाबूजी :- बस, इतना। अस्तित्व की सिद्धि करना चाहिए न! नहीं करेगा तो ज्ञान निर्मल होना तो दूर है, स्वच्छ भी नहीं रहेगा। इसके ज्ञान ने स्वीकार किया न कि जगत है। 'जगत है' तो जगत की ओर से देखेंगे तो इसको 'जगत का ज्ञान' कहते हैं और 'जगत है' इसको ज्ञान की ओर से देखें तो वो ज्ञान ही है – अन्तर्मुख होने की प्रक्रिया वही है।

मुमुक्षु :- प्रक्रिया वही है बस! प्रयोजनभूत बात वो ही है।

पूज्य बाबूजी :- हाँ! पर को जानता है इसमें तो कर्ता-कर्म भाव पैदा होता है। कर्ता-कर्म भाव का अज्ञान और मिथ्यादर्शन पैदा होता है, क्योंकि ये जानने वाला और पर इसका कर्म। जबकि नियम ये है कि कर्ता और कर्म का अनन्यत्व होता है; वो एक ही पदार्थ में एक ही जगह रहते हैं और कर्ता जो है वो कर्म में व्यापक होता है। तो जानने में अगर किसी दूसरे को मानेंगे तो वो हो गया कर्म और ये हो गया कर्ता। तो दोनों में व्याप्य-व्यापकभाव होकर दोनों एक हो गये, जड़ और चेतन। इससे तो वस्तु व्यवस्था ही खतम हो गयी। इसलिए ज्ञान का ज्ञेय.....ज्ञान का ज्ञेय कहना ये सारा व्यवहार है; ये सब व्यवहार-कथन है। कहने मात्र का कथन – ऐसा; मानने का बिल्कुल नहीं। ज्ञान का कोई ज्ञेय नहीं होता, स्व ही ज्ञेय है।

ज्ञान निर्विषयी है

मुमुक्षु :- ये जरा स्पष्ट समझाए कि ज्ञान निर्विषयी है।

पूज्य बाबूजी :- हाँ! क्योंकि ज्ञान ही विषय है। ज्ञान निर्विषयी है अर्थात् ज्ञान का जगत में कौन है? क्या उत्तर है इस प्रश्न का? जगत में ज्ञान का कौन है?

अगर हम कहें कि ज्ञान के विषय हैं, तब तो ज्ञान के विषय अचेतन

हो गये तो ज्ञान से सम्बन्ध हो गया। इसलिए ज्ञान का तो ज्ञान ही है और अन्त में ज्ञान का आत्मा है बस! ज्ञान का कौन हो सकता है? कौन है हमारा अच्छा! हम ज्ञान को गौण करें और आत्मा के लिए पूछें कि आत्मा का जगत में कौन है? कोई नहीं है। तो ज्ञान का कौन है?

मुमुक्षु :– आत्मा के अनन्त गुणों को जानने की चेष्टा जो प्रतिभासरूप होती है, तो उसे अभेदरूप जाने जाते हैं कि भेदरूप?

पूज्य बाबूजी :– भेदरूप भी है और अभेदरूप भी है। भेदरूप भी अभेदरूप भी इस तरह से है कि सबका स्वरूप भिन्न-भिन्न है और वो ज्ञान की एक पर्याय अखण्ड है – इसतरह भेद और अभेद दोनों हैं। अन्त में अभेद कर लेना चाहिए क्योंकि ज्ञान ही है, इसमें क्या देखूँ मैं? इसमें मुझे क्या देखना है?

कोई पदार्थ मेरे जानने में आता है इसको तो स्पष्टरूप से मिथ्यादर्शन-मिथ्याज्ञान-मिथ्याचारित्ररूप अध्यवसान कहा है। अध्यवसान!

ज्ञान का कौन विषय है? ज्ञान की जो पर्याय है वो अत्यन्त निरपेक्ष पैदा होती है। उसको विषय से क्या मतलब है? उसका विषय अगर हो तो क्या विषय उसे मदद करता है? या उसे प्रभावित करता है? सहायता करता है? क्या कारण होता है विषय? तो ज्ञान को विषय की कहाँ जरूरत है? **ज्ञान में तो स्वतः ही सारा जगत आ पड़ता है, अपने आप ही। तो फिर ज्ञान को कहाँ जरूरत है किसी को विषय बनाने की? ये तो स्वयं स्वतन्त्र, स्वाधीन बिल्कुल निरपेक्ष सबसे, अन्य गुणों से भी निरपेक्ष और आत्मा से भी निरपेक्ष है।**

मुमुक्षु :– आत्मा से भी निरपेक्ष हो तो आत्मा में अहंभाव कैसे होता है? जब ज्ञान आत्मा से निरपेक्ष हुआ तब वो ज्ञायक में अहंभाव कैसे कर सकता है?

पूज्य बाबूजी :– हो गया न ज्ञायक में अहंभाव तो, वो तो पहले ज्ञायक ही अहम् करने लायक है – ये पहले निश्चय कर लिया। ये तो

जिस समय द्रव्य–गुण–पर्याय का विचार किया, तो उस समय ये निश्चय हो गया कि तीनों में से अहम् करने लायक कौन है, उपादेय बनाने लायक कौन है। अपनी पर्याय की जो श्रद्धा है और अपनी पर्याय का जो अहम् है, उसका नाम मिथ्यादर्शन है और मिथ्यादर्शन का फल निगोद होता है।

अपनी पर्याय में अहं मिथ्यादर्शन क्यों

अब हम इस बात पर गहराई से विचार करें कि अपनी पर्याय की श्रद्धा अगर हमने कर ली तो क्या अनर्थ कर दिया? और आचार्य उसको मिथ्यादर्शन कहकर हमको निगोद भेज रहे हैं। तो हमने क्या बिगाड़ कर लिया अपनी पर्याय की श्रद्धा कर ली तो? इसका उत्तर कौन देगा उत्तर, अच्छा बताओ! अपनी पर्याय की श्रद्धा, स्वयं अपनी पर्याय, भले ही निर्मल पर्याय, उसकी श्रद्धा कर ली तो उसका नाम मिथ्यादर्शन है और उसका फल निगोद है। तो क्यों है? ये इतना बड़ा दण्ड क्यों है?

मुमुक्षु :– एक समय की पर्याय में अहंभाव किया न उसने?

पूज्य बाबूजी :– हाँ! तो किया तो किया, उसकी थी वो। क्या झगड़ा पड़ गया उसमें? इतना बड़ा दण्ड कैसे होना चाहिए?

मुमुक्षु :– मिथ्यादर्शन कहा....

पूज्य बाबूजी :– हाँ! तो यही कमी है कि हम सुयुक्ति से निर्णय नहीं करते। बस हाँ में हाँ मिलाते हैं। सुयुक्ति से निर्णय हो कि क्यों है ये बात कि पर्याय में अगर हमने अहम् कर लिया तो वो मिथ्यादर्शन है.... मिथ्यादर्शन सबसे बड़ा पाप है, तो उसका फल निगोद होता है। तो क्यों होगा ऐसा?

मुमुक्षु :– उसकी एक समय की आयु है बाबूजी!

पूज्य बाबूजी :– वो तो एक समय की है, तो है इससे क्या मतलब? है तो हमारी न! एक समय ही है तो क्या हो गया?

मुमुक्षु :– उसका स्थायीपना नहीं है न। अनित्य का, अनित्य पर्याय का.....।

पूज्य बाबूजी :– वो नहीं है कुछ! ये ज्ञान का धर्म है कि वो द्रव्य–गुण–पर्याय में से उपादेय का निर्णय करे और क्योंकि उसने गलत निर्णय किया है इसलिए ये अपराध हुआ। उसने सारे चैतन्य के स्वरूप को बदल दिया, सारे जीवलोक का स्वरूप बदल दिया।

ये ज्ञान का धर्म है कि वो तीनों में से हेय–उपादेय का निर्णय करे, भले उसी के हैं। वरना वो ज्ञान अपराधी है। क्योंकि उसने, जो उपादेय था उसके स्थान पर हेय को चुन लिया; हेय का वरण कर लिया। तो ये फिर सारे जीवलोक का स्वरूप हो गया न। तो उसने स्वरूप ही बदल दिया सारा, तो बहुत बड़ा अपराध है।

मुमुक्षु :– ज्ञान अपने धर्म से च्युत हुआ!

पूज्य बाबूजी :– च्युत हुआ बिल्कुल! कर्तव्य से च्युत हुआ!

मुमुक्षु :– धर्म से नहीं, कर्तव्य से च्युत हो गया। जिसको हेय करना था उसको उपादेय मान लिया, वही उसका बहुत बड़ा अपराध हो गया क्या?

पूज्य बाबूजी :– उसको उपादेय मान लिया, यह बहुत बड़ा अपराध है क्योंकि सारे ही जीवलोक का स्वरूप बदल गया न। सबका स्वरूप बदल गया माने मोक्ष का कपाट (दरवाजा) बन्द कर दिया। समस्त विश्व के प्रति अपराध हो गया, इसलिए जैनदर्शन में किसी का थोड़ा भी लिहाज नहीं है; सिद्ध दशा का भी लिहाज नहीं है।

हर चीज युक्ति से होनी चाहिए। तत्त्वज्ञान में बिना युक्ति के काम चलता ही नहीं है। हर कदम में सुयुक्ति। कुयुक्तियाँ तो कोर्ट में चलती हैं अथवा अज्ञानी की कुयुक्तियाँ चलती हैं। छह दर्शनों की भी कुयुक्तियाँ चलती हैं, वो जैनदर्शन को गालियाँ देते हैं; लेकिन यहाँ सुयुक्ति से निर्णय होता है।

मुमुक्षु :– बाबूजी! ज्ञान पर्याय की श्रद्धा को मिथ्यादर्शन कहा – ये जरा फिर से बताइये! क्योंकि एक ज्ञान की पर्याय में अपनापना माना तो ज्ञायक को भूल गया तो ज्ञायक की श्रद्धा छूट गई, परन्तु ज्ञायक और ज्ञान की पर्याय तो एक ही है। एकत्वभाव से एक ही है न!

पूज्य बाबूजी :– ज्ञायक की श्रद्धा छूट गई – ये बात दूसरे नम्बर पर है। पहले नम्बर पर ये है कि ज्ञान को इन तीनों में से हेय–उपादेय का निर्णय करना चाहिए – ये उसका कर्तव्य है क्योंकि वो आँख वाला है। अन्य गुणों को दोष नहीं दिया जाता है। आँख वाला अगर अंधे से टकरा जाए तो आँख वाले को सजा होगी अंधे को सजा नहीं होगी।

इसलिए ज्ञान को निर्णय करना चाहिए कि भले ही ये मेरे हैं, पर मेरे होने पर भी मुझे सदा के लिए कौन निभा सकेगा; ये निर्णय ज्ञान को करना चाहिए। इसमें वो भूल गया, चूक गया; और चूककर उसने हेयतत्त्व कि जो आकुलता पैदा करनेवाला था, उसमें वो ममत्व कर बैठा, अहम् कर बैठा, उपादेयता कर बैठा तो इसलिए अपराधी हुआ। उसने सम्पूर्ण चेतनतत्त्व का सारा स्वरूप ही बदल दिया न कि – वो पर्याय में अहम् करे तो मोक्ष हो जाएगा।

ज्ञान का जो भ्रम और भूल है, उसी से तो सारा संसार खड़ा है। फिर वो चाहे अपने में चूके चाहे पर में चूके। अपने में चूका है तो अपने में जो उपादेय था, जो अनन्तकाल के लिए उसका सहारा था उसको तो वो चूक गया। और जो एक क्षण भी उसको नहीं निभा सकता, पर्याय में अहं करने से उसका सुहाग हर क्षण टूटता है, चूड़ियाँ फूटती हैं; और इसलिए रोता है, चिल्लाता है, सिर फोड़ता है, उसमें अहम् कर बैठा है, तो गलत नहीं हुआ ये? जैसे परतत्त्व में अहम् कर लिया, पुद्गल के साथ अहम् कर लिया, इसी तरह से ये भी समान कोटि का मिथ्यादर्शन है। समान कोटि का मिथ्यादर्शन! पुद्गल में अहम् करो या पर्याय में अहम् करो, बराबर का मिथ्यादर्शन है।

मुमुक्षु :- गलती तो एक ही है।

पूज्य बाबूजी :- एक ही गलती है। Miss (छूटा) हुआ, कि कहीं तो रिपटकर उसका सिर फूट गया, कोई जो है नदी में ही बह गया। कुछ भी हुआ लेकिन Miss (छूटा) हुआ तो ये उसकी सजा है।

यथार्थ निर्णय का महत्त्व

मुमुक्षु :- बाबूजी! वास्तव में आज ये पता चलता है कि यथार्थ निर्णय का महत्त्व क्या है और कितना है। जहाँ तक ये निर्णय नहीं होगा वहाँ तक.....

पूज्य बाबूजी :- एक कदम भी आगे नहीं बढ़ेगा। जरा भी! थोड़ा भी, निर्णय में एक बाल मात्र अगर फरक होगा तो आगे नहीं बढ़ सकेगा और शुद्धतत्त्व नहीं मिलेगा।

मुमुक्षु :- थोड़ा सा compensation (मुआवजा) तो रखिए। कुछ आप रखते ही नहीं हैं।

पूज्य बाबूजी :- अगर कुदरत रखे तो अपन रखें। कुदरत का संविधान कैसे भंग होगा? ये तो कुदरत का संविधान है कि क्षणिक के साथ ममत्व मत करो, चाहे वो तुम्हारा हो! क्योंकि वो तुम्हें सदा के लिये निभा नहीं सकेगा। तुम्हारा चूड़ा फूटता ही रहेगा हर समय, सुहाग टूटता ही रहेगा।

मुमुक्षु :- निर्णय के स्वरूप में बालमात्र भी फेर नहीं।

पूज्य बाबूजी :- बालमात्र भी फेर नहीं, इसलिए ज्ञान पहले इतना स्वच्छ होना चाहिए, फिर उसके बाद में निर्मल होता है।

ज्ञान पर्याय में ज्ञायक भाव

मुमुक्षु :- ज्ञान की पर्याय में से ज्ञायकभाव कैसे उभरता है? कैसे निकलता है?

पूज्य बाबूजी :- कैसे निकले? वो तो ज्ञायकाकार हो ही गया।

ज्ञायकाकार होते ही 'यही मैं हूँ' बस, ये स्वर पैदा हो गया। क्या निकालना है उसमें से? ज्ञायक अपनी जगह है। ज्ञान की पर्याय का धर्म ये है कि वो प्रतिभासरूप होती है। वो स्व के प्रतिभासरूप हुई और उसी में अहम् हुआ।

प्रतिभासरूप होती है तो स्व में अहम् हो गया। सारी बात एक ही साथ है। ज्ञायक का प्रतिभास माने ज्ञायक का अहं। उसका दूसरा नाम ही ये है। उसमें अन्तर नहीं है एक क्षण का भी। ज्ञान की पर्याय में ज्ञायक का प्रतिभास हो गया तो श्रद्धा और ज्ञान दोनों तत्काल बोल उठे कि 'यही मैं, यही मैं'। बस! हो गया सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र; तीनों हो गए।

मुमुक्षु :- क्या ये लक्षपूर्वक होता है बाबूजी?

पूज्य बाबूजी :- लक्ष तो है ही सही। लक्ष हुआ न! यही, इसी को लक्ष कहते हैं। लक्षपूर्वक और क्या होता है? इसी को लक्ष कहते हैं - ऐसा नहीं है कि वो उसकी ओर देख रही है, इसका नाम लक्ष हो! ये अपने भीतर ही भीतर स्वलक्षी हुई।

ज्ञायक का स्वरूप

मुमुक्षु :- कृपया करके थोड़ा ज्ञायक का स्वरूप समझाइये?

पूज्य बाबूजी :- ज्ञायक माने जो सदा रहनेवाला त्रैकालिक, जिसमें ज्ञान भरा है उसका नाम ज्ञायक है। सबको जानने की शक्तिवाला उसका नाम ज्ञायक है। अनन्त गुणात्मक, अनन्त शक्तिमय, अविनाशी-अक्षय परमतत्त्व उसका नाम ज्ञायक है। ज्ञायक के कई नाम होते हैं - नित्य, जो अक्षय है बस एकरूप है, जिसका रूप कभी बदलता नहीं। पर्याय का रूप प्रतिसमय बदलता है; भले ही वो वैसे की वैसे होती हो पर बदलती है न! जो पहले चली गई वो गई, अब वो अनन्तकाल में दुबारा नहीं आएगी। वैसी आ सकती है लेकिन वो नहीं आएगी; वो तो गई। जो

लहर एक बार समुद्र में मिल गई वो दुबारा आने वाली नहीं है। दूसरी तो दूसरी ही आएगी, और इन सारे परिवर्तनों में वो एकरूप रहेगा, एकरूप चलेगा। नदी एकरूप सारी और लहर जो है, वो आने और जाने वाली।

मुमुक्षु :- सिद्ध परमेष्ठी की पर्याय में भी वही है?

पूज्य बाबूजी :- ये का यही है, यही है। सिद्ध परमेष्ठी की पर्याय में भी यही है बिल्कुल। कुछ फरक नहीं है। ज्ञान ने जो निर्णय किया, उसका निर्वाह सिद्ध परमेष्ठी तक होता है। ये निर्णय ऐसा जबरदस्त होता है। यहाँ जो काम इसने किया वही सिद्ध परमेष्ठी कर रहे हैं। वो भी ज्ञायक की ओर झाँक रहे हैं और ये भी ज्ञायक की ओर झाँकता है।

मुमुक्षु :- उनकी पर्याय भी वही का वही काम करती है?

पूज्य बाबूजी :- वही का वही काम कर रही है। जहाँ से मोक्षमार्ग शुरू हुआ तो मोक्ष में जाकर वहाँ कुछ बदलाव हो जाए, तो इसका अर्थ ये हुआ कि मोक्षमार्ग दो तरह का हो गया और मोक्षमार्ग बदल गया। यहाँ से जो प्रारम्भ हुआ तो पूर्णता भी ठीक वैसी होगी ही और उसी विधि से होगी; इसलिए आत्मानुभूति कह दिया उन्होंने। आत्मानुभूति एक ही मोक्षमार्ग है, दूसरा नहीं।

मुमुक्षु :- तो हर समय की ज्ञान की पर्याय में ज्ञायकभाव मौजूद है?

पूज्य बाबूजी :- कहने को, कहने को है। वास्तव में नहीं है। माने तो, तब तो निहाल ही हो गया।

मुमुक्षु :- अनुभूति में आनन्द आता है। तो और गुणों का स्वाद क्यों नहीं? अकेला आनन्द क्यों आता है?

पूज्य बाबूजी :- वो आनन्द सब गुणों के निचोड़ को ही कहते हैं। सारे गुणों की जो निर्मल पर्याय हुई उसके निचोड़ का नाम आनन्द है।

मुमुक्षु :- तो ज्ञान में आनन्द आता है न!

पूज्य बाबूजी :– ज्ञान में आनन्द जाना जाता है। आता नहीं है। वो नियम, वो रेखा नहीं टूटेगी। वो रेखा नहीं टूटेगी। वो जो ज्ञान के चारों ओर जो रेखा है, उसका भंग कोई नहीं कर सकता। उसका द्रव्य भी नहीं कर सकता, तो और की क्या बात?

मुमुक्षु :– बाबूजी! आपने जो भाई के प्रश्न का जवाब दिया कि ज्ञान में ज्ञायकभाव हर समय मौजूद है। तो आपने बोला कि ये मात्र कहने का है, तो मतलब वास्तविक क्या है?

पूज्य बाबूजी :– मौजूद होता तो सभी सम्यग्दृष्टि हुए। तो मिथ्यादृष्टि कौन हुआ फिर जगत में? निगोदिया जीव भी सम्यग्दृष्टि हुआ क्योंकि ज्ञायकभाव मौजूद है उसकी ज्ञान की पर्याय में। कहने को है, क्योंकि वो जानता है कि हाँ! जाननेवाला हूँ, मैं जानता हूँ। लेकिन वो उसका स्वरूप नहीं जानता। न ज्ञान का स्वरूप जानता है और न जानने वाले का स्वरूप जानता है कि क्या है। वो मिलावट करके जानता है, ज्ञान को मिलावट करके मानता है।

मुमुक्षु :– ज्ञेयों से मिलावट करके मानता है?

पूज्य बाबूजी :– इसलिए नहीं, बल्कि इसलिए कि उसको ज्ञायक का प्रतिभास नहीं होता। वास्तव में नहीं होता। ज्ञायक के प्रतिभास का तो नाम ही सम्यग्दर्शन–सम्यग्ज्ञान है। एक बार हो गया फिर क्या है? यही तो कमी थी अनादिकाल से। ज्ञान आज तक ज्ञायकाकार हुआ ही नहीं।

मुमुक्षु :– अज्ञानी को शक्तिरूप है वो?

पूज्य बाबूजी :– सभी को शक्तिरूप है, शक्तिरूप क्या होता है उसमें? शक्तिरूप तो वो स्वयं ज्ञायक मौजूद है। और क्या शक्तिरूप?

मुमुक्षु :– परमपारिणामिकभाव को पर्याय के बिना का बोला जाता है, वो किस अपेक्षा से कहा?

पूज्य बाबूजी :- उसका नाम द्रव्य है, क्योंकि भावों में जब उसकी गिनती की गयी, तो भाव में अगर मान लो केवल चार ही कहते हैं हम, तो आत्मा केवल क्षणिक ही क्षणिक होता। इसलिए एक भाव ऐसा भी है कि जो क्षणिक नहीं है बल्कि नित्य रहने वाला है। उसको परम-पारिणामिकभाव कहा। उसी का नाम ज्ञायक और चिन्मात्र तत्त्व-आत्मद्रव्य। परमपारिणामिकभाव द्रव्यरूप होता है।

मुमुक्षु :- अनन्त गुणों के अंश का ज्ञान होता है, श्रद्धा होती है, और केवली को पूर्ण-सम्पूर्णपने अनन्त का ज्ञान होता है?

पूज्य बाबूजी :- नहीं! श्रद्धा में फेर नहीं होता। ज्ञान में सिर्फ इतना होता कि ज्ञान में वे अलग-अलग नहीं दिखाई देते। जैसे केवली के ज्ञान में अलग-अलग जानने में आते हैं, उस तरह से श्रुतज्ञान में अलग-अलग जानने में नहीं आते।

मुमुक्षु :- लेकिन केवली का ज्ञान सम्पूर्ण कहा जाता है और छद्मस्थ का आंशिक कहलाता है क्या?

पूज्य बाबूजी :- सम्पूर्ण का अर्थ यही कि सारे पदार्थों की पर्यायें - ये सब जानने में आ रही हैं इसलिए सम्पूर्ण कहा जाता है। लेकिन वो जो एक ही पर्याय सारे जगत को और सारी पर्यायों को जान रही है, वही आत्मलीन है। **इसलिए केवलज्ञान का स्वरूप आत्मलीनता है वास्तव में, छह द्रव्यों का जानना नहीं है। छह द्रव्य को जानना सम्यग्ज्ञान नहीं है; आत्मलीनता सम्यग्ज्ञान है। केवलज्ञान का स्वरूप ही ये है कि जो स्वरूप में केवते हैं अर्थात् क्रीड़ा करते हैं, उसका नाम है केवलज्ञान।**

केवलज्ञान और श्रुतज्ञान

मुमुक्षु :- तो फिर बाद में सम्यग्दृष्टि को आंशिक ज्ञान क्यों कहा?

पूज्य बाबूजी :- आंशिक ज्ञान माने वो तो थोड़ा है। क्षयोपशम ज्ञान

है! थोड़ा है इसलिए आंशिक ज्ञान कहा। वो तो आगम की दृष्टि है, वो अध्यात्मदृष्टि नहीं है।

अध्यात्मदृष्टि में तो केवलज्ञान में और श्रुतज्ञान में कोई अन्तर नहीं है, क्योंकि ये भी वही क्रीड़ा करता है और वो भी वही क्रीड़ा करता है और जगत से कोई मतलब नहीं है कि जगत को कितना जानें और कितना नहीं जानें। एक बार जान लिया कि पर है और मेरा नहीं है, बस; तो तीनलोक-तीनकाल को जान लिया, बस!

ज्ञान में यही मुख्य है! स्व और पर का विभाग कि 'ये चैतन्य ही मैं हूँ' और इसके अतिरिक्त जितने हैं वो सब पर हैं; ये स्व-पर का विभाग कहलाता है और केवलज्ञान का स्वरूप भी यही है, लेकिन उसमें भिन्न-भिन्न आ जाते हैं। इसमें श्रुतज्ञान में भिन्न-भिन्न नहीं आते, कम आते हैं। तो क्या फर्क पड़ता है उससे ? उसमें क्या फर्क पड़ता है। हम यहाँ बम्बई में सबको कितना जानते हैं ? कितने लोगों को जानते हैं ? बस यही जानते हैं कि सब पराये हैं, अपने मतलब के कोई नहीं हैं।

मुमुक्षु :- पर को अधिक जाना या कम जाना......परन्तु जाना तो पर को ही न!

पूज्य बाबूजी :- हम पर्याय की ओर से तोलने लगते है न! क्योंकि पर्यायदृष्टि पड़ी है इसलिए वो बार-बार वहीं ले जाती है वो; यहाँ भी, परम-अध्यात्म में भी।

यहाँ तो क्या है कि वो जो ध्रुव है, वो उसका प्राण बन गया। मेरा प्राण जो है, 'मेरा प्राणाधार ये है' और सिद्ध भी कहते हैं 'मेरा प्राणाधार ये है'। अब क्या फर्क रहा बताओ आप ? और वो भी उसी का वेदन करते हैं, ये भी उसी का वेदन करता है। क्या फर्क रहा सिद्ध में और इसमें ? यहाँ आगमदृष्टि को गौण करना पड़ेगा। उससे क्या मतलब है हमें ? आगमदृष्टि से कोई सिद्धि ही नहीं होती यहाँ। ये दोनों बराबर

हैं। श्रुतज्ञान और केवलज्ञान में अन्तर नहीं है, कुछ अन्तर नहीं है। जैसा ये ज्ञायक को जान रहा है, ठीक वैसे ही सिद्ध जान रहे हैं। कोई अन्तर नहीं है।

हाँ! Quality (गुणवत्ता) वही है। Quantity (मात्रा) का फर्क नहीं करना, (नहीं तो); वो भी वही पर्यायदृष्टि होगी। कुछ फर्क नहीं करना।

वो तो अपनी आदत पड़ी हुई है न! जिस समय ये प्रकरण चले न! उस समय तो हमारी आँखें आसमान पर होनी चाहिए। उस समय पिछली बातें याद नहीं आना चाहिए। उस समय आगम याद नहीं आना चाहिए। उसमें आगम का लोप नहीं है बल्कि आगम का आदर है क्योंकि आगम अध्यात्म के लिए ही होता है। आगम से जब हम द्रव्य-गुण-पर्यायवाले पदार्थ को जानते हैं, तो फिर उसी में से हम अध्यात्म निकालते हैं। इसलिए आगम अध्यात्म के लिए ही होता है। पहले आगम होता है फिर अध्यात्म होता है। तो जब आगम जान लिया, तो फिर अध्यात्म में बीच-बीच में क्यों उसको लाना?

शादी तो हो रही है और सारे घर में उल्लास है। अब घर का एक व्यक्ति बोला कि ठहर जाओ! अभी फेरे नहीं होंगे, शादी नहीं होगी अभी। पहले अपने घर में जितने (भूतकाल में) मरे हैं, उन सबको रोओ। ये विवाह है ये? ये विवाह है? और ऐसा होता है विवाह में? याद ही नहीं आती है। उल्लास ही उल्लास! तो हम भी ऐसा ही करते हैं कि जहाँ अध्यात्म की ऊँचाइयाँ चलती हैं, वहाँ आगम को ले आते हैं, तो बिगड़ जाता है वो। वहाँ आगम परतत्त्व है, परतत्त्व है वो!

मुमुक्षु :- इसलिए बाबूजी भावश्रुतज्ञान को जैनशासन कहा?

पूज्य बाबूजी :- हाँ! जैनशासन है। बराबर है!

मुमुक्षु :- बहुत जल्दी हो रही है आज! घड़ी की गति तेज हो जाती है।

पूज्य बाबूजी :- जल्दी नहीं है इसमें तो देर लगी और अगर वही हो जाए असली, तो फिर अनन्तकाल बीतता है। उसमें कहाँ एक घण्टा है और कहाँ देरी है ?

विवेक की प्रेरणा

मुमुक्षु :- बाबूजी ! सम्यग्दर्शन के बाद जो ज्ञान होता है न उसको ही हम सम्यग्ज्ञान कहते हैं। लेकिन एक समय पहले भी उतना ही, ऐसा ही ज्ञान होता है न तो उसको सम्यग्ज्ञान नहीं कहा ?[1]

पूज्य बाबूजी :- लिखकर लाना, लिखकर लाना। इधर दे देना लिखकर। ये असल में गुरुदेव की मर्यादा के विरुद्ध है। गुरुदेव सम्मिलित कक्षा पर सहमत नहीं थे। मैं क्योंकि पूछता नहीं हूँ इसलिए ये प्रवचन जैसा हो जाता है। नहीं तो, मैं भी इसका विरोध करता हूँ कि सम्मिलित कक्षा नहीं होना चाहिए। वो बहुत दूरदर्शिता की बात है, आगम की बात है। उसका बहुत ख्याल रखना चाहिए। इसलिए ये महिला-पुरुष के बीच जगह रखना, ये करना - ये बहुत आवश्यक है। अगर हम इतना ही नहीं कर पाते, तो विवेक को तो हमने कुएं में डाल दिया, अगर हम ये नहीं सोच पाते तो क्योंकि व्यवहार ही हमारा इतना अपवित्र है तो निश्चय कहाँ से प्रगट होने वाला है ?

मुमुक्षु :- तो बाबूजी ! इसका मतलब तो ये कि जब हम जैन-मन्दिर में जाते हैं, तो वहाँ अरिहंत भगवान के सिवाय किसी का गुणगान नहीं होना चाहिए न ? कोई लोग मंदिर में जय बुला देते हैं, ऐसा वास्तव में नहीं होना चाहिए न। दूसरे का कुछ भी.........वो विवेक होना चाहिए न।

पूज्य बाबूजी :- होना तो चाहिए।

1. यह प्रश्न किसी बहिन ने किया है ?

❖❖❖

तत्त्वचर्चा : क्रमांक 9

(2 फरवरी 1999)

इस चर्चा में निश्चय रत्नत्रय, ज्ञेयाकार में अनुभूति के अवसर, प्रतिभास में व्यवहारनय, प्रतिभास में स्व-परप्रकाशकपना, उपयोग लक्षण आदि विषयों का मार्मिक स्पष्टीकरण किया गया है।

मुमुक्षु :- आत्मा की प्रतीति और आत्मानुभूति, इन दो प्रयोग के समय में ज्ञान-दर्शन-चारित्र गुणों की परिणति में क्या फर्क रहता है?

पूज्य बाबूजी :- जिस समय आत्मा की अनुभूति अर्थात् शुद्धोपयोग होता है, उस समय सम्यग्दर्शन की पर्याय पूर्ण प्रगट होती है चाहे उपशम हो, क्षयोपशम हो, क्षायिक हो मगर सम्यग्दर्शन की पर्याय पूर्ण प्रगट होती है। सम्यग्ज्ञान भी पूरा होता है।

केवलज्ञान और श्रुतज्ञान का जो अन्तर है वो यहाँ नहीं गिनना चाहिए। वो श्रुतज्ञान पूरा ही है, क्योंकि शुद्धोपयोगरूप है और आत्मा का स्पष्ट अनुभव अर्थात् प्रत्यक्ष अनुभव कर रहा है। आत्मा के प्रदेश दिखाई नहीं देते फिर भी प्रत्यक्षवत् होने से प्रत्यक्ष अनुभूति कही जाती है और चारित्र गुण में आंशिक परिणमन होता है, उसे स्वरूपाचरण चारित्र कहते हैं। लेकिन वह चारित्र इतना अल्प होता है कि करणानुयोग उसको चारित्र नहीं गिनता, मात्र अध्यात्म उसे चारित्र गिनता है।

शुद्धोपयोग निश्चय रत्नत्रयात्मक होता है

शुद्धोपयोग निश्चय रत्नत्रयात्मक होता है - ऐसा आगम का वचन है। शुद्धोपयोग की जो परिणति है वो निश्चय रत्नत्रयात्मक होती है। पहली बार हुआ तो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की अल्प परिणति हुई। इस तरह शुद्धोपयोग निश्चय रत्नत्रयात्मकरूप ही होता है।

शुद्धोपयोग ज्ञान की पर्याय है, लेकिन उस समय तीनों की उत्पत्ति होती है और फिर सम्यग्दर्शन रहता है, ज्ञान भी रहता है। यदि ज्ञान बाह्य पदार्थों में चला जाता है तो उसे व्यवहार ज्ञान कहते हैं। शुद्धोपयोग, स्वसंवेदन, निर्विकल्प समाधि, निर्विकल्प अनुभूति - ये निश्चय सम्यग्ज्ञान है और चारित्र में जो स्थिरता-लीनता है उसका नाम स्वरूपाचरण चारित्र कहलाता है। करणानुयोग उसको नहीं गिनता लेकिन अध्यात्म में उसकी पूरी गिनती होती है, क्योंकि अनन्तानुबन्धी कषाय चली गई है। अनन्तानुबन्धी कषाय चारित्र गुण की मिथ्या पर्याय है। उसके जाने पर अल्प चारित्र अवश्य प्रगट होता है और वो चारित्र प्रगट होता है, इसीलिए उधर आनन्द प्रगट होता है क्योंकि स्थिरता ही न हो आत्मा में, तो आनन्द नहीं होगा क्योंकि सम्यग्दर्शन तो प्रतीति करता है, श्रद्धा करता है, अहम् करता है। ज्ञान आत्मा को जानता है, जैसा है वैसा जानता है। उसी समय चारित्र में अल्प स्थिरता होती है, स्थिरता माने लीनता; और उस लीनता के फलस्वरूप अतीन्द्रिय आनन्द का जन्म होता है, लेकिन शुद्धोपयोग और आत्मानुभूति की जो दशा है वो शुद्ध-चिन्मात्र ज्ञायक पर ही रहती है, तो इधर आनन्द रहता है।

इधर शुद्धोपयोग सिमटकर, शुद्धोपयोग समाप्त होकर जब बाह्य पदार्थों में परिणति जाती है, तो उस समय वो आनन्द नहीं रहता जो अनुभूति के समय था। **उस समय उपयोगात्मक आनन्द नहीं रहता लेकिन सुख गुण में जो निर्मलता आई है, वो विकल्पों के समय भी बराबर रहती है।** विकल्प की ओर, रागादि की ओर जब ज्ञान चला जाता है....(ऐसा कहते हैं, ये भी व्यवहार है) ज्ञान चला जाता है ये ज्ञान के लिए व्यवहार है, वास्तविक नहीं है। वास्तव में तो जो ज्ञान के जानने की पद्धति है, ज्ञान उसी तरह जानता है, क्योंकि राग ज्ञान में जानने में नहीं आता, राग ज्ञान में आता नहीं है। ज्ञान स्वयं राग के स्वरूप को

जानता हुआ परिणमित होता है, वो ज्ञान की ही पर्याय है, वो राग की नहीं।

इस तरह तीनों का जन्म होता है, तो जो आनन्द अनुभूति के समय हुआ, वो आनन्द बाह्य पदार्थों की दशा में जब उपयोग होता है, उस समय नहीं रहता। लेकिन सुख में, सुख गुण में जो निर्मलता आई है वो बराबर विकल्पदशा के समय भी बनी रहती है और चारित्र में भी मिश्र परिणति हो जाती है – कुछ शुद्धता और कुछ अशुद्धता। उसका तोल-माप कर्मों से किया जाता है। जो तीन कषायें अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान और संज्वलन ये जो बाकी हैं, इतना तो अचारित्र है। अब यहाँ मिथ्याचारित्र नहीं है अचारित्र है और जितनी शुद्धता प्रगट हुई है उतना सम्यक्‌चारित्र है। **इस तरह अनुभूति के समय इन तीनों का जन्म होता है और फिर तीनों की स्थिति ऐसी रहती है कि सम्यग्दर्शन रहता है, सम्यग्ज्ञान वो व्यवहार हो जाता है। बाह्य पदार्थों को विषय करते समय वो व्यवहारज्ञान है। सम्यग्ज्ञान ही है लेकिन है व्यवहार; और सम्यक्‌चारित्र में जो दशा प्रगट हुई वो बराबर रहती है।**

मुमुक्षु :- माने दर्शन और ज्ञान तो पूर्णरूप से शुद्ध हो जाते हैं पर वो चारित्र की आंशिक...।

पूज्य बाबूजी :- आंशिक शुद्धि चारित्र में प्रगट होती है, उसे स्वरूपाचरण कहते हैं। वैसे चारित्र के जो भेद हैं वो तो संयम, संयमासंयम इत्यादि हैं, यथाख्यात् तक। लेकिन ये स्वरूपाचरण चारित्र का लक्षण ही ये है कि स्वरूपे चरणं चारित्रं (प्रवचनसार गाथा 7 'तत्त्वप्रदीपिका' नामक संस्कृत टीका) स्वरूप में जो आचरण है उसका नाम चारित्र है। तो यहाँ पर वो जो चारित्र के नाम हैं उनकी प्रगटता नहीं बताई। पर स्वरूप में आचरण अवश्य होता है और उसके फलस्वरूप आनन्द का जन्म होता है। **आनन्द का जन्म होता है लेकिन आत्मा आनन्द को जानने नहीं जाता; आनन्द जानने में आ जाता है लेकिन**

बुद्धिपूर्वक वह शुद्धात्मा को, ध्रुव को, चिन्मात्र को जानता हुआ ही परिणमित होता है, जानने नहीं जाता लेकिन आनन्द जानने में आ जाता है। आनन्द उस समय परतत्त्व है। स्वतत्त्व नहीं है, स्वतत्त्व केवल शुद्धात्मा है।

ज्ञेयाकार ज्ञान में अनुभूति की पद्धति

मुमुक्षु :– प्रश्न है कि ज्ञान में जब ज्ञेय का प्रतिबिम्ब झलकता है, तब ज्ञान में वैसा ही अनुभव होता है। उस समय आत्मा की अनुभूति कैसे करनी चाहिए? कृपया कर स्पष्ट कीजिए।

पूज्य बाबूजी :– ज्ञान में ज्ञेय का प्रतिबिम्ब झलकता है – ये बात कही जाती है। ये व्यवहार है, ये निश्चय नहीं है, क्योंकि ज्ञेय का कोई प्रतिबिम्ब ज्ञान में नहीं आता। प्रतिबिम्ब अर्थात् जो प्रतिभास है... प्रतिबिम्ब माने प्रतिभास। जो प्रतिभास है वो ज्ञान ही है और वो ज्ञानाकार है। ज्ञान ने स्वयं निरपेक्ष भाव से, ज्ञेय से अत्यन्त निरपेक्ष रहकर उसकी रचना अपनी सामर्थ्य से की है, लेकिन उसका विषय! ये व्यवहार की ओर से कहा जाता है कि उसका विषय राग है; तो राग को जाना इस तरह व्यवहार से कहने में आता है। वास्तविकता ये है कि वो जो प्रतिभास है वो ज्ञान ही है। जैसे राग प्रतिबिम्बित हुआ ऐसा कहते हैं। तो राग प्रतिबिम्बित नहीं हुआ बल्कि स्वयं ज्ञान ने राग के स्वरूप को जानकर अपना आकार वैसा बनाया है। वैसा, वह नहीं।

उसने अपना आकार वैसा (राग जैसा) बनाया है और वो सम्पूर्ण प्रतिभास, वो ज्ञानाकार है और वो ज्ञान ही है। इस तरह वो ज्ञान है अर्थात् मैं ही हूँ, ज्ञायक ही हूँ। इस तरह ज्ञायक की ओर अन्तर्मुख होकर अनुभूति और शुद्धोपयोग हो जाता है। ये अन्तर्मुख होने की पद्धति है।

ज्ञान की जो स्वपरप्रकाशकता है, इसमें ये जो स्वप्रकाशन है....

वास्तव में तो स्व का ही प्रकाशन होता है अर्थात् ज्ञान ही जानने में आता है। ये भी व्यवहार है कि ज्ञान ही जानने में आता है क्योंकि इसमें भी जो अन्तर है, भेद है, उस भेद में अनुभूति नहीं होती, पर इसके फलस्वरूप भी विकल्प का जन्म होता है। इसलिए ज्ञान जानने में आता है, माने ये सबका सब ज्ञान ही है अर्थात् मैं ही हूँ। इस तरह 'मैं ही हूँ, ज्ञायक ही हूँ, चिन्मात्र ही हूँ', तो ये इस तरह अनुभूति में चला जाता है।

ज्ञान में ज्ञान ही जानने में आता है - ये तो विचारदशा है, विकल्पदशा है। विकल्प माने राग नहीं, पर ज्ञानात्मक विकल्प। ज्ञानात्मक विकल्प में, ज्ञान ही जानने में आता है, इतना हुआ। पर इससे क्या साध्य है? ज्ञायक तो हाथ में नहीं आया। इसीलिए ये सबका सब जितना भी ये प्रतिभास है अनेकाकार वाला, ये सबका सब ज्ञान ही है और ज्ञान है वो मैं ही हूँ, ज्ञायक ही हूँ, चिन्मात्र अर्थात् मैं शुद्ध ही हूँ - ऐसा जानता है तो अनुभूति हो जाती है।

मुमुक्षु :- 'ज्ञान जानने में आ रहा है' वो तो भेद अर्थात् ज्ञान का विकल्प है। परन्तु 'मैं ज्ञान हूँ' तो इसमें अनुभूति हो जाती है?

पूज्य बाबूजी :- 'ज्ञान है वो मैं ही हूँ' - ये भी विकल्प है और 'मैं ज्ञायक हूँ' बस ये अनुभूति का स्वरूप है। 'मैं ज्ञायक हूँ' - ऐसा अनुभव होता है तो अनुभूति होती है। 'ज्ञायक चिन्मात्र हूँ' - ऐसा जानकर ज्ञायक में उपयोग का स्थिर हो जाना इसका नाम अनुभूति है।

अज्ञानी चुनाव करने में चूक जाता है

ये सब पर्याय में होता है। कल अपनी बात आयी थी। सबका सब पर्याय में ही होता है। जो ज्ञायक है वो ध्रुव है और शुद्ध है। शुद्ध है और ध्रुव है इसीलिए वो उपलब्ध होता है। अगर वो ध्रुव न हो तो उपलब्ध नहीं होता, जैसे कि पर्याय क्योंकि पर्याय जो है वो तो चक्रीय है अर्थात् चक्कर खाती है। एक के बाद एक आती है और जाती है। इसीलिए श्रद्धा

उसमें मिथ्या होती है। श्रद्धा वहाँ निभती नहीं है बल्कि श्रद्धा को तीव्र आकुलता होती है। श्रद्धा में और ज्ञान में तीव्र आकुलता होती है, क्योंकि उस चक्रीय पर्याय ने सम्पूर्ण आत्मा का अहम् किया। जो पर्याय है, कोई भी पर्याय.... अपनी पर्याय हो अथवा कोई जगत की पर्याय हो, उसमें सम्पूर्ण आत्मतत्त्व का अहम् किया। वह जो अहम् है, वो मिथ्या है। मिथ्या अर्थात् ज्ञान चुनाव करने में चूक गया। द्रव्य-पर्याय में जो चुनाव (selection) करना था, तो वो आत्मा के रूप में पर्याय का चुनाव कर बैठा और पर्याय क्षणभंगुर होने से उसको आत्मा मान लेने पर, पर्याय के व्यय में आत्मा का व्यय अर्थात् आत्मा का नाश अनुभव में आता है; इसीलिए तीव्र आकुलता होती है। निगोद से लेकर, एकेन्द्रिय से लेकर सैनी पंचेन्द्रिय तक अज्ञानी की स्थिति यही है कि वो निरन्तर तीव्र आकुलता का वेदन करता है। चाहे पापभाव हो, चाहे पुण्यभाव, कोई भी हो तीव्र आकुलता का वेदन करता है। आकुलता में थोड़ा फर्क हो सकता है तीव्र-मन्द का, लेकिन उसके फल में आकुलता ही होती है।

उसे ध्रुव को चुनना था, क्योंकि वो निष्कम्प होता है और अचल होता है और जब चाहें तब उपलब्ध होता है, इसलिए उसका चुनाव करना चाहिए। लोक में भी लोग ध्रुव को ही चुनते हैं।

हम एक स्टील का गिलास लाए और एक काँच का गिलास लाए। काँच का ग्लास लाए तब से चिंता शुरू हो गई। स्टील का लाए तो निश्चिंत हैं।

इसलिए पर्याय मात्र, चाहे अपनी हो या विकारी हो, अपनी शुद्ध पर्याय हो अथवा परद्रव्य की पर्याय हो, कोई भी हो......पर्यायमात्र के प्रति बल समाप्त हो जाना चाहिए, वजन समाप्त हो जाना चाहिए, उससे विरक्ति हो जाना चाहिए। आसक्ति टूट जाना चाहिए, ममत्व टूट जाना चाहिए, अहम् टूट जाना चाहिए। अहम् टूट जाने के बाद एकमात्र जो

चिन्मात्र ज्ञायक है, वही शेष रहता है। इसलिए उपयोग उधर ढल जाता है और उसी समय श्रद्धा का भी जन्म होता है, सम्यग्दर्शन का; सम्यग्ज्ञान का भी जन्म होता है और स्वरूपाचरण चारित्र का भी जन्म होता है अर्थात् आंशिक चारित्र प्रगट होता है। इस तरह रत्नत्रय परिणति होती है। **शुद्धोपयोग है तो ज्ञान की पर्याय लेकिन उसमें रत्नत्रय साथ में होता है।**

ज्ञायक तो ज्ञायक ही रहता है, क्योंकि हम ध्रुव मान चुके न उसे इसलिए वो तो अचल और निष्कंप है। वो कभी पर्याय में नहीं आता। जैसे राग को जाना – ऐसा हम बोलें, तो राग को नहीं जाना क्योंकि ज्ञान में राग नहीं है। ज्ञान और राग सदा से ही, अनादि से ही भिन्न रहे हैं और आगे भी जब तक राग चलेगा तब तक भिन्न ही रहेंगे। राग-द्वेष-मोह सब आ गए इसमें। **राग सभी विकारों का represent (प्रतिनिधित्व) करता है, योग तक का विकार, इसमें चौदवें गुणस्थान तक का सारा का सारा विकार आ गया, इसीलिए जिसे अपन रागाकार कहते हैं, तो रागाकार माने ज्ञानाकार है।** जो राग के स्वरूप का प्रतिभास माने राग के स्वरूप का ज्ञान है। प्रतिभास माने जैसा राग का स्वरूप है – ज्ञान ठीक वैसा का वैसा जाननेरूप प्रवृत्त होता है, इसे प्रतिभास कहते हैं,क्योंकि राग का क्या आकार होगा? राग का आकार क्या है? राग का कोई आकार नहीं।

राग का यही स्वरूप है कि वो सदा पर-सम्बन्धों को लेकर ही चलता है, सदा सम्बन्ध-भाव से चलता है। ये राग है, द्वेष है, पाप है, पुण्य है, ये सब सम्बन्ध-भाव की परिणतियाँ हैं। **सम्बन्ध-भाव माने मिथ्यादर्शन हो अथवा न हो तो भी सम्बन्ध-भावरूप ही उसका स्वर होता है, राग का, द्वेष का और पाप का, पुण्य का। पाप विषयों में प्रवृत्त होता है। ये मेरे हैं, मैं चखता हूँ, इत्यादि इत्यादि विकल्प लेकर परिणत होता है।**

राग का प्रतिभास कहना भी व्यवहार है

इसकी अपन पुनः चर्चा करते हैं कि वो राग ज्ञान में नहीं आता, क्योंकि वो सदा से न्यारा ही है। वो हमेशा से ज्ञान के बाहर ही रहा है, पर Parallel चलता है, समानान्तर चलता है। तो राग जैसा प्रतिभास, राग के स्वरूप का प्रतिभास – ऐसा कहना भी व्यवहार है, क्योंकि वो असल में राग का स्वरूप नहीं है, वो तो ज्ञान ने ही राग जैसा, राग को जैसा जानकर और अपना स्वरूप तैयार किया है, वो अपनी पर्याय का स्वरूप है।

प्रतिभास स्वयं ज्ञान है, जाननभावरूप है। वो कोई दो चीज नहीं है कि ज्ञान ने ज्ञान को ही जाना; ऐसी दो चीज नहीं है। जो प्रतिभास है वो स्वयं ज्ञान है और स्वयं ही ज्ञेय है – इस तरह अभेद हुआ; तो इसका अर्थ ये हुआ कि ये ज्ञानाकार ही है, ज्ञेयाकार नहीं है और ज्ञानाकार है अर्थात् ज्ञान ही है और कुछ नहीं है। इसमें कोई विशेषता नहीं है। इस तरह विशेषता का सम्पूर्णरूप से तिरोभाव करके पर्याय में सामान्यज्ञान का आविर्भाव हुआ। सामान्यज्ञान माने पर्याय में सामान्य। हाँ! वो सामान्य नहीं, अर्थात् त्रिकाल सामान्य नहीं है!

द्रव्य का या गुण का सामान्य नहीं बल्कि पर्याय सामान्य हो गई अर्थात् ज्ञान ही हूँ। ज्ञान हूँ अर्थात् मैं तो ज्ञायक ही हूँ, क्योंकि इसने पहले ज्ञायक का निश्चय कर लिया। निर्णय में पहले ज्ञायक का निर्णय किया था कि 'मैं मात्र ज्ञायक हूँ'। इसलिए बीच में, इन विकल्पों में रुकता नहीं है। ये सब विकल्प हैं; तो विकल्पों में न रुककर ज्ञायक पर पहुँचता है। कैसे पहुँचता है? ज्ञायक तो ज्ञायक की जगह रहता है और जैसे राग का प्रतिभास हुआ था इसी तरह ज्ञान ज्ञायकाकार होता है। ज्ञायक ज्ञायक की ही जगह रहता है।

मुमुक्षु :– जैसे राग राग की ही जगह रहता है।

पूज्य बाबूजी :- राग राग की जगह रहता है। इस तरह ज्ञायक ज्ञायक की जगह रहता है और ज्ञान ज्ञायक जैसे आकार का अपने में निर्माण करता है, ज्ञायक जैसे आकार की संरचना करता है। पर्याय 'मैं ज्ञायक का अनुभव कर रही हूँ' - इस तरह भेद में प्रवृत्त नहीं होती। क्योंकि अगर भेद में प्रवृत्त होगी (द्रव्य और पर्याय ये दो भेद हैं और ये दो भेद न्यारे-न्यारे हैं, विरुद्ध स्वभाववाले हैं) अर्थात् 'मैं ज्ञायक को जानती हूँ' - इस तरह भेद में ही रहेगी एक पदार्थ भेदाभेद स्वरूप है ये तो भेद हुआ और अभेदता नहीं होने के कारण द्रव्य और पर्याय ये दो द्रव्य हो जायेंगे; एक द्रव्य नहीं रहेगा। इसलिए उसकी भेद परिणति भी होना चाहिए। (जिससे द्रव्य और पर्याय सर्वथा भिन्न न रहें।)

वह अभेद परिणति उपयोग की पर्याय है, ज्ञान की पर्याय है, भावश्रुतज्ञान की पर्याय है। वो अपने भीतर ज्ञायक जैसी रचना, उसके स्वरूप की रचना करती है....जैसा निश्चय किया था पहले विकल्पदशा में, वैसी की वैसी रचना अपने भीतर करती है और फिर अभेद होकर बोलती है 'मैं ज्ञायक चिन्मात्र हूँ।'

भेद और अभेद में अनुभूति की प्रक्रिया

वस्तु भेद-अभेद स्वरूप है, लेकिन केवल भेद में ही रहेंगे, तो एकान्त होगा और दो द्रव्य हो जायेंगे। एक ही पदार्थ के अंग द्रव्य और पर्याय हैं, लेकिन अगर एकान्त भेद में रहेंगे तो दो द्रव्य हो जायेंगे; इसलिए अभेद परिणति भी होना चाहिए कि यहाँ आकर ऐसी अभेदता हुई - ये अभेदता की पराकाष्ठा है। इससे आगे अभेदता का कोई रूप नहीं है कि 'मैं ज्ञायक चिन्मात्र हूँ।'

ये अभेदता की पराकाष्ठा है। पर्याय को ये अनुभूति हो गई। अपने में रचना की तो वही ज्ञाता और वही ज्ञेय और वही ज्ञान - तीनों की अभेद परिणति होकर अनुभूति हो जाती है। ये अनुभूति ही है कि 'मैं ज्ञायक हूँ।'

'मैं ज्ञायक हूँ' – ये अनुभूति ही है, क्योंकि अनुभव पर्याय में होता है। द्रव्य में नहीं होता है, ध्रुव में अनुभव नहीं होता। अब जब ध्रुव में अनुभव नहीं होता तो फिर अनुभव करने वाला, जानने वाला कोई चाहिए न! वरना ध्रुव के रहने से फायदा क्या हुआ? ध्रुव के अस्तित्व से लाभ क्या हुआ? इसलिए कुदरत की ही है ये एक रचना। कुदरत का ही स्वरूप ऐसा है कि जो ध्रुव है वो यदि अनबोला है, और जो अनुभूति की पर्याय है, ये बोलने वाली है।

ये दोनों का संग साथ में किया। साथ में दोनों का संघ है, ऐसी ये कुदरत ही है प्रकृति की। हर एक अचेतन पदार्थों में भी यही व्यवस्था है कि द्रव्य तो ध्रुव रहता है और जो पर्याय है वो उसकी परिचायिका होती है, परिचय देने वाली।

मुमुक्षु :– माने स्व–पर का जो प्रतिभास होता है, वही ज्ञेयाकार है; और ज्ञेयाकार है वह जाननभावरूप है, तो ज्ञानाकार है?

पूज्य बाबूजी :– वो ज्ञेयाकार है माने ये व्यवहार कथन है और वो ज्ञानाकार है ये उसकी अपेक्षा निश्चय कथन है।

मुमुक्षु :– उसकी अपेक्षा माने क्या?

पूज्य बाबूजी :– उसकी अपेक्षा माने ज्ञेयाकार की अपेक्षा ये निश्चय कथन है। फिर ये निश्चय भी व्यवहार हो गया कि ये तो ज्ञानाकार ही है क्योंकि ये विकल्प है, इसलिए ये व्यवहार हो गया और ये भी मिटकर मैं तो ज्ञान ही हूँ – ये निश्चय हो गया और फिर ज्ञान हूँ – ये भी व्यवहार। तो 'मैं तो ज्ञायक चिन्मात्र ही हूँ' – ये निश्चय हुआ और अनुभूति प्रगट हो गई। ये अन्तर्मुख होने की एक शृंखला है, एक प्रक्रिया है।

ज्ञेयाकार कहने का व्यवहार ज्ञेयों की सिद्धि करता है

मुमुक्षु :– जो पहले निश्चय था वही व्यवहार बनकर रह जाता है?

पूज्य बाबूजी :– वही व्यवहार बनकर रहता है और ज्ञान में जिसे

हम प्रतिभास कहते हैं ज्ञेय जैसा प्रतिभास, तो उस प्रतिभास को ज्ञेय कहना – सिर्फ ये बताने के लिए है कि वर्तमान में उसका विषय क्या है? व्यवहार के बिना वो समझ में नहीं आएगा न! क्योंकि निश्चय का ही अगर हम उत्तर देंगे तो वो एक ही उत्तर होगा। कुछ नहीं, कोई जानने में नहीं आता। बस! ज्ञान ही जानने में आता है। तो इससे वो उत्तर नहीं होगा, क्योंकि ज्ञान ही अगर जानने में आता है, तो ज्ञान में ये विभिन्न प्रकार के चित्र क्यों बनते हैं? – ये प्रश्न खड़ा होता है। **ज्ञान ही जानने में आता है, तो ज्ञान तो साफ होना चाहिए एक बिल्कुल सफेद दीवार की तरह। उसमें ये जो चित्र बनते हैं ये क्यों बनते हैं? ऐसा प्रश्न पैदा होता है। तब उसका उत्तर व्यवहार नय देता है कि ये चित्र इसलिए बनते हैं कि ऐसे के ऐसे पदार्थ बाहर हैं। ये तो ज्ञान के चित्र हैं और ये ज्ञान ने जो चित्र बनाये, ऐसे के ऐसे पदार्थ बाहर जगत में हैं।** जीव–पुद्गल–धर्म–अधर्म–आकाश और काल, बाहर ये पदार्थ हैं; और ज्ञान का जो चितेरा है, वो अपने भीतर ये चित्र स्वत: बनाता है।

आहाहा! बहुत सुंदर! ज्ञान का जो चितेरा है वो अपने भीतर, खुद का खुद ज्ञान चित्र बना देता है।

अपने भीतर बिना किसी की सहायता के अत्यन्त निरपेक्ष भाव से स्वयं ही चित्र बनाता है। ये अत्यन्त निरपेक्ष ज्ञप्ति है।

उस प्रतिभास को हम ज्ञेय का नाम देते हैं और ज्ञेय का नाम इसीलिए देते हैं क्योंकि पदार्थ अनन्त हैं। तो ये जो प्रतिभास है, ये कौन से पदार्थ जैसा है? – ऐसा जानने के लिए उस प्रतिभास को हम ज्ञेय का नाम देते हैं तो इससे पता चलता है कि ज्ञान ने ये चित्र उस पदार्थ जैसा बनाया है, क्योंकि पदार्थ अनन्त हैं न!

हाँ ऐसा ही है! वहाँ वो पदार्थ तो है ही नहीं। पदार्थ का चित्र कहना व्यवहार कथन है – इसको परप्रकाशकता कहते हैं। इसका नाम पर–

प्रकाशकता है, लेकिन वास्तव में ये स्वप्रकाशकता ही है। स्वप्रकाशकता की पर्याय को ही परप्रकाशकता कहना, इसका नाम व्यवहार है।

ज्ञान का प्रतिभास माने ज्ञानाकर – जैसा ज्ञेय का आकार है, वैसा ज्ञानाकर हुआ उसका नाम प्रतिभास! उस प्रतिभास को ज्ञेय का नाम देना, इसका नाम व्यवहार – व्यवहारनय। वैसा हुआ नहीं है कुछ! वो प्रतिभास ज्ञान ही है, वो ज्ञेय नहीं बना। लेकिन अगर हम उसका नाम ज्ञेय नहीं रखते तो ये पता नहीं लगता कि ज्ञान का विषय क्या है।

ये भी तो व्यवहार कथन है, लेकिन कहने के लिए ज्ञान का विषय कहना पड़ेगा, लेकिन क्योंकि ज्ञान का कोई विषय नहीं है। ज्ञान तो ज्ञान है। उसके साथ किसी चीज को लगाना इसी का नाम व्यवहार है। ज्ञान का विषय ऐसा हमने बोला, लेकिन ज्ञान तो निरपेक्ष है। तो उसका विषय कौन हो गया? कोई विषय नहीं। लेकिन हमने ये बताने के लिए कि ज्ञान ने जो चित्र बनाया है वो निरर्थक नहीं बल्कि वो सार्थक है क्योंकि वैसा ज्ञेय जगत में विद्यमान है।

मुमुक्षु :– तो ज्ञान का चित्र जाननभावरूप है?

पूज्य बाबूजी :– जाननभावरूप है सारा।

मुमुक्षु :– और ज्ञेयों के चित्र तो अपने आकारों के मुताबिक हैं।

पूज्य बाबूजी :– वो तो जड़-चेतन जैसा भी है, जैसा द्रव्य-गुण-पर्याय वाला है, वैसा का वैसा द्रव्य-गुण-पर्याय इधर ज्ञान में भासित होता है। वह (ज्ञेय) नहीं, वैसा। पर हम उसको 'वह' कहते हैं, सिर्फ ये बताने के लिए कि ये चित्र किसका है? **क्योंकि अगर हम सिर्फ निश्चय से उत्तर देते रहेंगे, तो ज्ञान ही जानने में आया है और कुछ नहीं है। कोई लोकालोक जानने में नहीं आया – ये उत्तर होगा और उससे फिर सर्वज्ञता का और सबका परिहार हो जायेगा। द्वादशांग का परिहार हो जायेगा। कुछ नहीं रहेंगे।**

इसलिए व्यवहार ये जवाब देता है कि जितने भी ज्ञेय जगत में हैं, ठीक वैसा का वैसा आकार केवलज्ञान बना लेता है। केवलज्ञान की एक ही पर्याय में अनन्तानन्त प्रतिभास हैं, वो सबके सब ज्ञान हैं और वो ज्ञान अन्तर्मुख होकर निरन्तर शुद्धात्मा का वेदन करता है। **वही अनेकाकार प्रतिभासात्मक ज्ञान, एकाकार होकर शुद्धात्मा का अनुभव करता है। एकाकार होकर माने, वो ज्ञान ही है। अनेकाकार होकर भी वो एकाकार ही है अर्थात् ज्ञान ही है। इस तरह शुद्धात्मा का निरन्तर अनुभव भगवान सिद्ध किया करते हैं।**

मुमुक्षु :- हम तो ये सोच रहे थे कि जैसे ज्ञेय हैं, उस ही प्रकार की लकीरें ज्ञान में बनती होंगी?

पूज्य बाबूजी :- वो बात व्यंजन-पर्याय की अपेक्षा से है।

मुमुक्षु :- यहाँ तो जाननभाव की अपेक्षा से बात है?

पूज्य बाबूजी :- सब पर्यायों की अपेक्षा से, द्रव्य-गुण-पर्याय सबकी अपेक्षा और पर्याय में लें तो अर्थ-पर्याय और व्यंजन-पर्याय, सब आती हैं बस! उसी को अर्थ का प्रतिभास कहते हैं, अर्थ-विकल्प कहते हैं। अर्थ-विकल्प माने अर्थ का प्रतिभास, पदार्थ का प्रतिभास। पदार्थ का प्रतिभास माने ज्ञान का प्रतिभास अर्थात् ज्ञानाकार। ज्ञानाकर माने ज्ञान और ज्ञान माने ज्ञायक।

मुमुक्षु :- पदार्थ का प्रतिभास माने ज्ञान का प्रतिभास?

पूज्य बाबूजी :- माने ज्ञान का प्रतिभास। ज्ञान का बना हुआ आकार। ज्ञान का प्रतिभास माने ज्ञान का बना हुआ आकार, ऐसा समझो! लेकिन अब ये निश्चय करने के बाद जब भी ये स्वपरप्रकाशक का प्रकरण आता है, तो उत्तर व्यवहार की ओर से ही दिया जाता है क्योंकि उसी से सारी अन्य सिद्धि होती है। निश्चय के जवाब से नहीं होती क्योंकि 'ज्ञान ही जानने में आता है' या 'ज्ञायक ही जानने में आता है'

तो उससे सिद्धि नहीं होती। इसलिए व्यवहार उसका जवाब देता है। असल में हैं तो वो सब ज्ञान के ही आकार, ये निश्चय है, लेकिन जैसे ज्ञान के आकार ज्ञान ने बनाये हैं स्वयं स्वतः और निरपेक्ष भाव से; जगत में वैसे के वैसे द्रव्य-गुण-पर्यायात्मक ज्ञेय विद्यमान हैं।

ज्ञान के प्रतिभास में स्वपरप्रकाशक शक्ति

शक्ति जो कहते हैं स्वपरप्रकाशक शक्ति, वो स्वपरप्रकाशक शक्ति इसमें आ गई। ज्ञान वास्तव में तो स्वप्रकाशक है, वास्तव में स्वप्रकाशक है। लेकिन ये जो व्यवहार हमने इसके साथ लगाया है अर्थात् उस ज्ञान के प्रतिभास को...... शक्ति नाम से ही पुकारा गया है। है वो एक ही अखण्ड पर्याय।

मुमुक्षु :- व्यवहार (पर्याय) को शक्ति के नाम से पुकारा गया है।

पूज्य बाबूजी :- पुकारा गया है क्योंकि है वो एक ही पर्याय है।

असल में क्या है कि वो जितने भी ज्ञेय के आकार हैं, ठीक वैसे ज्ञानाकर माने प्रतिभासरूप बनकर ज्ञान ने रचना की है। तो ज्ञान ने जो रचना की तो उनका अगर हम व्यवहार से कथन करें.... तो जैसी ये रचना है, ठीक वैसा का वैसा विश्व है। तो इस ज्ञान की पर्याय को देखो अथवा विश्व को देखो, एक ही बात है। और जैसा विश्व है, वैसी की वैसी ज्ञान की पर्याय है। जैसी ज्ञान की पर्याय है ठीक वैसा का वैसा विश्व है। तो ज्ञान की पर्याय को देखो तो सारा विश्व नजर आ गया इसका नाम परप्रकाशकता है - केवलज्ञान की पर्याय में ऐसा है।

महलों में ऐसे काँच होते हैं न! जहाँ पर रानियाँ बाहर नहीं निकलती हैं, तो वो ऐसे काँच होते हैं जिनमें सारा शहर दिखाई देता है। छोटा सा, छोटा सा काँच होता है कैमरे जैसा, उसमें सारा शहर दिखाई देता है। वो शहर तो शहर की जगह ही रहता है। वो कैमरे में जो दिखता है वो सारा काँच का ही परिणमन है।

मुमुक्षु :– पहले तो ऐसा लगता था बाबूजी ! कि जैसा विश्व है, उसी प्रकार का ज्ञान है। अब आप ऐसा कहते हैं कि जैसा ज्ञान का स्वरूप है, ठीक उसी की भाँति विश्व का स्वरूप है ?

पूज्य बाबूजी :– बस ! दोनों तरफ से कह सकते हैं। कोई दिक्कत नहीं है ! जैसा ज्ञान की एक पर्याय का स्वरूप है, केवलज्ञान की एक पर्याय का, ठीक वैसा का वैसा विश्व है अनादि–अनन्त। अनादि–अनन्त माने अनादि की जो पर्यायें हैं, जो वर्तमान में विद्यमान नहीं हैं और भविष्य की जो पर्यायें हैं जो वर्तमान में विद्यमान नहीं हैं – ऐसी तीनों काल की पर्याय सहित द्रव्य–गुण सहित सारा का सारा केवलज्ञान की एक पर्याय में प्रतिभासित होता है और वो प्रतिभास केवलज्ञान ही है, ज्ञान ही है। 'केवल' शब्द शुद्धात्मा के लिए है। 'केवल' शब्द लोकालोक को जानने के लिए नहीं है। **'केवल' माने जो सिर्फ आत्मा में क्रीड़ा करते हैं, उसको केवल कहते हैं। सदा ही जो आत्मा में क्रीड़ा करते हैं उसका नाम केवल। केवते हैं – ऐसा आगम का वाक्य है। केवते हैं माने क्रीड़ा करते हैं।**

मुमुक्षु :– जो हम समझ रहे हैं उससे आप उल्टा ही बता रहे हैं ?

पूज्य बाबूजी :– हाँ ! उल्टा माने हम जैसा समझ रहे हैं अगर वैसा होता तो अब तक हम यहाँ नहीं होते। अब तक सिद्धों में शामिल होते। जैसा हम समझते हैं वैसा ही होता तो यहाँ कैसे होते हम ? हम तो कभी के सिद्धों में शामिल होते। लेकिन जैसा हम समझते हैं, उससे ठीक उल्टा ही है बिल्कुल। एकदम about turn (पूर्ण परिवर्तन) है।

मुमुक्षु :– क्योंकि जब केवलज्ञान की बात होती हैं तो हम तो समझते हैं कि लोकालोक को जानता है और आप ये कह रहे हैं कि ये तो केवल, ज्ञान को ही जानते हैं ?

पूज्य बाबूजी :– बस ! अब कहने में ये निश्चय हो जाने के बाद कि

सम्पूर्णरूप से सबका सब ज्ञानाकार ही है, जितना भी प्रतिभास है – ये जानने के बाद और ज्ञायक की अनुभूति के बाद, अब जो भी प्रयोग होगा वो सब व्यवहार का ही होगा, आगम में भी और अपनी बातचीत में भी। हम कहेंगे लोकलोक को जानता है।

दूसरी बात ये कि जैसे ज्ञान ही जानने में आता है, तो ऐसा कहने पर जो अन्यमति हैं वे प्रहार करेंगे कि तुम्हारा सारा आगम झूठा, तुम्हारा सर्वज्ञ झूठा क्योंकि सिर्फ एक आत्मा जानने में आता है और तो कुछ जानने में नहीं आता। तब हमारा जवाब ये होगा कि वो व्यवहार से नहीं पर निश्चय से लोकालोक को जानते हैं। ये तो न्याय के प्रकरण हैं। जो दर्शन है वो सब न्यायप्रधान होते हैं। तो उनमें जो युक्तियाँ है, वो इसी तरह चलती हैं कि जैसे कोई एक-दूसरे पर पत्थर फैंक रहा हो। **इसलिए हमारा उत्तर ये होगा कि निश्चय से भगवान सर्वज्ञ हैं और तीनलोक-तीनकाल को निश्चय से जानते हैं और साथ में आत्मा को भी जानते हैं।**

पूज्य बाबूजी :- आज महेन्द्रजी चुप कैसे हो गए? अनुभूति हो गई?

मुमुक्षु :- नहीं! इस बात को पीना है।

पूज्य बाबूजी :- हाँ! है तो पीने की बात, कहने की नहीं है। जो बोला जाता है वो सत्य नहीं है, इसलिए अनुभूति ही सत्य है।

एक दार्शनिक का वाक्य है ये – It is not truth which is spoken. (जो कहा जाता है वह सत्य नहीं है)। सत्य बोला नहीं जाता है, सत्य की अनुभूति होती है।

मुमुक्षु :- कल अन्त में एक प्रश्न आया था, बेन का। वो बेटी आई नहीं है इसलिए इन्तजार करते हैं। प्रश्न था कि सम्यग्दर्शन के बाद ही ज्ञान को सम्यग्ज्ञान कहते हैं। उसके एक समय पहले भी उस ज्ञान को मिथ्याज्ञान कहते हैं – ऐसा क्यों है?

पूज्य बाबूजी :- ऐसा इसलिए है कि ज्ञान के जो विषय हैं वो अनेक हैं और श्रद्धा का जो विषय है वो केवल एक है। इसलिए श्रद्धा जब अपने विषय का वरण कर लेती है तब ज्ञान सम्यक् कहलाता है क्योंकि ज्ञान के विषय अनेक हैं। जिस समय ज्ञान शुद्धात्मा को देखता है, जानता है, अनुभव करता है, शुद्धोपयोग में होता है उस समय भी ज्ञान को ये स्वीकार है कि अभी राग बाकी है। लेकिन श्रद्धा को ये स्वीकार नहीं है। श्रद्धा को केवल एक ज्ञायक ही स्वीकार है, चिन्मात्र स्वीकार है। इसलिए चिन्मात्र ज्ञायक का वरण हो जाने पर ज्ञान तुरन्त सम्यक् हो जाता है। ज्ञान के दो पहलू हैं और श्रद्धा का एक पहलू है। तब ज्ञान सच्चा हुआ न!

जैसे स्वयंवर होता है। तो स्वयंवर में एक राजकन्या है और उसकी कोई प्रतिज्ञा होती है, तो वो सब राजकुमार आते हैं। अब वो सबको देखती है, लेकिन अभी वरण नहीं हुआ और वरण होते ही वो सम्यक् हो गया माने वरण होते ही स्व-पर का विभाग हो गया उसमें। उसके पहले मिथ्या होता है क्योंकि वो तो स्व ही ढूँढ़ रही है न अभी। इसलिए स्व-पर का विभाग नहीं हुआ अभी; और ज्ञायक को जानते ही ज्ञान में स्व-पर का विभाग उत्पन्न होता है। 'ये मैं हूँ' इसका अर्थ ये हुआ कि अन्य सब जितने भाव हैं, इससे अनमेल जितने भाव हैं वे सारे के सारे पर हैं। ये विभाग उसी समय उत्पन्न होता है। पहले विभाग विकल्पात्मक था, पहले विकल्पों में था। लेकिन वास्तविक विभाग अब हुआ कि जब स्वसत्ता को जाना तब परसत्ता वास्तव में जानने में आई कि ये पर है। इसीलिए सम्यग्दर्शन को पहले लिया है। स्वयंवर हुआ, तब स्वयं का वरण हुआ। उसको तब स्व-पर का विभाग पैदा हुआ। तब ज्ञान उसी समय सम्यक् हुआ; और उसी समय स्व-पर का विभाग हुआ, उसी समय निश्चय-व्यवहार का जन्म हुआ। शेष इससे पहले जो निश्चय-व्यवहार था वो सविकल्प अर्थात् विकल्पात्मक था। जो भी निश्चय का

चिन्तन था वो अथवा निर्णय का जो समय था, वो सारा का सारा विकल्पात्मक था। ज्ञान के विकल्प! राग के विकल्प नहीं – उन राग के विकल्पों से कुछ काम नहीं होता। **भले ही वो ज्ञान के स्वर में बोलते हों तो भी वो मूर्ख हैं, ज्ञानशून्य हैं, इसलिए उनसे काम नहीं होता। वो तो हेयतत्त्व हैं, ज्ञान के विकल्प भी हेयतत्त्व हैं।**

भाई! उपादेय केवल एक है न! उपादेय केवल शुद्धात्मा है। बाकी अन्य सब हेय हैं। अब इसमें कौन बाकी बचा? विश्व में केवल और केवल शुद्धात्मा ही उपादेय है। अन्य सारा अपना पर्याय समुदाय, अपना गुण समुदाय और अन्य सारा जगत – ये सब हेयतत्त्व है। गुण समुदाय में गुणों का विकल्प, गुण का भिन्न-भिन्न विचार – ये सब हेय हैं और सारा जगत हेय है। सारे जगत के द्रव्य-गुण-पर्याय हेय-तत्त्व हैं।

मुमुक्षु :– गुण समुदाय माने भिन्न भिन्न गुणों का विकल्प?

पूज्य बाबूजी :– विचार में भिन्न-भिन्न विकल्प और गुण समुदायरूप से देखें तो वो शुद्धात्मा के साथ गया, क्योंकि गुणों का जो स्वरूप है वो शुद्धात्मा जैसा है। पर्याय का स्वरूप परिणमन है और गुण और द्रव्य का स्वरूप अपरिणामी है।

द्रव्य अपरिणामी है, निश्चितरूप में अपरिणामी है। अकर्ता है और अपरिणामी है। इसीलिए वास्तव में पर का कर्ता तो है ही नहीं, पर को जानने वाला भी नहीं है।

मुमुक्षु :– पर का कर्ता तो नहीं, पर को जानने वाला भी नहीं?

पूज्य बाबूजी :– पर को जानने वाला भी नहीं, इससे अन्तर्मुख होता है। स्वपरप्रकाशक ही है ऐसा माने तो; स्वपरप्रकाशक माने तो पर-प्रकाशकता भी ज्ञान का स्वभाव हुआ न? स्वभाव हुआ तो वो पर की ओर ज्ञान गए बिना नहीं रहेगा और कभी भी अन्तर्मुख नहीं हो सकेगा।

उसकी तो सदा से आदत है न! इसलिए परप्रकाशकता मानी तो वो ज्ञान बहिर्मुख होगा ही होगा और अन्तर्मुख होकर ज्ञायक का वरण नहीं करेगा। उसमें ज्ञान बहिर्मुख होगा ही होगा। इसलिए वास्तव में निश्चय से स्वप्रकाशक ही है। वही है, प्रक्रिया देखें तो वही है क्योंकि ज्ञान कहीं जाता नहीं और ज्ञान में कोई आता नहीं और व्यवहार में कहते हैं कि ज्ञान सर्वगत है और सर्व पदार्थ आत्मगत हैं – इसका नाम व्यवहार है।

मुमुक्षु :– तो निश्चय क्या है?

अभेद अनुभूति की पराकाष्ठा

पूज्य बाबूजी :– निश्चय माने ज्ञान ज्ञानगत है, ज्ञायकगत है। ज्ञान तो ज्ञायकगत है। 'मैं ज्ञायक हूँ' – बस इसका नाम है ज्ञान! जहाँ ज्ञान पर्याय ने स्वयं अपने को बिल्कुल तिरोभूत कर दिया हो, बल्कि निकाल दिया हो, बल्कि अपना लोप जैसा कर दिया हो....वास्तव में लोप नहीं हुआ है। वो है पर्याय! पर्याय में सारा काम हो रहा है, पर भीतर से पर्याय को ऐसा उत्साह है कि मुझे ज्ञायक के साथ अभेद होना है। 'मैं ज्ञायक का अनुभव करती हूँ' – यहाँ अभेदता नहीं है, यहाँ अभी अन्तर पड़ा है। ये अन्तर है यहाँ। इसलिए अभेदता की पराकाष्ठा ये है कि मैं ही ज्ञायक हूँ, ये अभेदता की पराकाष्ठा है। बोलती पर्याय है लेकिन पर्याय स्वयं बाहर निकल गई और उस पर्याय में ज्ञायक पसर गया; तो पर्याय ज्ञायक बन गई। ज्ञायक बन गई माने ज्ञायक का स्वर भरने लगी।

पहले पर्याय अपने को आत्मा मानती थी वो मिथ्यादर्शन था, मिथ्याज्ञान था, मिथ्याचारित्र था। अब वो ज्ञायक को स्व मान रही है, स्व जान रही है और आचरण भी कर रही है। इस तरह 'मैं ज्ञायक हूँ' बस यही अनुभूति है और अनुभूति में कुछ नहीं टटोलना है। वो जो ज्ञायकाकार है वो स्वयं अनुभूति है। वो ज्ञायकाकर है वो स्वयं ज्ञान है, ज्ञान की पर्याय

है। ज्ञान की पर्याय स्वयं ज्ञायकाकार है। ज्ञायकाकार है तो ज्ञायक पसर गया उसमें, क्योंकि वो बोल रही है कि मैं ज्ञायक हूँ, मैं ही ज्ञायक हूँ। अथवा अनुभव में तो दशा दूसरी होती है, ये तो अपने बोलने की बात है; क्योंकि शब्दों में इससे आगे ताकत नहीं है कि 'मैं चिन्मात्र हूँ, मैं ज्ञायक हूँ'। इससे आगे ताकत नहीं है कि वो अनुभव करके बता दे, ऐसी शब्दों में ताकत नहीं है; और अनुभव के पास शब्द नहीं हैं। इसलिए शब्दों से ही समझाया जाता है तो समझ में आ जाता है। ज्ञान में इतनी ताकत है कि जो शब्द होते हैं, उनसे उसको भाव समझ में आ जाता है; तो वो पर्याय अभेद हो जाती है। 'मैं ज्ञायक हूँ' इसी का नाम अभेदता है। अब अभेदता का और दूसरा चरण कौनसा होगा ? कौनसा विकल्प और कौनसा अवकाश है अभेदता का ? ये अभेदता की पराकाष्ठा हो गई।

'मैं ज्ञायक हूँ, बस'। क्योंकि ज्ञान और ज्ञेय, श्रद्धा और श्रद्धेय – वो एक ही पदार्थ में होने चाहिए, क्योंकि दूसरे पदार्थों से ज्ञान और आत्मा का अत्यन्त विभाग है। दूसरे पदार्थों से ज्ञान और आत्मा अत्यन्त पर हैं और आत्मा से दूसरे पदार्थ अत्यन्त पर हैं। इसलिए श्रद्धा और ज्ञान हैं बस! तो श्रद्धा का श्रद्धेय और ज्ञान का ज्ञेय, वो स्वयं उस पदार्थ में ही होना चाहिए। उस पदार्थ में ही ये व्यवस्था है कि अगर जो ज्ञेय है – ध्रुव ज्ञायक, वो अगर नहीं बोलता है वो अगर नहीं चलता है, वो परिणमन नहीं करता है तो उसके साथ में प्रकृति ने परिणमन को रखा और परिणमन यह बोलता है कि मैं ज्ञायक हूँ – ये है अभेदता की पराकाष्ठा।

यदि हम केवल भेद में रहेंगे कि 'मैं ज्ञायक को जानती हूँ' तो इस तरह जो भेद चलेगा, तो उस भेद से अभेदता नहीं होने पर द्रव्य और पर्याय ये दो द्रव्य हो जायेंगे क्योंकि इसमें अत्यन्त भेद हो जायेगा ये एकान्त हो जायेगा! ये जो भेद है न, तो वो एकान्त हो जायेगा और

एकान्त होने के कारण जो द्रव्य और पर्याय हैं, वो दो एक ही पदार्थ के अवयव नहीं रहकर वो परद्रव्य हो जायेंगे। इसलिए अभेदता का भी कोई अवसर होना चाहिए, तो अभेदता, अनुभूति और शुद्धोपयोग का अवसर है। 'मैं ज्ञायक हूँ, चिन्मात्र हूँ।'

अगर हम केवल भेद में परिणमन करेंगे तो वो दो द्रव्य बन जायेंगे, क्योंकि पदार्थ को अकेला भेदरूप माना न! सर्वथा भेदरूप है तो वो अनेक द्रव्य हो गए। एक पदार्थ में जो द्रव्य-गुण-पर्याय हैं उनकी अभेदता भी है और उनमें जो स्वरूप-भेद है वो भी स्वीकार है, दोनों स्वीकार हैं। उनमें जो स्वरूप-भेद है, वो भी स्वीकार है और उनकी अभेदता भी स्वीकार है क्योंकि ये एक ही पदार्थ के सदस्य हैं, द्रव्य और पर्याय ये मूलरूप से दो सदस्य अपन ने बनाये तो जो द्रव्य है वो यदि स्थिर है, ध्रुव है, स्थायी है, स्थायीभाव है, तो पर्याय है वो संचारी भाव है।

समयसार को नाटक कहा है न! तो ये नाटक के ही अवयव हैं स्थायीभाव, संचारीभाव, विभाव और अनुभाव। नाटक में भावों के चार अंग होते हैं। इस तरह यहाँ भी नाटक कहा समयसार को....तो स्थायीभाव तो ध्रुव है - शुद्ध ज्ञायक; और संचारीभाव है अनुभूति अर्थात् शुद्धोपयोग - ये संचारीभाव है उसे ध्यान भी कहेंगे, क्योंकि वो अन्तर्मुहूर्त तो होता ही है। उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त नहीं पर मध्यम अन्तर्मुहूर्त होता है और आत्मा के सन्मुख होता है।

मुमुक्षु :- उनमें भिन्नता है लेकिन अतद्भाव से है न?

पूज्य बाबूजी :- स्वरूप न्यारे-न्यारे हैं न! इसलिए अतद्भाव है। पृथक्ता नहीं है। एक ही पदार्थ है इसलिए उसका नाम अतद्भाव है। जो द्रव्य है वो गुण नहीं है। जो गुण है वो पर्याय नहीं है। जो पर्याय है वो गुण नहीं है, वो द्रव्य नहीं है। जो गुण है वो द्रव्य नहीं है, पर्याय नहीं है - इस तरह अतद्भाविक भेद है। तीनों का स्वरूप न्यारा-न्यारा है।

मुमुक्षु :- गुण-गुणी में भी अतद्भाव हो सकता है? एक गुण का दूसरे गुण में अतद्भाव है?

पूज्य बाबूजी :- एक गुण दूसरे गुणरूप नहीं होता, यह भी अतद्भाव है।

मुमुक्षु :- बाबूजी! इसमें जो एकरूपता है वो ध्रुवपना है?

पूज्य बाबूजी :- एकरूपता है, वो ध्रुवपना है। जो अन्वय है उसका नाम द्रव्य, उसका नाम ध्रुव और वो एकरूपता है क्योंकि वो एकरूप रहता है। जो परिणाम है उसमें अनेकरूपता होती है। अनेकरूपता माने शुद्ध पर्याय हो तो भी अनेकरूपता है न! एक के बाद एक, एक के बाद एक, एक के बाद एक, वो अनेकात्मक है और जो ध्रुव है वो एकात्मक है, एक है; एक को शुद्ध कहते हैं।

मुमुक्षु :- बाबूजी! इसमें तीन बात आ गईं कि निर्विषय भी हो गया, अतद्भाव भी हो गया और एकरूप भाव भी हो गया।

पूज्य बाबूजी :- एकरूप भी हो गया, सब हो गया और लाइए न, प्रश्न लाइए। इसी में कोई बात रह गई हो तो!

मुमुक्षु :- श्रद्धा के विषय में गुण शामिल है या नहीं?

पूज्य बाबूजी :- श्रद्धा के विषय में गुण शामिल हैं। जो प्रयोग-पद्धति होती है तो उसमें गुण शामिल होते हैं। जो विचार-पद्धति होती है तो उसमें न्यारा-न्यारा विचार होता है। द्रव्य का विचार गुणों के माध्यम से ही होता है, क्योंकि द्रव्य एक सत्ता है और जो गुण हैं वो उसकी संपत्ति है। इसलिए आत्मा का जो विचार है वो गुणों के माध्यम से ही होता है। लेकिन जो अनुभव की प्रयोग-पद्धति है उसमें अनन्त गुणात्मक एक द्रव्य; अनन्त गुणात्मक एक - ऐसा ध्रौव्य उसकी अनुभूति होती है।

अनुभूति ध्रुव की ही हो सकती है। अन्य की जो अनुभूति है वो

मिथ्या होती है, चाहे एक गुण की हो चाहे एक पर्याय की हो, किसी की भी हो।

मुमुक्षु :– निर्विकल्प अनुभव के समय ज्ञान क्या काम करता है?

पूज्य बाबूजी :– ज्ञान जानता है न! आत्मा का जैसा स्वरूप निश्चय किया था, ठीक वैसा का वैसा जानता है।

ज्ञान की सविकल्पता

मुमुक्षु :– ज्ञान तो सविकल्प कहा जाता है?

पूज्य बाबूजी :– सविकल्प कहा है दर्शन की अपेक्षा से। जो दर्शन नाम का गुण है न उसकी पर्याय की अपेक्षा से ज्ञान को सविकल्प कहा है क्योंकि दर्शन की पर्याय निर्विकल्प होती है – निराकार, और ज्ञान साकार होता है; दर्शन निर्विकल्प और ज्ञान सविकल्प। सविकल्प माने ज्ञान जानता है तो पदार्थ को भेदों सहित ही जानता है और जो दर्शन है उसका विषय केवल सत् है, केवल सत्, तीनों लोक में। तीनों लोक में दर्शन किसी को भी विषय करता है तो वो सत् है केवल। उस सत् का निश्चय होने के बाद फिर ज्ञान प्रवेश करता है। छद्मस्थ दशा में पहले दर्शन होता है और फिर ज्ञान होता है और केवलज्ञान में दर्शन और ज्ञान दोनों साथ में होते हैं, इसलिए केवलज्ञान भी सविकल्प है पर वो रागात्मक नहीं है। सविकल्प माने जानता है तो पदार्थ को भेद सहित ही जानता है कि ये आत्मा है, ये पुद्गल है, ये धर्म है, ये अधर्म है, ये आकाश है, ये काल है। इस तरह उनके स्वरूप सहित जानता है, इसलिए उसको सविकल्प कहा। 'विकल्प माने भेद।'

मुमुक्षु :– ज्ञान में भेद सहित जानना होता है?

पूज्य बाबूजी :– भेद सहित जानना होता है। दर्शन में भेद नहीं है। दर्शन किसी भी पदार्थ को विषय करेगा तो सत्, बस केवल इतना।

मुमुक्षु :– दर्शन माने?

पूज्य बाबूजी :- सत् केवल सत्। उसको महासत्ता भी कहते हैं कि सम्पूर्ण जो विश्व है ये, तो केवल सत् रूप - ये दर्शन का विषय है। सम्पूर्ण विश्व की अपेक्षा लें तो उसे महासत्ता कहते हैं और एक पदार्थ की अपेक्षा लें तो उसे अवान्तर सत्ता कहते हैं। वो दोनों नहीं एक ही रूप, अवान्तर सत्तारूप ही होता है और जो केवलदर्शन है वो बिल्कुल महासत्तारूप हो गया क्योंकि सारे केवल पदार्थ सत् हैं। केवलदर्शन में ऐसा ही होता है। केवलदर्शन और केवलज्ञान साथ ही होते हैं, लेकिन केवलदर्शन का विषय ये सारा विश्व सत् रूप है, लेकिन ये सब न्यारे-न्यारे हैं।

मुमुक्षु :- और केवलज्ञान का विषय?

पूज्य बाबूजी :- केवलज्ञान का विषय भी न्यारा-न्यारा, पर ये ज्ञान एक पर्याय है न आखिर, इसीलिए एक ही है। उसको प्रोत्साहित नहीं करना, उसको ज्यादा वजन नहीं देना कि ज्ञान में अनेक आकार हैं। उनकी कोई कीमत नहीं। वो ज्ञान ही हैं, सबके सब ज्ञान ही हैं।

मुमुक्षु :- श्रद्धा का विषय और ज्ञान का विषय एक ही हो फिर भी ज्ञान सविकल्प हो सकता है?

पूज्य बाबूजी :- सविकल्प में कहाँ दिक्कत रही? जब दर्शन निर्विकल्प है, निराकार है अर्थात् उसमें भेद नहीं होता है, सारे जगत को केवल सत् रूप विषय करता है। **ज्ञान को जो विषय करना है जिस पदार्थ को विषय करना है, तो उसके पहले छद्मस्थ दशा में दर्शन होगा। वो दर्शन उस पदार्थ को सत् - इतना विषय करके रह जायेगा। इसके बाद ज्ञान की परिणति होगी तो ये क्या है ये? क्या है? - ये जो ज्ञान है, यहाँ से ज्ञान शुरू हो गया।** मैं तो ज्ञान हूँ - यहाँ से ज्ञान शुरू हो गया। ये जड़ है, पुद्गल है, सफेद है, काला है, पीला है, नीला है, खट्टा है, मीठा है, चरपरा है कुछ भी। कोई भी भेद उसमें प्रवृत्त हुआ तो वो ज्ञान हो गया।

मुमुक्षु :– तो एक ही पर्याय में होता है सब ?

पूज्य बाबूजी :– नहीं ! एक पर्याय में नहीं होता। छद्मस्थ दशा में माने केवलज्ञान से पहले तो दर्शन–उपयोग होता है और दूसरे क्षण में ज्ञान–उपयोग होता है। **दंसणपुव्वं णाणं छद्मत्थाणं** वृहद्–द्रव्यसंग्रह में है कि छद्मस्थों को दर्शनपूर्वक ज्ञान होता है और केवलज्ञान में युगपत **जम्हा केवलि** केवली को युगपत होते हैं।

दंसणपुव्वं णाणं, छद्मत्थाणं ण दोण्णि उवउग्गा।
जुगवं जम्हा केवलिणाहे जुगवं तु ते दो वि॥44॥

उपयोग लक्षण का स्वरूप

मुमुक्षु :– एक प्रश्न है बाबूजी ! **उपयोगो जीव लक्षणं** – उसका स्पष्टीकरण ?

पूज्य बाबूजी :– हाँ ! उपयोग माने ये जो ज्ञान प्रतिसमय चलता है, ज्ञान की पर्याय, उसका नाम उपयोग है। यहाँ गुण नहीं लेना द्रव्य नहीं लेना। पर ज्ञान की जो पर्याय प्रतिसमय चलती है, तो उसका अर्थ ये है कि ये जो जानने का काम होता है, तो इसके पीछे कोई पदार्थ होना चाहिए। पदार्थ नहीं होगा तो कोई परिणति कैसे होगी ? पर्याय कैसे होगी ?

जैसे घर में आटा नहीं है फिर भी रोटी बन गई – ऐसा कभी देखा नहीं। तो आटा होना चाहिए फिर रोटी इसके बाद बनती है। ये जो ज्ञान है ये सिद्ध करता है कि इस तरह का जानने वाला कोई पदार्थ है – ऐसा निश्चय करता है। ज्ञान की जो उपयोगरूप पर्याय है, वो ये निश्चय करती है कि जानने वाला कोई है अर्थात् 'मैं जानने वाला हूँ' – ये निश्चय करती है और इसी तरह मैं जानने वाला हूँ और जगत में ऐसे भी पदार्थ हैं कि जो जानने वाले नहीं हैं – ये भी वो उपयोग ही जानता है, ज्ञान की पर्याय ही जानती है।

यहाँ उपयोग में ज्ञान लेना क्योंकि उपयोग के दो भेद - एक दर्शन और एक ज्ञान; तो यहाँ ज्ञान लेना। तो ज्ञान है लक्षण, दर्शन लक्षण नहीं है। उपयोग माने वो ज्ञान की पर्याय जो प्रतिसमय चलती है वो लक्षण है। उससे आत्मा भी जाना जाता है और जगत भी जाना जाता है, सब जाना जाता है।

मिथ्याज्ञान बन्ध-मोक्ष का कारण है या नहीं

मुमुक्षु :- बाबूजी! उस पर्याय में बंध-मोक्ष की प्रवृत्ति है?

पूज्य बाबूजी :- नहीं उसमें नहीं है। उसमें बंध-मोक्ष की प्रवृत्ति नहीं है फिर भी सदा से, अनादिकाल से जो अज्ञान है, उस अज्ञान पर ही सारा दोषारोपण किया है क्योंकि ज्ञान होता है समझदार, अन्य गुण समझदार नहीं हैं; तो ज्ञान ने जो भूल की है, ज्ञान जो भ्रम में पड़ा है, इसलिए समयसार में सारा दोष ज्ञान को ही दिया है और अज्ञान कहा है कि अज्ञान से ही बंध होता है और ज्ञान से ही बंध का निरोध होता है - ऐसा कहा है, लेकिन **सचमुच ज्ञान और अज्ञान इन दोनों से करणानुयोग की अपेक्षा बंध नहीं होता है, संवर भी नहीं होता और निर्जरा भी नहीं होती। लेकिन चूँकि जब ज्ञान की प्रवृत्ति होती है तो उधर संवर और निर्जरा प्रगट होते हैं।** उसके फलस्वरूप सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र प्रगट होते हैं, इसलिए ज्ञान पर ही सारा वजन डाला जाता है क्योंकि आत्मा में ज्ञान ही प्रमुख है।

सारा दोष समयसार में ज्ञान को दिया है, क्योंकि जानेगा नहीं तो श्रद्धा कैसे करेगा? आचरण भी कैसे होगा? इसलिए ज्ञान पहले निश्चय करे कि तेरा विहार-स्थल कौनसा है? तेरे आचरण का आश्रम कौन सा है? ये ज्ञान निश्चय करता है तो श्रद्धा जागृत हुई और उधर आचरण उसमें क्रीड़ा करता है। जैसे उपवन में क्रीड़ा होती है वैसे चारित्र आत्मा में क्रीड़ा करता है। इस तरह तीनों प्रगट होते हैं।

मुमुक्षु :- बाबूजी! लेकिन जो उपयोग है वो तो जीव का लक्षण है, वो जीव का लक्षण कभी मलिन तो नहीं होता न?

पूज्य बाबूजी :- हाँ! नहीं हुआ न!

मुमुक्षु :- हाँ! तो ये जो उपयोग है वो हमेशा वैसा का ही वैसा है?

पूज्य बाबूजी :- नहीं! उपयोग तो वैसा का वैसा है लेकिन जब ये मिथ्याप्रवृत्ति करता है माने जैसा है वैसा नहीं जानता, तो इसको मिथ्याज्ञान और अज्ञान कहते हैं, ये भी तो होता है न! ये तो स्वयं प्रगट है न! अपने अनुभव की चीज है कि जैसा है वैसा नहीं जानता।

वो अज्ञान है, मिथ्याज्ञान है, इसीलिए वो ज्ञान में ही होता है। ऐसा नहीं है कि ज्ञान शुद्ध है। ज्ञान शुद्ध इसीलिए कहा जाता है कि ज्ञान में जो कल्पना होती है कि ये अन्य पदार्थ मेरे ज्ञान में आते हैं – ये जो कल्पना और ये जो अध्यवसान है इसके कारण वो पदार्थ ज्ञान में नहीं आते। ज्ञान में तो ये कल्पना होती है कि पदार्थ मेरे ज्ञान में आते हैं, आ जाते हैं। तो इसको भय, चिंता, विषाद, संक्लेश ये सब होते हैं और जिस समय इसको ये ज्ञान हो जाये कि ये पदार्थ मेरे ज्ञान में नहीं आते, पर मैं तो अपने भीतर ही भीतर पदार्थों जैसी रचना कर लेता हूँ, तो ज्ञान सम्यक् हो गया। और जब तक ये नहीं जानता तब तक स्व-पर का विभाग नहीं हुआ न! तब तक उसने पर का अस्तित्व ज्ञान में माना तो लेकिन स्व-पर का विभाग नहीं हुआ, इसलिए ज्ञान मिथ्या है और ये ज्ञान का ही दोष है, परन्तु मिथ्याज्ञान होने पर भी उससे बंध नहीं होता और उससे निर्जरा, संवर-निर्जरा भी नहीं होते, मिथ्याज्ञान होने पर भी।

मुमुक्षु :- क्यों, वो कैसे?

पूज्य बाबूजी :- उसका बहुत बड़ा कारण है कि अगर ज्ञान से आस्रव और बंध होने लग जायें। **मिथ्याज्ञान से अगर आस्रव-बंध**

होने लग जायें तो वो सारा ज्ञान आवृत्त हो जायेगा; सारा ज्ञान, संपूर्ण ज्ञान। क्योंकि जब ज्ञान संसार दशा में हमेशा क्षयोपशमरूप रहता है, लेकिन अगर हम उससे ज्ञान से आस्रव और बंध मानेंगे, तो फिर वो ज्ञान सारा आवृत्त हो जायेगा। इसका अर्थ है कि आत्मा अचेतन हो जायेगा। ज्ञान ही नहीं रहेगा, ज्ञान की पर्याय ही नहीं रहेगी, इसलिए ज्ञान से बंध और मोक्ष नहीं माना; पर समयसार में दोष उसी को दिया है क्योंकि समझदार वही है। अन्य को दोष नहीं दिया है। अज्ञान से ही आस्रव-बंध होता है और अज्ञान से ही आस्रव-बंध की निवृत्ति होती है। आस्रव की निवृत्ति ज्ञान से ही होती है।

मुमुक्षु :- ज्ञान से बंध-मोक्ष नहीं होता।

पूज्य बाबूजी :- नहीं होता!

मुमुक्षु :- अज्ञान से बंध-मोक्ष होता है?

पूज्य बाबूजी :- न! अज्ञान से भी नहीं होता। अज्ञान से भी नहीं होता है।

मुमुक्षु :- तो कैसे होता है?

पूज्य बाबूजी :- वो अज्ञान ही मूल कारण रहा न! कि अज्ञान ने स्व-पर का विभाग नहीं किया - यही तो मूल कारण रहा न। इसी का नाम मिथ्यादर्शन, इसी का नाम मिथ्याज्ञान, इसी का नाम मिथ्याचारित्र। मूल कारण ज्ञान है, इसीलिए वो मिथ्याज्ञान होता है बराबर।

❖❖❖

तत्त्वचर्चा : क्रमांक 10

(3 फरवरी 1999)

इस चर्चा में अनुभूति में प्रदेशों का स्थान, भावश्रुतज्ञान और केवलज्ञान, दर्शन और श्रद्धा, लेश्या कषाय और योग, अधिक क्षयोपशम ज्ञान की अनुपयोगिता संस्कार का स्वरूप आदि विषयों का मार्मिक स्पष्टीकरण किया गया है।

अभेद अनुभूति में प्रदेश नहीं दिखते

पूज्य बाबूजी :- अनुभूति के समय पर्याय में 'ज्ञायक' का अनुभव होता है - इस पर तो अपन काफी चर्चा कर चुके हैं। ज्ञायक के प्रदेश दिखाई नहीं देते, तो उनको देखे बिना भी अनुभूति हो सकती है, क्योंकि उनको देखना ये कोई आवश्यक नहीं है। जैसे हम कोई स्वादिष्ट वस्तु आँख बन्द करके खायें, तो उसको देखे बिना उसका स्वाद और आनन्द दोनों बराबर होते हैं, अर्थात् उसका कोई आकार-प्रकार हमें नहीं दिखाई दिया फिर भी स्वाद आया। **आत्मा के प्रदेश यदि दिखाई दें तो वो तो आकार हो जाएगा और पर्यायदृष्टि हो जाएगी अर्थात् मिथ्यादृष्टि हो जाएगी। आत्मा के प्रदेश देखेगा तो इस दशा में मनुष्य आकार दिखाई देगा। केवलज्ञान की बात अलग है, वहाँ तो आत्मा के प्रदेश दिखाई देते हैं। लेकिन यहाँ छद्मस्थ दशा में ज्ञान के कम विकास की दशा में, क्षयोपशम दशा में आत्मा के प्रदेश नहीं दिखाई देने पर भी अनुभूति बराबर होती है और उससे प्रगट आनन्द भी जानने में आता है।**

देखिए ऐसा है, उदाहरण से अपन समझते हैं। जैसे एक गरीब कन्या है और उसका सम्बन्ध किसी राजघराने में हो गया। पहले ऐसा नियम था कि माता-पिता से पूछकर कोई जो medium (माध्यम) होता है व्यास वगैरह, वे लोग जाते थे और वे सम्बन्ध करके आते थे।

किसी राजा के राजकुमार से उस गरीब कन्या का राजघराने में सम्बन्ध हो गया। अब जब व्यास संदेश लेकर वापस आया और माता-पिता को कहने लगा, तो वो कन्या भी पास के कमरे में थी; उसने वो बात सुन ली। अब प्रश्न ये है कि वो कन्या अपने आपको क्या मानती है? पहले तो मैं गरीब घराने की कन्या हूँ - ये मानती थी। अब आज अभी उसने सुना ही है, विवाह अभी नहीं हुआ। लेकिन वो अपने आप को क्या मानने लगी? गरीब की जगह रहते हुए भी और गरीब जैसा ही भोजन करते हुए भी वो आज ही अपने आप को मानने लगी कि मैं तो राजकुमारी हूँ। तो उसने देखा नहीं न! वो राजघराना उसने जाकर तो नहीं देखा, लेकिन राजघराने का जो वैभव है उससे तो सब परिचित हैं ही। उसने सारा वैभव सुनाया और इसे भी मालूम था।

इसी तरह आत्मा का वैभव ज्ञात हो जाने पर आत्मा के प्रदेश देखने की आवश्यकता नहीं होती। लेकिन उस वैभव का उस अनुभूति में ज्ञान होता है अर्थात् संवेदन होता है तो आनन्द का जन्म होता है। इसलिए आत्मा के प्रदेशों को देखने की छद्मस्थ दशा में ज्ञान में ताकत भी नहीं है। ताकत नहीं होने पर भी प्रत्यक्ष अनुभव होता है।

उस अनुभव को प्रत्यक्ष कहते हैं क्योंकि प्रत्यक्ष आनन्द आता है, इसलिए उस अनुभव को भी प्रत्यक्ष कहते हैं। परपदार्थों को जानते समय वो परोक्ष है क्योंकि वो इन्द्रियों और मन का सहारा लेकर प्रवर्तित होता है और यहाँ किसी का सहारा नहीं है। पाँच इन्द्रिय का और मन का, किसी का सहारा नहीं है। ये जो निर्विकल्प संवेदन है तो इसी को शुद्धात्मानुभूति कहते हैं, यदि अन्तर्मुहूर्त चले तो इसी को ध्यान कहते हैं; आनन्द का अनुभव बराबर होता है, इसलिए प्रदेश देखने की आवश्यकता नहीं है।

मुमुक्षु :- जैसा ज्ञायक है वैसा ही दिखता है?

पूज्य बाबूजी :- जैसा ज्ञायक का निर्णय किया था, ज्ञान वैसी सत्ता

तो मानता है न! देखना किसको कहते हैं? देखना माने ज्ञान की पर्याय। एक तो देखना दर्शन के अर्थ में आता है। कल ही दर्शन और ज्ञान की चर्चा चली थी न! दर्शन माने केवल सत्ता मात्र का अवलोकन, सत्ता मात्र का प्रतिभास! कोई भी पदार्थ हो, दर्शन अर्थात् उसमें केवल सत्ता मात्र का प्रतिभास होता है। इसको कहते हैं निर्विकल्प प्रतिभास, निराकार प्रतिभास! और उसके बाद जब ज्ञान होता है तो उसको सविकल्प प्रतिभास कहते हैं। दोनों में 'प्रतिभास' शब्द आता है – दर्शन में भी और ज्ञान में भी। सविकल्प प्रतिभास, साकार प्रतिभास इत्यादि नामों से पुकारते हैं।

दर्शन की बात तो अलग रही, लेकिन ज्ञान ने देख तो लिया आत्मा को! और क्या देखना है? कि वैभवशाली है और उसकी सत्ता है – ऐसा ज्ञान की पर्याय से निर्णय किया क्योंकि ज्ञान की पर्याय है तो ज्ञान पर्याय का सत्ताधारी कोई न कोई वस्तु मैं हूँ और वो जगत से, जगत के जड़ पदार्थों से बिल्कुल अलग प्रकार की है, इसलिए जगत से मैं बिल्कुल भिन्न हूँ और अत्यन्त वैभवशाली हूँ, इस विश्व का पारमार्थिक तत्त्व हूँ – जब उसकी ऐसी महिमा जानता है, तब ज्ञान वहीं चला जाता है और ठीक जैसा निर्णय किया था, वैसी की वैसी अनुभूति हो जाती है।

जैसे कोई धनवान व्यक्ति है, मान लीजिए कि वो करोड़पति है। तो उसके पास जितना धन है, वैभव है वो सब मिलाकर करोड़पति है न; उसके पास jewels (गहने) भी हैं, उसके पास सोना भी है, चाँदी भी है और दूसरे समान भी हैं। सबको मिलाकर वो करोड़पति है। तो वह जिस समय अपने आपको करोड़पति मानता है, उस समय उसे कौनसी चीज दिखाई देती है? कोई नहीं दिखाई देती, क्योंकि उसने पहले निर्णय कर लिया है कि ये सब मेरे पास है। ऐसा निर्णय किया तो जानते समय केवल आनन्द की प्रवृत्ति होती है और यदि उसमें से कोई एक

वस्तु वहाँ अगर दिखाई दे तो फिर वो आनन्द की अनुभूति नहीं होगी और केवल उस वस्तु का विकल्प होकर रह जाएगा।

अज्ञान दशा में भी अपन क्या करते हैं? क्या मानते हैं अपने आपको? करोड़पति मानते हैं। करोड़पति मानते हैं तो ये तो पहले निर्णय कर चुके हैं कि क्या–क्या है अपने पास? ये तो ज्ञान के विकल्पों के द्वारा पहले निर्णय हो चुका है। उस निर्णय के अनुसार जब अनुभूति होती है, तो उन पदार्थों का भेद किए बिना 'सब पदार्थों का समग्र समुदाय मैं हूँ' – ऐसा जानकर अनुभूति होती है – अपने को वो विचार करते ही आनन्द भी होता है। वो तो लौकिक बात है लेकिन लौकिक बात में भी इतनी सच्चाई है न कि वहाँ किसी पदार्थ के आकार–प्रकार का हम अनुभव नहीं करते। सबका समुदायरूप, मैं एक छत्र सबका स्वामी हूँ – बस! इतना जानता है कि आनन्द की तरंग जन्म लेती है। यहाँ तो लौकिक विकल्पात्मक बात है, यहाँ तो लौकिक आनन्द पैदा होता है।

भावश्रुतज्ञान भी केवलज्ञान जैसा है

इस प्रकार आत्मा के प्रदेश दिखाई न दें तो भी अनुभूति में कोई अन्तर नहीं आता। जो अनुभूति इस छद्मस्थ को, जो अल्पज्ञान वाला है, जिसको केवलज्ञान नहीं है; क्षयोपशम ज्ञान है, कम विकास वाला ज्ञान है। अनुभूति श्रुतज्ञान में होती है। आगम में मतिज्ञान भी लिखा है लेकिन मतिज्ञान प्रमाणज्ञान है। मतिज्ञानपूर्वक श्रुतज्ञान होता है। भावश्रुतज्ञान कहते हैं उसको। जब अनुभूति होती है तो उसका नाम भावश्रुतज्ञान होता है। उसमें आत्मा के प्रदेश दिखाई न दें और फिर भी जो अनुभव हुआ उसमें आनन्द की उत्पत्ति ठीक वैसे ही होती है जैसी कि भगवान सिद्ध को होती है।

भगवान केवली अरिहंत, वे भी आत्मा के प्रदेशों को देखते हैं और भगवान सिद्ध भी आत्मा के प्रदेशों को देखते हैं लेकिन उनके आनन्द

में कोई अन्तर नहीं है। इसी तरह इसके आनन्द में और भगवान अरहंत–सिद्ध के आनन्द में कोई अन्तर नहीं है, बिल्कुल अन्तर नहीं है। जो अतीन्द्रिय आनन्द चतुर्थ गुणस्थान वाले सम्यग्दृष्टि को होता है, बस वही अतीन्द्रिय आनन्द भगवान अरहंत को अपने आपको ज्ञायक मानते हुए और भगवान सिद्ध को भी अपने आपको ज्ञायक मानते हुए ठीक वही आनन्द होता है; वैसा ही आनन्द होता है।

जब पूर्ण ज्ञान होता है तो फिर जगत के सभी पदार्थ सब दिखाई देते हैं। इसी तरह आत्मा के प्रदेश भी दिखाई देते हैं। लेकिन वो प्रदेशों में मुग्ध तो नहीं हुआ, प्रदेशों की याद भी नहीं आती। भगवान सिद्ध को तो अनन्तानन्तकाल तक उन प्रदेशों की याद नहीं आती। **प्रदेशों की याद आएगी तो एक अंग की याद आएगी अर्थात् आत्मा के एक अवयव की याद आएगी। इसलिए वो प्रदेश देखते हुए भी वो नहीं है ज्ञान में। ज्ञान में तो मात्र जैसे इस सम्यग्दृष्टि को ज्ञायकाकार उपयोग था, उसी तरह वहाँ केवलज्ञान ज्ञायकाकार होकर उसका अनुभव करता है।**

मुमुक्षु :- केवलज्ञान ज्ञायकाकार होकर जानता है ?

पूज्य बाबूजी :- हाँ! ज्ञायकाकार होता है। अनुभूति का तो स्वरूप ही यही है न, तो वो वहाँ कैसे बदल जाएगी ? अगर यहाँ जो निर्णय किया है और अनुभूति हुई है, तो वो अरिहंतदशा–सिद्धदशा तक वो विधि बदलती नहीं है। वहाँ पर पदार्थ ज़्यादा जानने में आते हैं तो उन पदार्थों से कोई मतलब है ही नहीं, क्योंकि वो रंचमात्र भी, अणुमात्र भी हमारे नहीं हैं। **इसलिए यहाँ कम पदार्थ जानने में आते हैं तो भी ये ज्ञान कम नहीं है; ये श्रुतज्ञान भी केवलज्ञान जैसा है। इसलिए आगम में कहा है कि स्याद्वाद और केवलज्ञान में केवल प्रत्यक्ष और परोक्ष का भेद है, लेकिन अनुभूति में और आनन्द में कोई अन्तर नहीं है।**

दर्शन और श्रद्धान

मुमुक्षु :– बाबूजी! आपने जो एक शब्द प्रयोग किया 'सविकल्प प्रतिभास' वो क्या है?

पूज्य बाबूजी :– सविकल्प प्रतिभास माने ज्ञान और निर्विकल्प प्रतिभास माने दर्शन, दर्शनोपयोग। दोनों के साथ उपयोग शब्द है – दर्शनोपयोग और ज्ञानोपयोग। ये सम्यग्दर्शन नहीं है। सम्यग्दर्शन तो इसकी अपेक्षा सविकल्प कहा जाएगा क्योंकि वो तो 'मैं आत्मा हूँ, चेतन हूँ' – ऐसा जानकर[1] प्रतीति करता है और ज्ञान भी इसी प्रकार अनुभव करता है कि 'मैं चेतन हूँ'। **दर्शनोपयोग में 'चेतन हूँ' – ये अवलोकन नहीं होता, ऐसा प्रतिभास नहीं होता। लेकिन सत् हूँ ऐसा प्रतिभास होता है कि केवल सत् मात्र हूँ** और भगवान केवली को वो दोनों युगपद् होते हैं और यहाँ छद्मस्थ दशा में पहले दर्शनोपयोग होता है, उसके बाद ज्ञानोपयोग होता है। ज्ञानोपयोग में स्वसत्ता का ज्ञायकाकार प्रतिभास होते हुए आनन्द का जन्म होता है।

इसलिए अन्तर समझना चाहिए। 'दर्शन' शब्द श्रद्धा के अर्थ में भी आया और 'दर्शन' शब्द सामान्य अवलोकन, सामान्य प्रतिभास के अर्थ में भी आया। सामान्य प्रतिभास और विशेष प्रतिभास, निर्विकल्प प्रतिभास और सविकल्प प्रतिभास, निराकार प्रतिभास और साकार प्रतिभास, इस तरह जानना चाहिए।

मुमुक्षु :– साकार प्रतिभास माने?

पूज्य बाबूजी :– साकार प्रतिभास माने ज्ञान।

मुमुक्षु :– और निराकार प्रतिभास माने?

पूज्य बाबूजी :– निराकार प्रतिभास माने सत् मात्र – ऐसा। ये दर्शन और ज्ञान का भेद समझना। और उधर दर्शन अर्थात् सम्यग्दर्शन अलग

---

1. यह कथन ज्ञान प्रधान श्रद्धा की अपेक्षा है।

चीज है। वो तो 'मैं चैतन्य हूँ, शुद्ध चैतन्य हूँ' इस प्रकार प्रतीति करता हुआ उदित होता है, प्रगट होता है।

मुमुक्षु :- एक शक्तिरूप है और एक विषयरूप है?

पूज्य बाबूजी :- ज्ञान की अपेक्षा ये सविकल्प कहा जाएगा। और इसके पहले दर्शन हो चुका होता है और केवलज्ञान में दोनों युगपद् होते हैं। (शक्ति की बात नहीं है)

लेश्या कषाय और योग

मुमुक्षु :- कषाय और लेश्या में फर्क क्या है? कृपया विस्तार से बताइए?

पूज्य बाबूजी - क्रोध-मान-माया-लोभरूप कषाय तो राग-द्वेषरूप परिणाम और लेश्या जो है वो योगों की प्रवृत्ति है। तो उस कषाय के साथ जो योगों की प्रवृत्ति होती है.............ये मन-वचन-काय तो होते ही हैं लेकिन इसके साथ में आत्मा के प्रदेशों में प्रतिसमय कंपन होता है। वो कंपन जो है यदि उसमें मन निमित्त है तो वो मनोयोग कहलाता है। यदि उसमें वचन निमित्त है कंपन में, तो वचन-योग कहलाता है और अगर काय निमित्त है, शरीर निमित्त है तो वो काय-योग कहलाता है।

भगवान अरिहंत को, तीर्थंकर को सबसे अधिक वचन-योग होता है। वचन-योग होता है अर्थात् वाणी मूसलाधार वर्षा की तरह से खिरती है, इसलिए भगवान को वचन-योग बहुत होता है। योग अर्थात् आत्मप्रदेशों का कंपन। भगवान सिद्ध को योग नहीं है! भगवान अरिहन्त को अभी एक कमी है कि आत्मप्रदेशों का कंपन वचन-योग और काय-योग से होता है, लेकिन वहाँ कषाय नहीं है, इसलिए वहाँ पर बंध नहीं है। यहाँ अज्ञान दशा में कषायपूर्वक ये कंपन होता है और ज्ञान दशा में भी होता है तो वहाँ पर आस्रव और बंध होता है। ये

भावलेश्या हुई; और द्रव्यलेश्या तो केवल वर्ण को कहते हैं। जैसे कौन सी गति में शरीर का कौन सा वर्ण है, उसको द्रव्यलेश्या कहते हैं। कषाय के साथ योगों की जो प्रवृत्ति होती है भीतर अर्थात् कंपन जो होता है वो भावलेश्या है।

मुमुक्षु :- जो नए बंधों का कारण बन जाती है?

पूज्य बाबूजी :- जो बंध का कारण होती है। आस्रव का मूल कारण योग है और बंध का कारण राग-द्वेष-मोह है।

मुमुक्षु :- अच्छा! माने लेश्या होने से आस्रवों का कारण बनता है?

पूज्य बाबूजी :- आस्रव तो भगवान अरिहंत को भी होता है, लेकिन केवल साता का आस्रव होता है और वो भी एक समयमात्र का होता है। जैसे इस दरवाजे से आया और उस दरवाजे से निकल गया। इस तरह आस्रव भगवान अरिहंत को भी होता है लेकिन वो ठहरता नहीं है। उसकी स्थिति नहीं है इसलिए बंध नहीं कहलाता है वो। बंध तब कहलाता है कि जब वो एक समय से अधिक ठहरे। वो तो एक ही समय में सारा काम हो जाता है - आया और गया।

मुमुक्षु :- ईर्यापथ आस्रव।

पूज्य बाबूजी :- माने entrance (आगमन) और exit (प्रस्थान) ये दोनों एक ही साथ, एक ही समय में हो जाता है और हम लोगों को क्योंकि राग-द्वेष-मोह हैं इसलिए वो कर्म आते हैं और ठहरते हैं, ठहर जाते हैं। इसी तरह राग-द्वेष-मोह आते हैं और ठहरते हैं। तो इसको कहते हैं कषाय और उसको कहते हैं लेश्या। ये दोनों इस तरह भिन्न-भिन्न हैं।

तो योग जो है वो आस्रव का कारण है खासतौर से। **कायवाङ्मनः कर्मयोगः स आस्रवः** यह छठवाँ अध्याय है तत्त्वार्थसूत्र का, उसका पहला सूत्र है ये। **कायवाङ्मनः कर्मयोगः स आस्रवः** काया वचन

और मन की क्रिया को योग कहते हैं और वो योग ही आस्रव है, आस्रव का कारण है और अपने यहाँ अध्यात्म-पद्धति में क्योंकि बंध होता है इसलिए राग-द्वेष-मोह को ही आस्रव कहा और उन्हीं को बंध कहा; क्योंकि बंध होगा ही सही, क्योंकि वे ठहरेंगे.....कर्म ठहरेंगे ही सही और ये रागादिक भी ठहरेंगे। इसलिए वहाँ पर उसको राग-द्वेष-मोह को ही आस्रव और राग-द्वेष-मोह को ही अध्यात्म पद्धति में बंध कहते हैं।

मुमुक्षु :- लेश्या में जो वर्ण है तो वो ज्यादा और कम.... ?

पूज्य बाबूजी :- उसकी ज़्यादा घुटायी नहीं करना है। वो ज्यादा मतलब की बात नहीं है। वर्ण होता है.... जैसे नरक में बहुत विड्रूप होता है, न मालूम कैसा काला-कलूटा कैसा होता है।

मुमुक्षु :- योग के साथ वर्ण का क्या सम्बन्ध होगा ? क्योंकि योग तो कंपन है। तो उसके साथ वर्ण का क्या सम्बन्ध ?

पूज्य बाबूजी :- योग में जो कंपन है वो तो भावलेश्या हो गई न! तो ये तो शरीर के वर्ण से सम्बन्धित है।

मुमुक्षु :- भावमन भाववचन भावकाया - वो वीर्य गुण की पर्याय कही है ?

पूज्य बाबूजी :- वो वीर्य गुण की पर्याय नहीं है, वो नामकर्म की पर्याय है। उसमें निमित्त ये होते हैं वरना वो कंपन तो एक ही तरह का होता है। भीतर आत्मप्रदेशों का जो कंपन है वो तो एक ही तरह का होता है। जैसे किसी को कंप रोग हो जाए न तो वो काँपता है। तो इस तरह वह कंपन तो प्रतिसमय चलता ही रहता है। लेकिन उसमें बाहर की निमित्तता किसकी है ?

जैसे हम मन में सोच रहे हैं तो वो मनोयोग कहलायेगा। वाणी अगर अंर्तजल्प या बहिर्जल्प कुछ भी हो रहा है, उस कंपन का नाम वचन-

योग नाम होगा और काय की चेष्टा होगी तो वो भाव काय-योग कहलायेगा।

मतिज्ञान की प्रक्रिया

मुमुक्षु :- एक प्रश्न है! मतिज्ञान के पाँच भेद (हैं) - स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम। और मतिज्ञान के क्रम (हैं) - अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा। इन दोनों में फर्क क्या है? अन्तर क्या है? कृपया स्पष्ट कीजिए।

पूज्य बाबूजी :- अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा - जब दर्शनोपयोग होता है तो दर्शनोपयोग के बाद ज्ञान में पदार्थ को जानने में क्रम पड़ता है। पहले से जाना हुआ पदार्थ हो तो क्रम नहीं पड़ता, वरना जो पदार्थ हमें ज्ञात नहीं है तो उस पदार्थ को जानने में क्रम पड़ता है। दर्शनोपयोग के बाद सबसे पहले दूसरे क्षण में अवग्रह होता है।

अवग्रह - अवग्रह का अर्थ कोई पीला है, कोई काला है, सफ़ेद है, क्या है वो वस्तु? काली, पीली कुछ भी माने दिखाई देता है वो तो हुआ अवग्रह।

ईहा - अब वो काला, पीला, नीला, सफ़ेद क्या है - ऐसी भीतर से शंका पैदा होना। शंका माने संशय नहीं लेकिन भीतर से ये प्रश्न पैदा होना कि ये क्या है पदार्थ - इसका नाम ईहा ज्ञान। ईहा माने कि उसको जानने की इच्छा, उत्कण्ठा।

अवाय - अवाय में निश्चय हो जाता है कि ये क्या है? ये कोई कबूतर है या ये कोई चील है या कोई चिड़िया है या क्या है कोई आदमी है या कोई जानवर है अथवा कोई परमाणु पुद्गल का कोई पिण्ड है - इस तरह का निश्चय होता है उसको अवाय कहते हैं।

धारणा - धारणा माने ये जो ज्ञान हुआ इसको फिर कालान्तर में

बाद में भी भूले नहीं तो उसको धारणा कहते हैं। इन सबके बाद स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम होता है।

स्मृति – ये जब ज्ञान पूरा हो जाता है तो फिर वो जो पूरा देखा न, तो उसका नाम स्मृति है।

प्रत्यभिज्ञान – प्रत्यभिज्ञान माने वर्तमान में कोई पदार्थ देखा तो ये पदार्थ ठीक ये वही है जो पहले देखा था, इसका नाम प्रत्यभिज्ञान; अथवा ये वैसा ही है जैसा पहले देखा था इसका नाम प्रत्यभिज्ञान। इस तरह प्रत्यभिज्ञान के दो-तीन भेद होते हैं। हम कहते हैं न जैसे कोई बालक पाँच वर्ष का हमने देखा और इसके बाद वो 15 वर्ष का होने पर हमारे सामने आया। तो हम कहते हैं न! अरे! तुम तो वही हो, जो मैंने दस वर्ष पहले देखे थे – इसका नाम प्रत्यभिज्ञान है।

तर्क – तर्क माने पदार्थ के निश्चय के लिए जो युक्ति होती है उसको तर्क कहते हैं। व्याप्ति ज्ञान को तर्क कहते हैं। तर्क पूर्वक उस चीज का निश्चय किया जाता है।

तर्क माने जैसे जहाँ-जहाँ धुआँ वहाँ-वहाँ अग्नि – इसका नाम तर्क। जहाँ-जहाँ धुआँ होता है वहाँ-वहाँ अग्नि होती ही है। अब ये जो धुआँ है तो इसके साथ कई विशेषण लगते हैं क्योंकि धुँआ होता है यदि अग्नि न भी हो। जैसे रेलगाड़ी गई और धुआँ छोड़ गई। अब वहाँ आग कहाँ है? तो धुआँ तो देखा पर अग्नि कहाँ है? इसलिए इसके साथ में अनेक विशेषण लगते हैं। तो जहाँ-जहाँ धुआँ वहाँ-वहाँ अग्नि, जहाँ-जहाँ ज्ञान वहाँ-वहाँ आत्मा – ये हुआ तर्क।

अनुमान – अनुमान में ये जहाँ-जहाँ ज्ञान वहाँ-वहाँ आत्मा (ऐसा तर्क), तो मेरे में ज्ञान है इसलिए मैं आत्मा हूँ – ये अनुमान ज्ञान है।

आगम – आगम माने जो है उसका ज्ञान करना। आगम जो है वो

ज्ञान का भेद है; माने भगवान की जो वाणी है उसका नाम आगम है - शब्दब्रह्म तो केवल निमित्त है। वास्तव में जो ज्ञान है वो आगम है! उसके निमित्त से जो ज्ञान होता है उसका नाम आगम है। मुनिराज जो हैं वे आगम-चक्षु कहलाते हैं। सम्यग्दृष्टि भी आगम-चक्षु है।

मुमुक्षु :- फिर सम्यग्दृष्टि हो, मुनिराज हों या केवलज्ञान हो?

पूज्य बाबूजी :- ये केवलज्ञान में नहीं होगा। ये छद्मस्थ के ज्ञान की बात है।

मुमुक्षु :- दर्शनोपयोग और अवग्रह में क्या फर्क है बाबूजी?

पूज्य बाबूजी :- दर्शनोपयोग के बाद अवग्रह होता है। दर्शनोपयोग हुआ ये पहला क्षण। अभी जैसे वर्तमान का moment है, वर्तमान का क्षण। इसमें तो दर्शनोपयोग हो गया कि सत् है, बस इतना। इसके बाद अवग्रह शुरू होता है कि सत् है तो ये काला है, पीला है, नीला है - इस तरह का जो बोध होता है.... लेकिन वस्तु नहीं पूरी। वस्तु पूरी नहीं दिखायी दी; सिर्फ इतना सा दिखाई दिया, तो उसका नाम अवग्रह और अवग्रह के बाद ईहा अर्थात् ये जो अवग्रह में देखा ये क्या है वस्तु - ऐसी इच्छा होना, ऐसा प्रश्न होना उसका नाम ईहा और अवाय में निश्चय हो जाना कि ये आत्मा है अथवा ये कोई जानवर है अथवा ये कोई पुद्गल का पिण्ड है - इस तरह का निश्चय हो जाना उसका नाम अवाय और उसे फिर बाद में न भूलना - इसका नाम धारणा **इसलिए धारणापूर्वक स्मृति होती है। वो स्मृति आई न, तो धारणापूर्वक स्मृति होती है। माने पहले धारणा में जो निश्चय किया है पदार्थ का, उसका स्मरण होना वो स्मृति है। 'वह' इसका नाम स्मृति है।**

अधिक क्षयोपशम की आवश्यकता नहीं है

मुमुक्षु :- बराबर! बाबूजी! अध्यात्म में ये सब भेद जानना प्रयोजन-भूत है?

पूज्य बाबूजी :- नहीं, नहीं है! प्रयोजनभूत नहीं है। बस स्व-पर का भेद जान ले, इतना प्रयोजनभूत है।

ये भेद जानना प्रयोजनभूत नहीं है। लेकिन मनुष्य पर्याय है, जिनवाणी का समागम मिला है तो जितना प्रयोजनभूत है उतना जानने का प्रयत्न करना चाहिए। बहुत सारी बातें जानने में भी आ जाती हैं। हम जानना नहीं चाहते तो भी जानने में आ जाती है। पर सम्यग्दर्शन और अनुभूति के लिए ये भेद कोई प्रयोजनभूत नहीं है। बस! श्रुतज्ञान में स्व-पर का विभाग होना चाहिए। श्रुतज्ञान समर्थ हो, उसमें स्व-पर का विभाग हो तो आत्मानुभूति हो जाती है।

मुमुक्षु :- स्व-पर का भेद करने के लिए कोई ज़्यादा ज्ञान की जरूरत हो - ऐसी बात नहीं है?

पूज्य बाबूजी :- नहीं, बिल्कुल नहीं! ज्यादा ज्ञान की जरूरत नहीं है। अगर मनुष्य पर्याय में भी अगर अल्प ज्ञान हो और जैसे हम कहते हैं कि हमको तो याद ही नहीं रहता है। **हम पढ़ते तो बहुत हैं, लेकिन याद नहीं होता है। पढ़ते बहुत हैं लेकिन समझ में नहीं आता है। इस तरह की जो एक आकुलता होती है, तो उस आकुलता को समाप्त करने वाली विधि है ये कि तेरा ये जो ज्ञान है न, इसी में संतुष्ट हो जा!** केवल आत्मा को जानकर ये कहना कि 'ये मैं ज्ञायक हूँ' - ये तो हमेशा ही याद रहने वाली बात है। इसमें तो भूलने का प्रश्न ही नहीं है। इतना याद हो जाए तो सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान आत्मानुभूति हो जाएगी।

अनन्त उदाहरण हैं, अनन्त! आठ वर्ष और अन्तर्मुहूर्त में सिद्ध हो जाते हैं। आठ वर्ष में सम्यग्दर्शन हो जाता है मनुष्य पर्याय में और अन्तर्मुहूर्त में चारित्र और मुनिदशा होकर सिद्धदशा हो जाती है। ऐसे अनन्त सिद्ध हैं वहाँ सिद्ध-शिला पर आठ वर्ष और अन्तर्मुहूर्त वाले। हाँ! हमें तो शर्म आना चाहिए।

मुमुक्षु :- सही बात है बाबूजी! सही बात है! ये डाँटने वाली बात कह दी आपने!

पूज्य बाबूजी :- शर्म नहीं आना चाहिए? एक बालक जो बात कर ले, वो 60 वर्ष का नहीं कर सके या 80 वर्ष का नहीं कर सके....।

तिर्यंच को भी स्व-पर के विभाग में सम्यग्दर्शन हो जाता है। बस! उसको इतना ही तो उपदेश दिया जाता है। ज्यादा उपदेश देंगे तो उसे याद क्या रहेगा? **वो सात तत्त्वों के नाम भी नहीं जानता, लेकिन भाव सब जानता है। सात तत्त्वों का भाव तिर्यंच जानता है, समझता है कि वर्तमान में मेरी ये दशा है। ये मेरे सामने जो खड़ा है इसकी दशा मेरे से बेहतर है, अच्छी है और वो दशा पूर्ण भी होगी, तो उसने सातों तत्त्व जान लिए। धीरे-धीरे विकास होकर वो दशा पूर्ण होगी।**

संस्कार का स्वरूप और उपयोगिता

मुमुक्षु :- तो फिर पूर्व संस्कार काम करता है कि नहीं करता है?

पूज्य बाबूजी :- पूर्व संस्कार काम करता है, लेकिन गुरु का योग अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि देशना तभी होती है। पहले देशना हुई हो तो वो भी पूर्व संस्कार है और अगर पहले देशना नहीं हुई हो और तत्त्व सुना हो और समझा हो, वास्तव में समझा हो तो वो संस्कार ज्ञान में प्रतिष्ठित हो गया। अब वो ज्ञान आगे गया न....ज्ञान तो जाएगा, शरीर तो रह जाएगा और ज्ञान आगे जाएगा....तो वो संस्कार के वश से फिर उसी समय गुरु का योग मिल जाए तो अनुभूति हो जाती है। तत्काल नहीं हो तो फिर विचारपूर्वक-चिन्तनपूर्वक हो जाती है।

मुमुक्षु :- कभी-कभी ऐसा ही सुनने में आता है कि पूर्व संस्कार कोई काम का नहीं है और कभी-कभी ऐसा लगता है कि पूर्व संस्कार काम का है।

पूज्य बाबूजी :- पूर्व संस्कार को पुरुषार्थ दें तो काम का कैसे नहीं है? पूर्व संस्कार हो और उसे पुरुषार्थ न दे और वो केवल पुण्य उदय में मस्त हो जाए, उसमें लीन हो जाए तो नहीं होगा। उस पूर्व संस्कार पर पानी फिर गया।

मुमुक्षु :- संस्कार माने क्या? खाली जानना है न?

पूज्य बाबूजी :- संस्कार माने कुछ नहीं, एक पर्याय जैसी है वैसी ही अन्य पर्यायों का चलना। जैसे तत्त्व का बोध है तो जितना तत्त्व सही जाना है, वो ज्ञान में आ गया न, तो वो पर्याय उसी तरह से चलना। **जैसे ये एक-एक पर्याय करके चलती है तो उस पर्याय के समुदाय को संस्कार कहते हैं। संस्कार नाम की कोई चीज नहीं है।**

मुमुक्षु :- बाबूजी! वो तो एक समय में अस्त हो जाती है, बराबर?

पूज्य बाबूजी :- एक समय में अस्त हो गई न! फिर दूसरे समय में वैसी, फिर तीसरे समय में वैसी! एक बार ज्ञान में तो निश्चय हो गया न! तत्त्व का निश्चय हो गया है तो वो एक-एक समय करके चला न! ज्ञान में तो प्रतिष्ठित हो गया, वो निश्चय ज्ञान में बैठ गया - उसका नाम तो संस्कार है। जब आत्मा जाएगा उसके साथ वो चीज (संस्कार) साथ में जाएगी।

ज्ञानी को अंतरंग निमित्त कहा है और जिनवाणी को बहिरंग निमित्त कहा है। (नियमसार की 53वीं गाथा)

मुमुक्षु :- निमित्त की कोई कीमत नहीं?

पूज्य बाबूजी :- अंतरंग कारण वो निमित्त है। कैसे नहीं है प्रधानता? ये गलत है जो आप कह रहे हैं। गलत है आप कह रहे हैं जो, बिल्कुल गलत है। **सीधा जिनवाणी से कभी भी अनुभूति नहीं होती और तत्त्व का बोध नहीं होता। जब तक गुरु का योग न मिले और**

देशनालब्धि न हो.... देशना तो है गुरु की पर्याय और देशनालब्धि है शिष्य की पर्याय।

मुमुक्षु :- दो प्रश्न का बहुत सुन्दर जोड़ा है। मोक्ष की पर्याय को भी परद्रव्य कहा है वो भेदज्ञान की पराकाष्ठा है - एक बात। पर्याय का कर्ता पर्याय है, वो पर्याय की कर्ता-कर्म की पराकाष्ठा है। ये कैसे है ?

पूज्य बाबूजी :- ठीक है! वो तो प्रश्न में ही उत्तर है। मोक्ष की पर्याय भी परद्रव्य है - ये तो ठीक है क्योंकि जो चिन्मात्र ज्ञायक है वो मैं हूँ। तो उससे अनमेल जितने भाव हैं वो सब पर में जायेंगे, इसलिए मोक्ष भी पर है। परद्रव्य माने पुद्गल की पर्याय। वो सब पुद्गल द्रव्य है - ऐसा स्पष्ट आया है आगम में।

शुद्ध जीवास्तिकाय से अन्य ऐसे जो सब पुद्गल द्रव्य के भाव वे वास्तव में हमारे नहीं हैं' - ऐसा जो तत्त्ववेदी स्पष्टरूप से कहता है वह अति अपूर्व सिद्धि को प्राप्त होता है (नियमसार कलश 74)।

पर्याय के षट्कारक हैं, ये तो ठीक है! वास्तव में जो पर्याय है वो सत् है। पदार्थ के तीन सत् हैं - द्रव्य, गुण और पर्याय। **सत् निरपेक्ष होता है इसलिए पर्याय को द्रव्य और गुण की आवश्यकता नहीं है, अर्थात् पर्याय उनका कोई सहारा नहीं लेती है, इसलिए एक समय में जो पर्याय उत्पन्न हुई, वो अपनी सारी सामग्री लेकर उत्पन्न होती है।** सारी सामग्री माने छह कारक, छह कारक रूप सामग्री, पर्याय उसको साथ लेकर पैदा होती है और वो पर्याय चली जाती है तो उसके वो कारक भी उसके साथ ही चले जाते हैं। नई पर्याय आती है तो अपने नये षट्कारक लेकर आती है - इस तरह ये क्रम चलता है। भगवान सिद्ध को भी चलता रहता है।

मुमुक्षु :- पर्याय का कर्ता पर्याय है, वो पर्याय की कर्ता-कर्म की पराकाष्ठा है।

पूज्य बाबूजी :- **हाँ हुई न! जैसे द्रव्य को कर्ता कहते हैं न! लेकिन द्रव्य वास्तव में कर्ता नहीं है, परद्रव्य का परिहार करने के लिए स्वद्रव्य को कर्ता कहते हैं,** क्योंकि पर्याय है कर्म-क्रिया-अवस्था-हालत। तो उस कर्म का कोई कर्ता होना चाहिए न! तो लोकालोक में तो कोई कर्ता है नहीं क्योंकि वे सबके सब भिन्न हैं। इसलिए कर्ता वहीं होना चाहिए जहाँ कर्म हो, इसलिए द्रव्य ही कर्ता होता है।

द्रव्य ही उस पर्याय में व्यापता है। उदाहरण के लिए जैसे सोने का एक आभूषण है, तो उसका जो आकार है उसमें सोना किसी अन्य का नहीं है। वो आभूषण व्याप्य है और सोना व्यापक है तो कर्ता-कर्म हो गया, लेकिन ये व्यवहार है। आगे जाकर जब प्रयोग-पद्धति में चलता है तो ये सब व्यवहार की कोटि में जाता है। सारा कथन व्यवहार की कोटि में जाता है, क्योंकि ज्ञायक द्रव्य अकर्ता और अवेदक है।

मुमुक्षु :- प्रयोग की कोटि में सबसे पहले कर्ता-कर्म की प्रवृत्ति पर्याय की पर्याय में है - वो लेना है?

पूज्य बाबूजी :- हाँ वो लेना है! कर्ता-कर्म की प्रवृत्ति पर्याय में होती है। मैं किसी का कर्ता नहीं और मैं किसी का भोक्ता नहीं।

वो जो प्रश्न था अवग्रह, ईहा, अवाय का, उसमें ये चारों हों ऐसा आवश्यक नहीं है। अवग्रह होकर भी छूट जाए, ईहा होकर भी छूट जाए। इस तरह दूसरे पदार्थ पर चला जाए उपयोग - ऐसा भी है। और वो भी है कि माने चारों पूरे हो जायें।

मुमुक्षु :- बाबूजी! एक साधारण (simple) बात है कि जैसे ये प्रश्न-कड़ी चलती है.... यदि आप हमको कोई भी प्रयोजनभूत गाथा लें कि जो स्वरूप के लिये ही काफ़ी है, तो क्या होगा बाबूजी ये प्रश्न में

जो अलग-अलग प्रकार के....कोई केवलज्ञान का प्रश्न पूछ लेता है, कोई चौथे गुणस्थान का प्रश्न पूछ लेता है। लेकिन जिसको जीव को जो main (मुख्य) प्रयोजनभूत बात है कि जिससे उसका कल्याण तुरन्त हो, ऐसी बात मतलब की ऐसी प्रयोजनभूत गाथा यदि आप थोड़ा धारावाहिकता से लें - ऐसी अमुक लोगों की भावना है, इसके लिए मैं आपके सामने निवेदन करता हूँ बाबूजी।

पूज्य बाबूजी :- अब तो बहुत late हो गए!

सारे समयसार में 11वीं गाथा सबसे महत्त्वपूर्ण है। और उसमें भी ये चरण - **भूदत्थमस्सिदो खलु सम्मादिट्ठी हवदि जीवो** (अर्थात्) भूतार्थ के आश्रय से ही जीव सम्यग्दृष्टि होता है। ये 415 गाथा में ये सबसे महत्त्वपूर्ण है।

मुमुक्षु :- बस! बाबूजी तो आप जितने दिन हैं, जितना भी चले बाबूजी, भले एक भी प्रवचन चले लेकिन हमारा ये भाव है कि आप कल से बाबूजी....

पूज्य बाबूजी :- नहीं वो नहीं! आप तो चर्चा ही चलाओ। पूरा नहीं होगा मुझे जाना है।

❖❖❖

तत्त्वचर्चा : क्रमांक 11

(4 फरवरी 1999)

इस चर्चा में सम्यक्त्व सन्मुख जीव की विचार धारा, विचार और चिन्तन में हेय बुद्धि, उपासना का स्वरूप प्रयोग पद्धति आदि विषयों का मार्मिक स्पष्टीकरण किया गया है।

सम्यक्त्व सन्मुखता

मुमुक्षु :- ज्ञान और श्रद्धा का कार्य एक ही साथ किस तरह होता है कि जिसके फल में आत्मानुभूति होती है? कृपा करके स्पष्ट करें।

पूज्य बाबूजी :- प्रश्न में अज्ञान दशा की बात है क्या?

मुमुक्षु :- हाँ जी! ज्ञान और श्रद्धा का कार्य एक ही साथ किस तरह होता है कि जिसके फल में आत्मानुभूति होती है?

पूज्य बाबूजी :- जो प्रारम्भ है, वो तो मुख्यरूप से ज्ञान से होता है। बल्कि इससे भी पहले यदि परिणामों में विशुद्धि हो पुण्यभाव-शुभभाव हो मन्द कषाय हो, तो उस मन्दकषाय की भूमिका में जब सद्गुरु का योग मिले और आत्मा का वास्तविक स्वरूप सुनने को मिले तो उसका नाम देशना है। तू शुद्ध चैतन्य है! आया न समयसार में कि शिष्य मलेच्छ की तरह आँखें फाड़कर देखता है जैसे कोई अपूर्व बात और नई बात सुनी हो। इस तरह बड़ी उत्सुकता से गुरु की वाणी सुने और उसे उपलब्ध करे, लब्ध करे उसे। देशनालब्धि है न! तो देशना तो गुरु की पर्याय है और देशनालब्धि वो शिष्य की पर्याय है।

ऐसी जो विशुद्ध भूमिका है, इसमें गुरु की वाणी के अनुसार शुद्धात्मा की बात सुने और उस पर पूरा ज्ञान पूर्वक विश्वास करे। शुद्धात्मा के स्वरूप का ज्ञान और उसका विश्वास। विश्वास माने ऐसा ही है - इसका नाम विश्वास।

जब ऐसा होता है तो ज्ञान उस शुद्धात्मा के चिन्तन में लग जाता है। तो उधर जो मिथ्यात्वदशा होती है मिथ्यात्व की पर्याय, वो ढीली पड़ती जाती है, उसमें कमी नहीं होती। माने उसमें ऐसा नहीं है कि थोड़ा मिथ्यात्व टूट गया और थोड़ा रह गया – ऐसी स्थिति दर्शन और ज्ञान में नहीं होती। ज्ञान या तो अज्ञानरूप रहे अथवा सम्यग्ज्ञान रूप रहे। इसी तरह श्रद्धा में भी भी मिथ्याश्रद्धा–मिथ्यादर्शन अथवा सम्यग्दर्शन – ये दो ही विकल्प होते हैं।

जब ज्ञान ने बड़ी महिमापूर्वक शुद्धात्मा की चर्चा, उसके वैभव की चर्चा सुनी कि तू वैभवशाली तत्त्व है – ऐसा सुनते ही जिसे अपने वैभव की महिमा आवे। जो अनन्त गुणों की संपत्ति है उसे आत्मा का वैभव कहते हैं। गुण एक वैभव की तरह ही होता है। किसी व्यक्ति को जगत की सारी कलायें नहीं होतीं लेकिन एक कला होती है उसमें वह निपुण होता है। तो उसे उसका काफी अहम् बल्कि अहंकार लोक में होता है कि – मेरी जैसी विद्या किसी दूसरे के पास नहीं है।

वो तो लौकिक बात हुई लेकिन लोक में भी जो गुण होता है, तो उसकी यदि पूर्णता हो, उसमें यदि वो perfect (निपुण) हो, तो वहाँ भी अहम् जागृत होता है। माने उस कला को वो अपना वैभव मानता है। उसी तरह ये लोकोत्तर मार्ग में जब आत्मा की गुण सम्पत्ति अर्थात् उसके वैभव की बात गुरु से सुनता है कि – तू वर्तमान में ही सम्पूर्ण है और तुझे किसी की सहायता और किसी के सहयोग की आवश्यकता नहीं है। तू स्वयं ही इतना पूरा है कि तुझमें वर्तमान में भी जरा भी कमी नहीं है! तू शुद्ध चैतन्यतत्त्व है – ऐसा जब वो सुनता है तो फिर नास्ति से देखता है कि ये जो दिखायी देने वाली चीजें हैं, इनमें ये बात तो है ही नहीं। और मैं इनसे कोई भिन्न तत्त्व हूँ – इस तरह अस्तित्व की श्रद्धा हो जाती है। जैसा गुरु ने कहा उसके अनुसार जो ज्ञान है मतिज्ञान और मुख्यरूप से श्रुतज्ञान, वो उसके चिन्तन में तल्लीन होता है। इधर ये ज्ञान तल्लीन होता

है शुद्धात्मा के चिन्तन में और उधर मिथ्यात्व ढीला होता है। इसलिए चिंतन को शुरू करता है। अगर महिमा न आवे तो उस चिन्तन में break (विराम) होगा बार-बार...और दूसरे भाव बीच में आकर उस चिन्तन को खण्डित कर देंगे, लेकिन अनुभूति का मार्ग है और चिन्तन का जो मार्ग है, वो ऐसा नहीं है।

विचार न भी चले और उपयोग किसी अन्य पदार्थ की ओर भी हो तो भी एक बार आत्मा की महिमा हृदय में बैठ जाए, तो वो अनवरत रूप से चलती है। बिना रुकावट के अविराम चलती है। जैसे कोई गृहस्थ है तो उसके पास कार्य तो बहुत होते हैं, लेकिन उन सब कार्यों को करता हुआ भी उसे उस शुद्धात्मा का महत्त्व हृदय में स्थापित रहता है, पड़ा रहता है।

लोक में भी ये बात बिल्कुल कार्यान्वित होती है, चरितार्थ होती है कि जैसे अपना कोई इकलौता बच्चा हो और उसे कोई बड़ा कष्टसाध्य रोग हो जाए तो हम उसे हॉस्पिटल में प्रविष्ट कर देते हैं और बड़े चिन्तित रहते हैं कि बीमारी बड़ी भयंकर है, मिटेगी अथवा नहीं। तो जो चिन्ता है वो हमारे हृदय में बैठ गई। हम और काम भी करते हैं, खाते भी हैं, पीते भी है, अन्य लोगों से बातचीत भी करते हैं, सब कुछ करते हैं। ये सारा काम करते हुए भी भय तो रहता है ऊपर ही ऊपर और भीतर वो एक स्थाई चिन्ता बैठी रहती है। जैसे रात को सोये और किंचित् थोड़ी नींद आवे तो जागते ही हॉस्पिटल याद आता है अथवा वो बच्चे का बिस्तर याद आता है।

इसी तरह जैसे आचार्य ने इसके लिए जो छह महीने का समय दिया अधिकतम, वो बिना break (विराम) वाला दिया है। अविराम... अविराम उसकी महिमा, माने सर्वोच्च महिमा, सर्वोत्कृष्ट महिमा शुद्धात्मा की! जगत में जितने पदार्थ हैं उनकी अपेक्षा सर्वोत्कृष्ट और सर्वोच्च महिमा शुद्धात्मा की हो और अन्य की, जरा भी किसी और की महिमा

न हो। अन्य माने उस शुद्धात्मा से अनमेल जितने भाव हैं, अपनी विकारी पर्याय – पाप और पुण्य हो अथवा अपनी निर्विकारी पर्याय सिद्ध दशा तक हो, इसके अतिरिक्त कर्मादिक और जगत के अन्य पदार्थ उन सबकी रंचमात्र भी महिमा न हो....तो वो सिर्फ ज्ञेयतत्त्व जैसे हों, ज्ञेय ही हों। 'जैसे हों' माने वो सारे के सारे ज्ञेयकोटि में चले जायें और एकमात्र उपादेय अर्थात् अहम् की कोटि में शुद्धात्मा ही रहे – इसतरह की महिमामय चिन्तनधारा जब चलती है, तो उसमें छह महीना तो अन्तिम सीमा दी है आचार्य ने; अन्यथा वो तो हम अब भी कर सकते हैं, अभी भी हो सकता है।

सम्यग्दर्शन और आत्मानुभूति अभी यहाँ बैठे-बैठे भी हो सकती है। पुरुषार्थ की प्रबलता चाहिए। छह महीने तो पुरुषार्थ का एक धीमा क्रम है। त्वरा से यदि कोई खरगोश की चाल से चले और एक कछुए की चाल से चले, तो मंजिल तक जाने के लिये कछुए की चाल वाले को छह महीने चाहिए और खरगोश की चाल वाले को एक दिन या दो दिन चाहिए। उसी तरह जिसे आत्मदृष्टि प्रबल हुई है, महिमा अत्यन्त जागी है, तो उसका तो धारावाहिक और बहुत तेजी से चिन्तन चलता है और वो चिन्तन रुककर अनुभूति प्रगट हो जाती है और उसी समय सम्यग्दर्शन का जन्म हो जाता है, इसलिए दोनों एक साथ होते हैं। **ज्ञानात्मक विकल्पों में निरन्तर चिन्तन चलता है; क्योंकि ज्ञान जानता है; ज्ञान के अतिरिक्त जो राग के विकल्प हैं या अन्य कोई गुण या गुणों की पर्याय हैं वो जानने का काम नहीं करती, इसलिए जो जानकर महिमा लाता है तो उसका काम बनता है।**

जिसने आत्मा के स्वरूप को ज्ञान में अत्यन्त स्पष्ट जाना और उसको इसतरह का क्रम महिमामय चिन्तन का बना; फिर वो प्रायोग्यलब्धि से करणलब्धि में प्रवेश कर जाता है और करणलब्धि में तो ये निश्चित होता है कि वो आत्मा का अनुभव करके ही रहेगा और वापिस नहीं

आएगा। प्रायोग्य तक आकर वापस चला जाता है और वो अभव्य तक को भी हो जाती है।

विचार और चिन्तन भी हेय हैं

जो उत्कृष्ट महिमा है वो करणलब्धि में होती है। करणलब्धि तो परिणामों का ही नाम है और असल में वो चिन्तन ही है। तो उसमें एकमात्र ज्ञायक ही चिन्तन में रहता है। पहले तो गुणों के माध्यम से ही विचार करता है, फिर एकमात्र चिन्मात्र ज्ञायक – बस इतना रहता है क्योंकि विचार में उसे अन्तर-प्रीति नहीं है लेकिन बाहर से अनुराग है। अन्तर-प्रीति नहीं है क्योंकि विचार हेयतत्त्व है और बाहर से उनसे अनुराग है क्योंकि उसे ये चिन्तन और विचार नहीं चाहिए, उसे तो आत्मा चाहिए। इसलिए वो चिन्तन रुक जाता है और उसके स्थान पर अनुभूति का घनत्व प्रगट हो जाता है। उसी समय सम्यग्दर्शन – आत्मा की प्रतीति और अहम् करता हुआ उत्पन्न होता है। तो दोनों एक साथ होते हैं और दोनों में कोई अनुपात अर्थात् percentage पर्याय में नहीं होता। ये अनुपात की सारी बात चारित्र में होती है, सुख-दुख में होती है, इसमें श्रद्धा में नहीं होती।

मुमुक्षु :- अन्दर से आत्मा का विचार और चिन्तन नहीं चाहिए क्या?

पूज्य बाबूजी :- नहीं चाहिए! नहीं चाहिए तो भी वो हुए बिना नहीं रहता, क्योंकि वो मार्ग यही है। जैसे हमें बंबई आना है। हम बाहर गए हैं और बंबई वापस आना है, तो बीच में स्टेशन बहुत पड़ते हैं। तो हम कहते हैं हमको एक भी स्टेशन नहीं चाहिए, हमको बंबई चाहिए। लेकिन स्टेशन आए बिना नहीं रहते और हमारी उनके आने पर अन्तर-प्रीति जागृत नहीं होती, उनके प्रति ममत्व जागृत नहीं होता। बल्कि ये चाहते हैं कि कब चले ट्रेन जल्दी...ऐसे भीतर से मन में आतुरता रहती है; और इसलिये फिर अपने स्थान पर पहुँच जाते हैं।

वरना कोई स्टेशन बहुत अच्छा आ जाए या वहाँ पर कोई विशेष दृश्य हो और यदि स्टेशन में प्रीति होगी तो वहीं उतर कर ठहर जायेंगे, लेकिन कैसा ही हो पर हम अपने गाँव आकर ही विश्राम लेते हैं और वास्तव में वहीं विश्राम मिलता है। लंदन भी कोई जावे और महीने-पन्द्रह दिन घूमे तो भी अन्त में कहता है 'अब तो चलें बस'। भाई! चले क्यों ? तुम्हारे पास तो रहने के लिए अपना घर भी नहीं है, किराए का मकान है। तो चलें क्यों ? और ऐसे दृश्य तो वहाँ दिखते भी नहीं हैं, फिर क्यों चलें ? लेकिन यहाँ सुख कहाँ है ? यहाँ तो ये केवल देखने मात्र की वस्तुयें है, इनमें अपना क्या है ? इसलिए घर में जो मिलता है वो कहीं दूसरी जगह नहीं मिलता है।

ऐसी कहावत भी है – जो सुख छ्ज्जु के चौबारे, वह न बलख न बुखारे। छ्ज्जु की जो झोपड़ी है उसमें जो सुख है, वो बलख और बुखारे में भी नहीं है। East or West, Home is Best. इसलिए अपना घर ही सर्वोत्कृष्ट लगता है तो उसे वो मिल जाता है।

मुमुक्षु :- बाबूजी! आत्मा की जो अनन्त गुण सम्पत्ति है, उसका एहसास कैसे आये ?

पूज्य बाबूजी :- उसका एहसास इस तरह आता है कि जैसे हमसे पूछा जाए कि तुम कमाई कर रहे हो, तो बोलो! कितना पैसा चाहिए तुमको ? तो हमारा उत्तर क्या होगा ? कि असीम चाहिए; गिनने में आ जाए वो क्या पैसा ? ऐसा चाहिए कि वो गिनने में ही न आवे। पैसे के सम्बन्ध में जब इतनी बात है तो आत्मा में भी सम्पत्ति कितनी चाहिये ? कितने गुण चाहिए ? क्योंकि आत्मा में कार्य अनन्त होते हैं। अगर अनन्त न हों तो आत्मा को निश्चितरूप में पराश्रित होना पड़े। किसी एक कार्य के लिए दूसरे की राह देखना पड़े और दूसरे से सहयोग लेना पड़े। अनन्त होते हैं इसीलिए वो स्वाश्रित रहता है। अपने बल पर खड़ा रहता है, सदा खड़ा रहा है, इसीलिए अनन्त गुणों की आवश्यकता है।

ज्ञान जैसा गुण जिसे प्राप्त है....जैसे किसी के घर में जो पलंग है सोने (निद्रा) का, तो वो सोने (स्वर्ण) का हो, सोने (निद्रा) का पलंग सोने (स्वर्ण) का हो। तो हम उसे देखकर क्या अनुमान लगायेंगे? कि इस व्यक्ति के पास कितना पैसा होना चाहिए? कि सोने का पलंग भी है क्या उसकी संपत्ति? सोने (निद्रा) का पलंग तो सबसे बाद में बनता है, पहले तो संपत्ति होती है।

उसी तरह ज्ञान जैसा वैभवशाली गुण जिसके भीतर हो, सुख जैसा हो, तो अन्य कितने होंगे...अनुमान से और आगम से इस बात की सिद्धि और विश्वास हो जाता है। युक्ति से विश्वास होता है कि जिसके पास ऐसा गुण हो तो इसके पास और अन्य गुण कितने होंगे! और इसीलिए ये सारा प्रावधान कुदरत का ही है कि इसने हर पदार्थ को अनन्त गुण दिए हैं जिससे वो किसी दूसरे के आश्रित न रहे और हर समय स्वाश्रित रहकर ही अपना काम करे; इसलिए गुण अननत होते हैं।

इस प्रकार सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान एक साथ पैदा होते हैं। प्रश्न में और क्या है?

मुमुक्षु :- ज्ञान और श्रद्धा का कार्य एक ही साथ किस प्रकार होता है?

पूज्य बाबूजी :- हाँ! ज्ञान तो ऊधर चिन्तन करता है और मिथ्या श्रद्धा ढीली होती जाती है और वो आत्माभिमुख होने की तैयारी में रहती है। ढीली होते-होते जिस समय ये ज्ञान आत्माभिमुख होकर आत्मा को ज्ञेय बनाकर आत्मा का अनुभव करता है, तो तत्काल ही श्रद्धा वरमाला डालकर सम्यग्दर्शनरूप हो जाती है।

मुमुक्षु :- सारा कार्य ज्ञान में ही होता है?

पूज्य बाबूजी :- ज्ञान से ही प्रारम्भ होता है। जानने का काम और कौन करेगा? श्रद्धा तो जानती नहीं है, श्रद्धा में तो ज्ञान नहीं है और ज्ञान

अन्य किसी गुण में भी नहीं है। अचेतन जगत में भी नहीं है और आत्मा में भी सिर्फ ज्ञान ही है जाननेवाला और कोई है नहीं। तो जाने बिना कोई भी कार्य होगा तो उसका नाम अंध-विश्वास होता है। Blind Faith होता है। इसलिए दोनों कार्य साथ-साथ चलते हैं। श्रद्धा और ज्ञान में जो अन्तर है, उस पर अपन चर्चा कर चुके हैं।

त्रिकाल शुद्ध की उपासना क्यों ?

मुमुक्षु :- छठवीं गाथा में आया है कि 'उपासित होता हुआ शुद्ध कहलाता है।' तो जो त्रिकाल शुद्ध है, वो शुद्ध तो है ही और स्पष्ट प्रकाशमान ज्योति भी है ही; तो उसे उपासना करके ही शुद्ध क्यों कहे ?

पूज्य बाबूजी :- जो व्यक्ति आत्मा को शुद्ध कहता है (अनुभव करता है), यह कथन उसकी अपेक्षा है, लेकिन जिसे शुद्धता की अनुभूति हुई ही नहीं तो उसके लिए शुद्ध कहाँ है ? उसके लिए तो अशुद्ध ही है। इसलिए शुद्ध की अनुभूति करता हुआ शुद्ध कहलाता है। तो उसके लिए शुद्ध कब हुआ ? कि जब उसकी साक्षात् अनुभूति हुई, प्रत्यक्ष स्व-संवेदन हुआ तब वो शुद्ध है - तब उसको ज्ञान में और श्रद्धान में निश्चय हुआ।

अपन को वो उपासना पर्याय लगती (दिखती) है न! इसलिए प्रश्न होता है.....ये सारी शंका इसलिए पैदा होती है। यहाँ तो मुख्यरूप से पर्याय रहित द्रव्य का वर्णन है, जिसमें प्रमत्त और अप्रमत्त नहीं है। फिर आचार्य ने ये बीच में उपासना क्यों ली ? उपासना तो पर्याय है।

मुमुक्षु :- ये ही आगे का प्रश्न है ?

पूज्य बाबूजी :- हाँ! वही है। 'उपासित होता हुआ शुद्ध कहलाता है' लेकिन हम उसे शुद्ध कब मानेंगे ? हमने कब उसको शुद्ध माना ? शुद्ध कहते तो बरस हो गए। हो गए न, 45 वर्ष तो गुरुदेव के हो गए

और उसके बाद के भी शुद्ध के ही हैं, सारे वर्ष जो चल रहे हैं। तो आत्मा तो शुद्ध है, आत्मा तो शुद्ध है; तो उससे कहते हैं कि तुम्हारे लिए नहीं है। तुमको उसकी शुद्धता की अनुभूति ही नहीं हुई तो शुद्ध कैसे है?

जैसे एक व्यक्ति झूठ तो बहुत बोलता है और कहता है कि झूठ बोलना बुरा है और सत्य जो है वो तो अमृत है बिल्कुल; वो तो बहुत सुन्दर है – ऐसा कहता है। पर तेरे लिए नहीं है; ये तो जो सत्य बोलता है उसके लिए है। इसीतरह शुद्धता की उपासना हो अर्थात् मैं शुद्ध हूँ, त्रिकाल ज्ञायक हूँ – तो वो शुद्ध कहलाता है। इसलिए पर्याय को आचार्य ने साथ लेकर प्रतिपादन शुद्धात्मा का ही प्रतिपादन किया है।

असल में क्या है कि शुद्धद्रव्यरूप परिणमित जो पर्याय है अर्थात् शुद्धात्मा को जानता हुआ जो परिणमन कर रहा है, उसको परिणामी द्रव्य कहा है! परिणामी द्रव्य ये जानता है कि मैं अपरिणामी हूँ। उपासना करने वाला ये जानता है कि मैं शुद्ध हूँ अर्थात् अपरिणामी हूँ, अकर्ता हूँ।

मुमुक्षु :– प्रश्न आगे भी है थोड़ा-सा कि स्पष्ट प्रकाशमान ज्योति भी है ही तो उसे उपासना करके ही शुद्ध क्यों कहें?

पूज्य बाबूजी :– जो शुद्ध है और स्पष्ट प्रकाशमान ज्योति है, वो तो द्रव्य है। द्रव्य स्वयं तो अपनी उपासना नहीं करता है, वो तो उसे पर्याय शुद्ध कहती है। पर्याय शुद्ध कह रही है तो उसे शुद्धता का अनुभव हो तब न उसका कहना और विचार करना, चर्चा करना सार्थक है? अगर उसे द्रव्य की शुद्धता की अनुभूति ही नहीं है, तो फिर दूसरा जो विकल्प है वो तो अशुद्धता का है। जैसा अनादि से अशुद्ध मानता रहा है, उसी तरह वो कहता शुद्ध है और मानता अशुद्ध है। इसलिए तेरे लिए वो शुद्ध

नहीं है। उसकी शुद्धता तेरे लिए किसी प्रयोजन की नहीं। इसलिए उपासित होता हुआ शुद्ध कहलाता है।

उपासना में भी उपादेय बुद्धि नहीं है

मुमुक्षु :– फिर भी उपासना करना (द्रव्य के लिए) जरूरी है क्या?

पूज्य बाबूजी :– नहीं! लेकिन उपासित होता हुआ शुद्ध कहलाता है। प्रारम्भ से ही जब उसे विचारों में भी द्रव्य की दृष्टि हो, द्रव्य की श्रद्धा हो तो वो द्रव्य की श्रद्धा ही रखता है। उसे श्रद्धा की श्रद्धा नहीं है। उपासना की श्रद्धा, उपासना की उपासना नहीं है उसको। लेकिन उसे शुरू से ही शुद्ध द्रव्य की उपासना, शुद्ध द्रव्य की श्रद्धा है, इसीलिए श्रद्धा की श्रद्धा नहीं है। शुद्ध द्रव्य की ही ऐसी श्रद्धा है कि 'मैं शुद्ध हूँ।' तो इसमें श्रद्धा की श्रद्धा कहाँ हुई? ये तो द्रव्य की ही श्रद्धा है। इसलिए यहाँ उपासना को ऊपर नहीं किया है; ऊपर तो शुद्ध द्रव्य ही है क्योंकि ये उपासना करने वाली है न! तो उपास्य देवता बड़ा है या उपासक और उपासना बड़ी है? देवता बड़ा है या पुजारी बड़ा है? ये उपासना तो पुजारी है। देवता बड़ा है और देवता तो शुद्ध चैतन्य है।

मुमुक्षु :– तो कहते हैं कि अगर उपासना करना फिर भी जरूरी है, तो उपासना कैसे करें?

पूज्य बाबूजी :– उपासना उसकी दृष्टि में है ही नहीं। उपासना करना जरूरी है – ऐसे उसको उपासना होगी ही नहीं क्योंकि उसने तो उपासना को बड़ी माना है और ऐसा माना है तो उसे शुद्धात्मा की उपासना नहीं हुई, इसलिए वो कुरूप सा है अर्थात् ugly जैसा। ये ऐसा मानता है कि उपासना से उसकी शोभा बढ़ जाएगी। द्रव्य को उपासना की जरूरत ही नहीं है, क्योंकि वो तो बिना उपासना के ही सम्पूर्ण है। वो बिना उपासना के ही सब तरह से पूर्ण हैं, इसलिए ये उपासना करने वाला भी मैं उपासना करता हूँ इसतरह उपासना नहीं करता; बल्कि मैं उपास्य हूँ – इसका नाम

उपासना है। मैं तो उपास्य देवता हूँ, मैं उपासना नहीं हूँ; वो उपासना तो बाहर निकल गई और उपास्य देवता उस उपासना में ज्ञायक की तरह पसर गया।

मुमुक्षु :- माने उपासना इस तरह की जाती है कि मैं उपास्य हूँ। मैं उपासना करने वाला हूँ – ऐसा नहीं ?

पूज्य बाबूजी :- उपासना करने वाला नहीं हूँ, सम्पूर्ण उपास्य हूँ। उसमें उपासना को देखना नहीं है। उपासना को देखे तो उसने उसको अपूर्ण माना, द्रव्य को अपूर्ण माना तो देखेगा किसमें ? इसलिए वो तो पूर्ण है, तो उसे उपासना की आवश्यकता नहीं है, इसलिए ये तो उपासना अर्थात् सम्यग्दर्शन में तो बहुत सामान्य बात है कि उसे सिद्ध दशा की भी आवश्यकता नहीं है।

विकल्पों में ये बात आती है कि अभी तो बहुत विकार बाकी है। विकार कब जाएगा ? सिद्धों जैसा आनन्द कब मिलेगा – ऐसा विकल्प आता है, लेकिन इन सारे विकल्पों और विचारों के प्रति उसे हेयबुद्धि है और मैं अकेला शुद्धात्मा हूँ – यही उसको मुख्य है।

मुमुक्षु :- और पूछते हैं कि करने वाली बात से कर्ताबुद्धि तो नहीं हो जानी है ?

पूज्य बाबूजी :- अब ये करने वाली कहाँ रही ? उसको तो करने से इन्कार है। इसको भीतर से इनकार है कि मुझे उपासना नहीं करना है। मैं तो उपास्य हूँ, मैं उपासना किसकी करूँ ? जो उपास्य है, देवता है वो किसकी पूजा करे ? तो मुझे पूजा करना है, उपासना करना है, उसको इसकी तो श्रद्धा ही नहीं है। अगर वो आत्मा के अनुभव की चेष्टा इस तरह करता है, तो उसे अनन्तकाल तक भी अनुभव होगा ही नहीं। सिद्ध दशा को भी सामने रखकर करता है तो अनन्तकाल तक सिद्ध दशा प्रगट नहीं होगी। उसे मिथ्यादर्शन ही रहेगा, सम्यग्दर्शन भी नहीं होगा। ये तो

सम्यग्दर्शन की विधि है। वो देवता बने, वो उपासक न बने, पुजारी न बने! मैं तो देवता ही हूँ।

मुमुक्षु :- उपासक की ध्वनि बदल जाती है?

पूज्य बाबूजी :- हाँ! उपासक का स्वर बदल जाता है और वो उपास्य बन जाता है। ये अभेदता की पराकाष्ठा है।

मुमुक्षु :- उपासना करने की रीति ये है कि मैं उपास्य हूँ?

पूज्य बाबूजी :- मैं तो स्वयं उपास्य हूँ, मैं तो देवता हूँ। मैं किसकी उपासना करूँ? स्वयं भगवान हूँ स्वयं तो मैं किससे माँगूँ?

ये तो अपन पहले सुनते थे कि ये आत्मा को शुद्ध तो कहता है, लेकिन ये पर्याय पर बैठकर ज्ञायक की चर्चा करता है। अगर वो उपासना में रुक गया तो पर्याय में बैठकर ज्ञायक की चर्चा कर रहा है। 'ये तो सब ठीक है कि आत्मा शुद्ध है, लेकिन अभी अनुभूति तो हुई नहीं' - तो तेरे को अनुभूति नहीं होगी, क्योंकि तू उधर शुद्धात्मा कह रहा है और इधर अनुभूति में तुझे प्रीति है। 'अनुभूति तो अभी हुई नहीं' - इस पर बल है न उसका। 'शुद्ध तो हूँ लेकिन अभी अनुभूति तो हुई नहीं' - तो वो अनुभूति को वर्चस्व दे रहा है और शुद्धात्मा को वर्चस्व नहीं दे रहा, वो शुद्धात्मा को उत्कृष्ट नहीं मान रहा।

मुझे अनुभूति की आवश्यकता ही नहीं है। मैं अनुभूति के बिना कोई कुरूप थोड़े ही लगता हूँ और मेरे में अनुभूति को जोड़ने के लिए गुंजाइश कहाँ है? मैं अनुभूति को कहाँ रखूँगा? क्योंकि मैं तो गुणों से भरा हुआ हूँ, मैं तो भरचक हूँ, तो भरचक में उपासना को मैं कहाँ रखूँगा? इसलिए 'मुझे उपासना की आवश्यकता नहीं है', इसको कहते हैं उपासना। जिसे उपासना की आवश्यकता कतई न हो, उसे उपासना कहते हैं।

जिसे अनुभूति चाहिए उसने अनुभूति का गौरव माना न! वर्चस्व

उसको दिया न! तो फिर उसने शुद्धात्मा को कहाँ माना? उसका वर्चस्व कहाँ माना? और वो तो त्रिकाल महान है। उसमें तो कभी घटने की कोई गुंजाइश ही नहीं है और ये तो साक्षात् नई पैदा हुई है। ये पहले थी ही नहीं, बिल्कुल नई आई है।

मुमुक्षु :– पर्याय जब अपने को अपरिणामी समझे तभी वो पर्याय है, बाकी वो पर्याय ही नहीं है?

पूज्य बाबूजी :– हाँ! पर्याय तो है लेकिन मिथ्या होगी, शुद्ध पर्याय नहीं है।

मुमुक्षु :– अभेदता की चरम सीमा भी यही है?

पूज्य बाबूजी :– अभेदता की चरम सीमा अर्थात् जहाँ हैं तो दो लेकिन एक हो जाएँ, एक ही दिखाई दे, एक ही रहे तो अभेदता की चरम सीमा हो गई। तो अब क्या होगा, इससे आगे क्या है? इससे आगे कोई दूसरा step (चरण) ही नहीं है। इसलिए पर्याय इस तरह विलीन हो गई कि अकेला द्रव्य ही दिखाई दे रहा है। अकेला द्रव्य ही रह गया माने, दिखाई क्या देता है? अकेला द्रव्य ही रह गया। मैं तो चिन्मात्र हूँ, बस इतना।

मुमुक्षु :– पर्याय इस तरह विलीन हो गई कि अकेला द्रव्य ही दिखाई दे रहा है?

पूज्य बाबूजी :– दिखाई नहीं दे रहा है! वही हूँ बस। माने स्वर अहम् का होना चाहिए। मैं हूँ – ऐसा अनुभव होता है।

मुमुक्षु :– जानने का स्वर भी नहीं?

पूज्य बाबूजी :– जानने का नहीं। जानने का या श्रद्धा करने का भी नहीं क्योंकि वो तो उपासना है।

मुमुक्षु :– राग में अहम् जल्दी हो जाता है! इसमें नहीं होता बाबूजी।

पूज्य बाबूजी :– राग में तो चला ही आया है न! वो तो चला ही आया है; तो उसे तोड़ने की पद्धति ये है कि ज्ञान जो है वो (श्रद्धा के लिए) कोई अच्छी जगह टटोले। पहले तो राग–द्वेष, पुण्य–पाप सारी दुनिया, इनमें उसने स्थान बहुत ढूँढ़े, आश्रय बहुत ढूँढ़ा। नहीं मिला! तो भी उसका जो प्रयत्न है वो यही रहा कि कभी न कभी तो होगा। लेकिन जब ज्ञान, गुरु से एकदम प्रोत्साहित हुआ तो उसकी आतुरता चैतन्य के प्रति बढ़ी, तब वो काम होता है। चैतन्य के प्रति आतुरता बढ़े तो फिर चिन्तन चलता है। **रागादिक तो अनादिकाल से हैं, लेकिन तोड़ने का उपाय ये ही है न कि राग से उत्कृष्ट वस्तु मिले। राग से उत्कृष्ट वीतरागता और वीतरागता से उत्कृष्ट शुद्ध चिन्मात्र–ज्ञायक है। वो अंतिम destination (गंतव्य) है।**

मुमुक्षु :– मतलब सबका राग तो छूटे बाबूजी! पर दिक्कत क्या होती है...

पूज्य बाबूजी :– राग–बाग कुछ छोड़ना नहीं है न! छोड़ना अथवा ग्रहण करना – ये आत्मा में है ही नहीं। शुद्ध चिन्मात्र हूँ – इसके बाद कुछ बचता ही नहीं है। उसके बाद वो कहे कि राग है, तो कहें कि कहाँ है राग ? तेरे में राग बता! तेरे में राग होता तो तुझे राग सहित अनुभव किया जाता, पर तेरे में राग ही नहीं है तो राग सहित अनुभव भी कैसे हो ? इसलिए अनुभव में राग की अनुभूति नहीं होती, चिन्मात्र की अनुभूति होती है।

प्रयोग पद्धति

उसमें राग है ही नहीं न! उसमें है ही नहीं न – ऐसे निर्णय में एकान्त नहीं है। ये एकान्त नहीं है ये तो प्रयोग पद्धति है। इस प्रयोग पद्धति में जो शुद्ध द्रव्य है, उसी का वर्चस्व रहता है, ज्ञान जानता जरूर है इतना कि विकार अभी शेष है, लेकिन क्या करे उसका विकार का ? जैसे पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल का क्या करे ये... उनको देख–

देखकर? इसी तरह राग को देखकर ये क्या करे? जैसे वो स्वीकार हैं ऐसे ये भी स्वीकार है कि बस! है, है, है। है माने पड़ा होगा कहीं। बस! कहीं पड़ा होगा। मेरे में तो नहीं है – इसका स्वर ऐसा बलवान हो जाता है।

मुमुक्षु :– प्रयोग की पद्धति ये है?

पूज्य बाबूजी :– प्रयोग की पद्धति ये है कि वो स्वीकार करता है – उसका नाम व्यवहारनय है। वो तो गौण है न सारा! पड़ा है कहीं। पड़ा होगा माने, ठीक! कहीं होगा, मेरे में तो नहीं है। यहाँ आकर वजन आना चाहिए कि मेरे में नहीं है। मेरे में विकार का बिल्कुल नाम-निशान ही नहीं है। कौन सा राग? कौन से राग की बात करते हो?

मुमुक्षु :– सब राग तो छूट जाए पर आत्मा का राग तो रखें तो?

पूज्य बाबूजी :– नहीं! आत्मा का राग रखें तो भी आत्मा न मिले। बीच में अन्तर पड़ गया न। 'आत्मा का राग' इसमें बीच में आत्मा में और आत्मा के राग में space (अन्तर) है न। Space नहीं होनी चाहिए, उसे अभेदता कहते हैं। सट जाए माने एक दूसरे से; जैसे दूध में शक्कर घुल जाती है इस तरह से सट जाए। पर्याय तो प्रलीन हो जाती है, विलीन हो जाती है, अदृश्य हो जाती है और 'एक मात्र शुद्धात्मा हूँ' – बस! ये ही स्वर चलता है, श्रद्धा का भी और ज्ञान का भी। दोनों का एक ही स्वर चलता है।

जहाँ-जहाँ पर्याय का ख्याल आवे कि पर्याय में बहुत अशुद्धता है, अभी तो न मालूम पर्याय में शुद्धता कब होगी...लेकिन उसी समय ये ख्याल आवे कि – 'अरे! क्या कर रहा है? क्या सोच रहा है? तू चिन्मात्र है, वो कहाँ गया? ये क्या सोच रहा है! ये हल्की-फुलकी बातें, बिना प्रयोजन की, बिना काम की? अरे! एक बार उसकी ओर देखेगा तब तो ये थरथर काँपने लगेंगे, इनकी मौत ही आ जाएगी। उसकी ओर एक बार देख।'

ये सीधी प्रयोग की बात है और विकार की मौत हो ही जाती है। यदि उन पर विचार करे तो उनकी पुष्टि होती है। कि हाँ! चलो अच्छा है, अभी ये यहाँ तो मरा। और-और जगह जाने कहाँ-कहाँ मर रहा था, तो अब यहाँ आकर मर गया। और फिर इससे भी आगे शुद्ध पर्याय में मर जाएगा कि 'मोक्ष तो जाना ही है'; लेकिन ऐसा मानने वाला नहीं जाएगा।

जिसे मुक्ति नहीं चाहिए उसे और क्या चाहिए? मुक्ति नहीं चाहिए, वास्तव में नहीं चाहिए इसको। हृदय से है ऐसी बात! भले ही विकल्प करे, विचार करे लेकिन हृदय से ऐसी बात है कि मुझे मुक्ति भी नहीं चाहिए। मुक्त को मुक्ति? ये तो जैसे कलंक है।

मुक्त को मुक्ति का अर्थ है ये है कि ये मुक्त नहीं है। मुक्त नहीं है तो स्वयं कलंकित तो सिद्ध हो ही गया। पहले बंध में था, बंधन में था। तो कलंक तो लग ही गया! एक बार तो जेल चला गया! भले अब आगे आजीवन नहीं जाए और आदत सुधार ले, लेकिन जीवन में एक बार तो कलंक लग ही गया; तो मुक्त की क्या मुक्ति होगी? जो त्रिकाल मुक्त है, सदा मुक्त है, उसकी मुक्ति का क्या सवाल है? भाई! पहले ये तो बताओ कौन गया था जेल? जिसको कारावास हुआ ही नहीं जो बँधा ही नहीं, तो उसका मोक्ष क्या? **इसलिए ये सारी बातें होते-होते भी इन पर ज्ञानी का बल नहीं होता क्योंकि वो हमेशा अनुभूति में तो नहीं रहता, तो फिर ये ही बातें, सात तत्त्व का विचार, नव तत्त्व का विचार, स्व-पर का विचार, ये ही चलता है।**

मुनिराज तक को भी ये ही चलता है, छठवें में भी शुद्धात्मा की ही महिमा रहती है - ये आहार-विहार आदि तो सब गौण हैं; इतने हल्के-फुल्के कि जैसे आहार में जरा-सी कोई बात हुई कि भाग गए - अब तो चौबीस घंटे आहार का विकल्प ही नहीं आएगा। ऐसा विकल्प नहीं

आएगा कि आज तो आहार नहीं हुआ। शुद्धात्मा में लीनता में फरक नहीं पड़ेगा...अन्तर्मुहूर्त-अन्तर्मुहूर्त में, क्योंकि वहाँ तो आनन्द से पेट भरा है। ये सारी की सारी भोजनादिक प्रक्रिया तो दिखावटी है।

इसलिये उनकी हिरण जैसी वृत्ति होती है कि वो घास खा रहा हो और जरा-सी कोई आहट हो जाए तो भाग जाता है, रफू-चक्कर हो जाता है। मुनिराज की यही स्थिति होती है। कोई दोष या अन्तराय थोड़ा-सा भी तो दिखा तो चले जाते हैं। फिर भोजन की चर्चा ही नहीं। तो लोग-बाग बात करते हैं कि आज तो मुनिराज का आहार नहीं हुआ। किसका आहार? किसकी बात करते हो? कुछ और भी है बात? इतनी तीव्रता आनन्द की होती है न! मुनिराज प्रचुर आनन्दभोजी होते हैं, तो उनको क्या आहार वगैरह कि क्या चिन्ता? ठीक है! विकल्प शेष रह गया है तो आ जाता है। हुआ हो, न हुआ हो, इसकी थोड़ी भी चिन्ता नहीं। बिल्कुल चिंता नहीं; बल्कि वो तो परीक्षा और करते हैं कि शुद्धत्मा में स्थिर होकर कई-कई दिन के उपवास कर लेते हैं। विचार और ध्यान, विचार और ध्यान, चिन्तन और ध्यान - बस! ये दो ही अवस्थायें होती हैं।

मुमुक्षु :- वस्तु को स्वभाव से ही देखना है?

पूज्य बाबूजी :- उसी दृष्टि से ही देखना चाहिए; और-और जितनी भी बातें आवें उनमें जरा भी, थोड़ा भी वजन नहीं हो! वजन हो तो केवल शुद्धात्मा पर हो।

विचार तो अनेक आयेंगे, बहुत आयेंगे। कभी जो है वो सुखद विचार आयेंगे कि 'अरे! अब मुक्ति में ज्यादा देर नहीं है'; कभी जो है दुखद आयेंगे...'कितनी देर है, अभी तो चौथा ही गुणस्थान हुआ है, अभी तो दस और बाकी हैं', ऐसे-ऐसे इत्यादि। ऐसे सुख और दुख दोनों के विचार, दोनों तरह के आते हैं लेकिन वो बिल्कुल गौण हैं। फिर एकदम चौंकता है जैसे नींद से चौंके कि ये क्या कर रहा है? किसकी

बात कर रहा है ? ये तेरे हैं ? ये तेरे चिन्तन के लायक हैं ? तो फिर वह शुद्धात्मा के चिन्तन में लग जाता है।

ये सीधी प्रयोग की बात है! जिनके प्रति हेय दृष्टि पड़ी है उनका क्या चिन्तन करना ? उनका क्या चिन्तन ? हैं वो बस, हैं। हैं, होंगे।

सम्यग्दृष्टि को तो कितना बताया है कि वे साक्षात् जिन हैं! भगवान अरहंत-सिद्ध में और सम्यग्दृष्टि में कोई अन्तर नहीं है। लेकिन उसे राग तो होता है! तो आचार्यदेव एकदम कहते हैं कि 'उसको तो नहीं होता' - ऐसा प्रमाण है। सम्यग्दृष्टि को तो राग नहीं होता और विषयों को भी राग नहीं होता। तो फिर किसको होता है ? कि वो तो अज्ञानी की पर्याय है, तो उससे हमें क्या मतलब है ? वो राग अज्ञान का कार्य है। सम्यग्दृष्टि-ज्ञानी को तो ज्ञानमय भाव ही होते हैं। ऐसे वचन हैं! ज्ञानी को एक बार आत्मदर्शन, शुद्धात्मा का अनुभव हो जाने के बाद अनन्त काल तक ज्ञानमय भाव ही होते हैं, जैसे भगवान सिद्ध को होते हैं।

ज्ञानी को ज्ञानमय भाव ही होते हैं - ऐसा सुनने पर जिसकी बुद्धि पर्याय में पड़ी है वो पूछता है कि तो ये राग किसको होता है ? ये किसको होता है ? अरे ! वो उसको है ही नहीं। वो शुद्धात्मा को देख चुका है कि उसमें राग है ही नहीं। राग का तो नाम निशान ही नहीं है और अनुभव के समय भी राग होते हुए भी राग अनुभव में आता ही नहीं है। वीतरागता हो तो भी वीतरागता अनुभव में नहीं आती।[1] वीतरागता अनुभव में नहीं आती, क्योंकि वीतरागता तो उपासना है जो देवता की पूजा कर रही है।

मुमुक्षु :- वीतरागता तो उपासना है, माने वो पर्याय का स्वरूप है ?

पूज्य बाबूजी :- पर्याय तो देवता की पूजा कर रही है। देवता ही बन गई है माने एकदम ! वीतरागता उसी का नाम है।

1. वीतरागता का वेदन होता है, पर दृष्टि नहीं होती।

जोर ऐसा हो, जोर; जोर ऐसा हो। दुनिया कुछ भी कहे, अपना विकल्प अपना राग कुछ भी कहे तो कहते होंगे। वो सेठियाजी का आता है न एक उदाहरण; सरदार शहरवाले जो सेठियाजी थे, वे जाते थे गुरुदेव के पास। उनकी दीवालों पर किसी ने लिख दिया कि इनका दिवाला निकल गया है - ऐसा लिख दिया। तो अब लोग-बाग बार-बार उनके घर आवें और पूछें कि ये क्या हो गया आपको ? कि होने दो, लिखा होगा... मुझे क्या मतलब उससे ? किसी को कोई एक पैसे से लेकर और दस लाख तक भी लेना हो तो यहाँ मेरे पास आ जाओ। लिखा होगा, वो मेरे लिए नहीं है।

ये ज्ञानी का वचन होता है। कहते होंगे... दुनिया कहती है, अज्ञानी कहता है, राग है, द्वेष है, पुण्य-पाप हैं, मेरे पास तो है नहीं, क्योंकि पर्याय तो इतनी गौण हो गई है कि वो पर्याय का नाम ही नहीं लेना चाहता है न! अब गौण होने का एक अर्थ ये है कि वो उनका अस्तित्व स्वीकार करता है। तो अनेकान्त हो गया, एकान्त नहीं है। हाँ! वो एकान्त मानते हैं न! शुद्ध शुद्ध शुद्ध! तो और कुछ नहीं है क्या ? सबका अस्तित्व स्वीकार है, बस इतना! लेकिन करना क्या है, उससे काम क्या है ? मुझे तो उसको देखना भी नहीं है, क्योंकि यदि नहीं देखें तो चला जाता है और देखें तो पुष्ट होता है। दूना-दूना आता है। वो तो डायन जैसी दशा है।

मुमुक्षु :- डायन जैसी है, देखें तो खड़ी और न देखें तो चली!

पूज्य बाबूजी :- बस! साधक दशा में पहले विकल्प की दशा हो तो भी विकल्पों से छूटकर एकदम जैसे चौंककर ये बात आनी चाहिए कि - अरे! क्या कर रहा है ? कौनसा विचार ? कौनसा...किसका चिन्तन ? क्या है तू ? कौन है सचमुच ? तो बस! फिर उसी का वजन हो जाता है। तो यदि विचारों में भी ज्ञायक का ही वजन हो, फिर विचार का वजन भी नहीं रहता और विचार के विषय का वजन भी नहीं रहता।

विचार का विषय तो ज्ञायक ही है और विचार के विषय अगर दूसरे हैं तो उनका भी वजन नहीं है। ज्ञायक का वजन तो है ही सही!

पर्याय की बात ऐसी है कि उलझने के स्थान इतने हैं कि वो कहीं न कहीं जाकर भी, आखिर में शुद्ध पर्याय में तो उलझेगा ही उलझेगा। वहाँ तो उलझेगा ही उलझेगा और छूटकर कहाँ जाएगा? और नहीं तो फिर गुणों में उलझायेंगे तो वहाँ तक मिथ्यात्व नहीं छूटेगा – अटकने के स्थान बहुत हैं।

पात्रता का स्वरूप

मुमुक्षु :– ऐसी दृष्टि का जोर आने के लिए बाबूजी, क्या करना चाहिए?

पूज्य बाबूजी :– भूख लगनी चाहिए, प्यास लगनी चाहिए। अब भूख और प्यास तो है ही नहीं, तो चर्चा से क्या हो? चर्चा से पेट तो भरता नहीं है। लड्डू-लड्डू करे तो उसका मुँह मीठा थोड़े हो जाता है। ऐसे शुद्धात्मा शुद्धात्मा शुद्धात्मा...लेकिन असल में जो चर्चा है वो process (प्रक्रिया) जानने के लिए है। उसकी विधि जानने के लिए है। तो विधि में जो है शुद्धात्मा पर वजन आवे तो उस चर्चा की, प्रवचन की और सबकी सार्थकता है। उसी पर वजन एकदम वजन आना चाहिए!

मुमुक्षु :– बाबूजी! जिसको प्यास लगी होगी उसकी आन्तरिक दशा कैसी होगी?

पूज्य बाबूजी :– ये ही आन्तरिक दशा है और किसको लाना है? गुरु से सुनकर एक बार निश्चय तो कर लिया इसलिए गुरु को शास्त्र से भी वजनदार निमित्त कहा है – गुरु अंतरंग निमित्त हैं और जिनवाणी बहिरंग निमित्त है!

किसी की भी महिमा नहीं आवे, बिल्कुल सर्वोच्च महिमा इसकी

हो। इसका सिंहासन सबसे ऊँचा है, शेष सब मिट्टी हैं। सिद्ध दशा भी मिट्टी – इतना लगे उसको। इतना लगना चाहिए अर्थात् ऐसा लगे; ऐसा कहने की बात नहीं है। भीतर से ऐसा लगे कि और कुछ नहीं चाहिए।

मोक्ष किसको जाना है? जो बँधा होगा वो जाएगा। जब मैं बँधा ही नहीं सदा से तो मैं मोक्ष क्यों जाऊँगा? कौन है मुझे मोक्ष भेजने वाला? मुक्ति की अन्तर से चाह नहीं है। बाहर से अनुराग है, वो राग का काम है।

राग तो जब तक रहेगा तब तक अपना काम करेगा। वो तो मूर्ख है, मूर्ख है, इसलिए वो तो अपना काम करेगा ही करेगा, पागल है। जिस प्रकार से कोई सदस्य पागल हो, तो कोई भी मेहमान आवें वो तो उलटी-सीधी बातें करेगा। तो राग तो पागल है, वो तो ये बात करेगा ही करेगा....मोक्ष जाना है, अभी हुआ नहीं है, अभी बहुत देर लग रही है – ये सब बातें करेगा।

ज्ञान ने तो एक बार निश्चय कर लिया न! तो ज्ञान में वो एकदम पक्का हो गया। ज्ञान में जो व्यवहारनय चलता है ज्ञानी को उसका भी हेयत्व है। ये सब व्यवहारनय की बातें हैं कि मोक्ष जाना है, बन्ध बहुत है, बहुत पाप के भाव आते हैं, बहुत पुण्य के भाव कम आते हैं – इत्यादि इत्यादि इस तरह से। अज्ञानी इन्हीं विकल्पों में रहता है और शुद्धात्मा को स्वीकार नहीं करता, तो उसे कभी भी छूटने का प्रश्न ही नहीं है, बिल्कुल प्रसंग ही नहीं है।

मुमुक्षु :– बातों की अधिकता आ जाती है, उसकी अधिकता छूट जाती है। यही बात है बाबूजी!

पूज्य बाबूजी :– विकल्प की अधिकता हो जाती है, विकल्प मूढ़ है। तो उधर से दुनिया का विकल्प नहीं करके अब आत्मा का विकल्प करने लगा।

विकल्प और विचार के स्वर समान हैं

मुमुक्षु :– बाबूजी! विकल्प और विचार दोनों में कुछ अन्तर है?

पूज्य बाबूजी :– बहुत अन्तर है, जमीन–आसमान का! ज्ञान का जो विकल्प है वो तो आत्मा के स्वरूप को जानता हुआ प्रवर्तित होता है, जो विकल्प है उसका स्वर भी भले ज्ञान जैसा ही हो, लेकिन वो जानता नहीं है, क्योंकि जानना तो ज्ञान के पास है न! तो वो जानना राग के पास कैसे चला जायेगा? इसलिए वो तो बिना ज्ञानवाला है। बिना ज्ञानवाला होने पर भी उसकी प्रवृत्ति तो होती ही होती है, विकार है तो उसकी प्रवृत्ति होती ही रहती है। विकार अगर ज्ञान के स्वर में भी बोलने लगे तो भी उसमें समझ थोड़े ही है, इसलिए उसकी कीमत क्या है?

मुमुक्षु :– माने विचार और विकल्प में ज्ञान का विकल्प ज्ञान के साथ चलता है?

पूज्य बाबूजी :– ज्ञान का विकल्प तो जानता हुआ चलता है। और राग का विकल्प चलता है तो वो भले ही ज्ञान जैसा हो, लेकिन उसमें जानना नहीं होता। इसलिए उसकी कोई कीमत नहीं है, बिल्कुल कोई कीमत नहीं है।

दुकान पर जैसे पाँच वर्ष का बच्चा भी बैठा हो और पचास वर्ष का पिता बैठा है और कोई मुनाफे का काम किया उसने, लाभ का काम; तो पिता प्रसन्न था। तो वो बच्चा कहता है आज तो पिताजी बहुत कमाई हो गई न! तो उसको वो 'कमाई हो गई आज बहुत' इसका उसको पता है क्या? उस पाँच वर्ष के बच्चे को कमाई के स्वरूप का क्या पता? उसके बारे में तो पिता जानता है इसलिए उसको हार्दिक प्रसन्नता है; तो ये राग स्थानीय है।

जैसे एक गायक सितार बजाता है, हारमोनियम बजाता है। तो उस गाने वाले का स्वर और हारमोनियम का स्वर एक जैसा मिलता है। माने

वो जो शब्द उच्चारण करता है वही हारमोनियम में से निकलता है, लेकिन वो जो गाने वाला है, वो तो जानता है कि मैं क्या गा रहा हूँ और इसका क्या अर्थ है, परन्तु वो हारमोनियम तो नहीं जानता न! वो रागस्थानीय है और ये ज्ञानस्थानीय है।

मुमुक्षु :- माने विचार रागस्थानीय है?

पूज्य बाबूजी :- विचार तो ज्ञानस्थानीय है। विचार राग में नहीं होता है, वो तो ज्ञानस्थानीय है और जो रागात्मक विकल्प है वो विकार के स्थान पर है, राग के स्थान पर है। उसमें ज्ञान नहीं है इसलिए उसका क्या विश्वास? विचार का ही विश्वास नहीं है, तो फिर उसका क्या विश्वास?

उनमें जमीन-आसमान का फर्क है। विकल्प की कोई कीमत नहीं है, वो तो उसके साथ-साथ चलता है। जैसे छाया चलती है, ऐसे चलता रहता है और इसको उसकी फिकर भी नहीं है। विकल्प आते हैं तो इसको उसकी चिन्ता भी नहीं है कि - 'देखो! इतने विकल्प आते हैं। मैं तो अनुभूति का प्रयत्न करता हूँ और विकल्प पीछा नहीं छोड़ते हैं।' तो ये इसको अन्तर से ऐसी घबराहट नहीं होती है, क्योंकि ये जानता है कि ये जो विकल्प है, तो अभी इसका जीवन है, लेकिन और ज्यादा लंबा जीवन नहीं है, थोड़े समय में ही मर जाने वाला है क्योंकि एक तरह से इसके प्राण तो निकल चुके हैं। मर जाने वाला है माने जो उसकी मूल शक्ति है वो तो क्षीण हो चुकी है और अब जो ये पड़ा है वो तो मृतक देह की तरह है, इसीलिए ये अभी करवटें तो लेगा लेकिन मेरे को इससे कोई हानि-लाभ नहीं है। अगर ये नहीं भी जाये न! तो मेरे को कोई तकलीफ नहीं है और ये जाता है तो भी मुझे कोई इसमें प्रसन्नता नहीं है।

विकल्प का अभाव हो गया! तो हो गया होगा, मेरे को थोड़े ही हुआ है। विकल्प आता है तो मेरे को थोड़े ही आता है। वो तो जिसको आता हो, उसके अभाव हो गया, उससे मुझे क्या? इतना भिन्न हो, क्योंकि यदि आत्मा की इतनी महिमा नहीं आवे तो फिर वो आत्मा फोकट का

थोड़े ही है। भाई! व्यवसाय में तो जाकर तो कमाई करे, पसीना बहावे और यहाँ जो है मुद्दत में मिल जाए तो उसकी इतनी महिमा तो हो तब वो प्राप्त होता है; और विधि में जरा भी फर्क नहीं होना चाहिए। स्वरूप जानने में जरा भी फर्क नहीं होना चाहिए; बिल्कुल बेमेल-अनमेल और अज्ञानी को तो यह है कि दुखी हूँ, संसारी हूँ – ऐसा उसने माना, तो उसने आत्मा से सुख को निकाल दिया। सुख का अभाव कर दिया। अज्ञानी हूँ, तो अज्ञानी कहकर ज्ञान को आत्मा में से बाहर निकाल दिया। तो ज्ञान आत्मा में से निकल गया। बोलो! आत्मा को अधूरा कर दिया।

अरे! आत्मा तो ज्ञान और सुख का बना हुआ है। वो कभी उसमें से जाने वाला है क्या? अब तूने उसको देखा ही नहीं, तू उसकी बात सुनना ही नहीं चाहता। उसकी बात आवे तो सभा में से उठकर चला जाए – ऐसे भी अज्ञानी होते हैं कि यहाँ तो वो ही आत्मा ही आत्मा की चर्चा है। ये नहीं कि कोई भगवान की पूजा, भगवान के भजन, भगवान की भक्ति, दया-दान और कुछ, ये तो बातें करते नहीं और बस वही आत्मा ही आत्मा की चर्चा.....तो वो तो भाग जाता है। माने अपना नाम और अपना यश सुनकर भाग जाता है – ऐसा मूरख है कि अपने ही यश को सुनकर भाग जाता है।

मुमुक्षु :– आत्मा की भूख किसे कहते हैं?

पूज्य बाबूजी :– यही जो पहले कहा! भूख में तो किवाड़ भी पापड़ हो जाते हैं। एकमात्र बस! अनेक रास्ते हैं ही नहीं। मुक्ति के अनेक रास्ते हों तो बहुत मुश्किल हो जायेगी न कि कौनसे रास्ते पर जाऊँ।

जैसे पूजने के लिए बहुत देवता होते हैं, तो वहाँ उसको सफलता नहीं मिलती। लेकिन एक देवता हो तो वो तो विश्वास लेकर चलता है कि इस देवता से काम बनेगा, तो उस देवता को याद किया अथवा उसको स्थापित कर दिया घर में और रोज पूजा की। अब काम बनता नहीं है तो उसको उखाड़ फेंकता है, फिर दूसरे देवता को ले आता है।

अब वो कहता है कि मैं तो आ ही रहा था, इतने में तूने उखाड़ के फेंक दिया, तो मैं वापस चला गया। अब दूसरे के साथ भी ऐसा ही, तीसरे के साथ भी ऐसा ही, तो तैंतीस करोड़ के साथ भी ऐसा ही होता है। यहाँ तो निश्चय-देवता भी एक है और व्यवहार देवता भी एक है। यहाँ दो का काम ही नहीं है।

ये जैनदर्शन है। यहाँ तो और का नाम ही नहीं है! अरहन्त और सिद्ध व्यवहार-देवता हैं और शुद्धात्मा निश्चय-देवता है, बस! अब और किसका नाम लो? और दूसरे के प्रति तो यहाँ कोई आदर का विकल्प ही नहीं है, क्योंकि वो ही सर्वोच्च है। उसके सामने किसका आदर? जो सर्वोत्कृष्ट है उसके सामने किसका आदर? कोहिनूर हीरा ही पास हो तो फिर और कौन सा जौहरी मेरे से बड़ा है?

जैसे जगत में अपने को भी होता है कि....खूब पैसा होता है, खूब सामग्री होती है तो अपने भीतर ही भीतर महानता का गौरव नहीं होता क्या? भले बाहर से कहे कि मैं तो आपका सेवक हूँ, दास हूँ - ऐसा हाथ जोड़ता फिरे। तो दुनिया समझे कि बहुत नम्र है, लेकिन भीतर से जो गर्मी है उसको तो वो ही जानता है, भले वो कितना ही विनम्र दिखाई दे, लेकिन भीतर से अहम् रहता है। बहुत अहम् रहता है, क्योंकि अज्ञानी को अहम् हुए बिना रहेगा ही नहीं। उसको ज्ञान का ही अहम् होगा। 11 अंग 9 पूर्व का क्षयोपशम हो, तो भी वो परिग्रह है। वो ज्ञान नहीं है, वो परिग्रह है। वो किसी मतलब का नहीं है, क्योंकि वो तो जैसे रामायण है तो उसमें तो एक राम ही मुख्य हैं, बाकी शेष जो कथायें है, वो अपने काम की हैं क्या?

इसी तरह द्वादशांग में तो शुद्धात्मा काम का है। अब वो 11 अंग 9 पूर्व पढ़ लिए तो ये तो सब आसपास की चीज़ें हैं। राम तो आया ही नहीं क्योंकि उसका बोध ही नहीं है।

मुमुक्षु :- बाबूजी! आज बराबर पता चला कि सहज भी क्यों है

और difficult (मुश्किल) भी क्यों है ? दोनों बात बराबर स्पष्टरूप से आ गईं।

पूज्य बाबूजी :– दूसरी जगह अटका होगा तो difficult (मुश्किल) ही है। व्यसनी है न जैसे। तो व्यसनी को कोई भी बात कहें कि – भाई ! ये चीज अच्छी है क्या ? ये जो तू पीता है या खाता है, तो ये अच्छी है क्या ? तो कहे कि अच्छी तो नहीं हैं। फिर क्यों ? कि मेरे से छूटता नहीं है। मैं लाचार हूँ, छूटता नहीं है। ऐसे कहने वाले लाखों लोग मिलेंगे।

व्यसन ऐसा होता है, इसको तो जगत का व्यसन हो गया है। जगत के साथ ममत्व का, राग के साथ, द्वेष के साथ – व्यसन हो गया है। तो व्यसन को तोड़ने लिए बहुत जबरदस्त पुरुषार्थ चाहिए। उसको ये भय हो कि इसमें मेरी जिन्दगी जाने वाली है, ऐसा भय उसको यदि बैठ जाए तो फिर छोड़ने में देर नहीं लगेगी।

जैसे – किसी को heart (दिल का रोग) हो गया, अब डॉक्टर के पास गया। तो डॉक्टर कहे कि आज से ये सब बन्द है। बोल क्या कहता है ? कि जी डॉक्टर साहब, जरूर बन्द करूँगा और वैसे ही कितने ही उपदेश मिले लेकिन एक भी नहीं मानी कि मेरे से छूटता नहीं है। अब कैसे छूट गया ? क्योंकि जिन्दगी का प्रश्न पैदा हो गया है।

तो जीवन-मरण का प्रश्न है – ऐसा समझे। वो पर्याय का विचार और शुद्धतत्त्व की श्रद्धा – ये जीवन-मरण का प्रश्न है। दोनों में जमीन-आसमान का फर्क है – एक जीवन है और एक मौत है।

माने अब वो past tense (भूतकाल) हो चुका है। वो बात पुरानी पड़ गई। वो जान लिया बस ठीक है और क्या है ? कि ऐसे-ऐसे दुष्कर्म किए थे....जान लिया बस कि हुआ होगा !

मोह भी जानता है कि इसको पछाड़ने के लिए अभी मेरे पास बहुत मौका है। शुद्ध पर्याय में पछाड़ दूँगा, गुणों के चिंतन में पछाड़ दूँगा, अभी तो बहुत मौका है मेरे पास, ये तो अभी बहुत दूर है। ❖❖❖

बाबू जुगलकिशोर जैन 'युगल'

जन्म : 5 अप्रैल, 1924
खुरी, जिला - कोटा (राज.)

देहपरिवर्तन : 30 सितम्बर, 2015

शिक्षा : एम.ए., साहित्यरत्न

पता : 85, चैतन्य विहार, आर्य समाज स्ट्रीट,
रामपुरा, कोटा (राज.) 324006

ख्यातिप्राप्त दार्शनिक विद्वान बाबू जुगलकिशोर 'युगल' को प्रसिद्ध देव-शास्त्र-गुरु पूजा एवं सिद्ध पूजा लिखने के कारण समाज में वही स्थान प्राप्त है, जो हिन्दी साहित्य में 'उसने कहा था' कहानी के लेखक पण्डित चन्द्रधर शर्मा 'गुलेरी' को। 'युगलजी' उच्चकोटि के कवि, लेखक एवं ओजस्वी वक्ता हैं।

15 वर्ष की अल्पवय में ही आप में काव्य-प्रसून अंकुरित होने लगे थे। तब राष्ट्रीय चेतना एवं स्वतंत्रता-संग्राम का युग था। युग के प्रवाह में आपकी काव्यधारा राष्ट्रीय रचनाओं से प्रारम्भ हुई। पारम्परिक धार्मिक संस्कार तो आप में बचपन से ही थे, किन्तु उन्हें सम्यक् दिशा मिली इस युग में आध्यात्मिक क्रान्ति स्रष्टा श्री कानजीस्वामी से।

स्वयं श्री 'युगलजी' के शब्दों में - 'गुरुदेव से ही मुझे जीवन एवं जीवनपथ मिला है।' युगलजी दर्शन को जीवन का समग्र स्वरूप मानते हैं और दर्शन की सर्वांग क्रियान्विति चैतन्य के साक्षात्कार में स्थापित करते हैं-

जो चेतन के भीतर झाँका, उसने जीवन देखा
बाकी ने तो खींची रे ! परितप्त तटों पर रेखा

जनमानस में जैनदर्शन का साधारणीकरण आपके काव्य का मूल लक्ष्य है।

आप सफल गद्य एवं नाट्य-लेखक भी हैं। आपके साहित्य कोष से लोकोत्तर रचनाओं में काव्य संग्रह ''चैतन्य वाटिका'' एवं गद्यविधा ''चैतन्य विहार'' में साहित्य व अध्यात्म के समावेश से जैन जगत को नया आयाम मिला है।

युगलजी अखिल भारतीय स्तर के प्रवचनकार हैं और उनकी उपस्थिति धार्मिक आयोजनों का महत्त्वपूर्ण आकर्षण मानी जाती है।

''हे विश्व कवि मैं तुमको क्या अर्पण कर दूं
मेरी क्या हस्ती है, जो तुमको तर्पण कर दूं
तुम हो सूर्य गगन के, मैं कण माटी का
तुम ही सागर ज्ञान सिन्धु, मैं एक बिन्दु सा''